

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

पञ्चाध्यायी प्रवचन

त्रयोदश, चतुर्दश व पंचदश भाग

प्रवक्ता:

अध्यात्मयोगी सिद्धान्तन्यायसाहित्य शास्त्री, न्यायतीर्थ

पूज्य श्री गुरुवर्य मनोहर जी वर्णी

“श्रीमत्सहजानन्द महाराज”

प्रकाशक:

खेमचन्द जैन सराफ,

मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

१८५ ऐं, रणजीतपुरी, सदर मेरठ (उत्तर प्रदेश)

स्वाध्यायार्थी बन्धु, मन्दिर एवं लाइब्रेरियोंको

भारतवर्षीय वर्णी जैनसाहित्य मन्दिरकी ओरसे अर्धमूल्यमें ।



अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री शान्तमूर्ति पूज्य श्री मनोहरजी वर्मा
“सहजानन्द” महाराज द्वारा रचित

हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम । ज्ञाता द्रष्टा आत्मराम ॥१॥

अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहं रागवितान ।
मैं वह हूँ जो हैं भगवान, जो मैं हूँ वह हैं भगवान ॥१॥

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधाम ।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अज्ञान ॥२॥

खि दुःख दाता कोइ न आन, मोह राग दुःख की खान ।
सुनजको निज परको पर जान, फिर दुःखका नहिं लेश निदान ॥३॥

जिन शिव ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।
राग त्यागि पहुंचूं निज धाम, आकुलताका फिर क्या काम ॥४॥

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम ।
दूर हटो परकृत परिणाम, ‘सहजानन्द’ रहूं अभिराम ॥५॥

.....

[धर्मप्रेमी बंधुओ ! इस आत्मकीर्तनका निम्नांकित अवसरों पर निम्नांकित पद्धतियों में भारतमें अनेक स्थानोंपर पाठ किया जाता है । आप भी इसी प्रकार पाठ कीजिए]

१—शास्त्रसभाके अनन्तर या दो शास्त्रोंके बीचमें श्रोताओं द्वारा सामूहिक रूपमें ।

२—जाप, सामायिक, प्रतिक्रमणके अवसरपर ।

३—पाठशाला, शिक्षासदन, विद्यालय लगनेके समय छात्रों द्वारा ।

४—सूर्योदयसे एक घंटा पूर्व परिवारमें एकत्रित बालक, बालिका, महिला तथा पुरुषों द्वारा ।

५—किसी भी आपत्तिके समय या अन्य समय शान्तिके अर्थ स्वरुचिके अनुसार किसी अर्थ,

चौपाई या पूर्ण छंदका पाठ शान्तिप्रेमी बंधुओं द्वारा ।



पंचाध्यायी प्रवचन पञ्चदश भाग

प्रवक्ता—ग्रन्थात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ शु० मनोहर श्री बर्यौ
“सहजानन्द” महाराज

अस्ति यत्पुनरज्ञानरथादीदयिकं स्मृतम् ।

तदस्ति शून्यतारूपं यथा निश्चेतनं वपुः ॥१०२३॥

श्रीदयिक अज्ञानकी मुद्रा—श्रीदयिक भाव २१ बताये गए हैं । उनमें एक भाव अज्ञान भी कहा है तो वह श्रीदयिक अज्ञान क्या है कि जो ज्ञानावरणकर्मके उदयसे ज्ञान प्रकट नहीं हो रहा । ज्ञानकी शून्यता रूप है, ऐसा जो ज्ञानका अभाव है उसको कहेंगे श्रीदयिक अज्ञान । उसे यों समझिये कि जैसे मुर्दा शरीर याने उस अज्ञानमें ज्ञानका लवलेष नहीं । ज्ञानावरण-कर्मके उदयसे जो ज्ञानका अभाव है, ज्ञानाभाव हुआ है वह तो जीव है, ज्ञानका अभाव है । जो ज्ञान बन रहा उसे नहीं कहा है श्रीदयिक । वह तो एक निश्चेतन शरीरकी तरह है, कुछ नहीं है और उसे यों समझ लीजिए—हर जगह केवलज्ञान उत्पन्न होनेसे पहिले याने प्रथम गुणस्थानसे १२ वें गुणस्थान तक श्रीदयिक अज्ञान होता है । वह ज्ञान प्रकट नहीं हुआ यही अज्ञानभाव है और जो अनेक संसारी जीव हैं, जिनके अवधिज्ञान और मनःपर्यंज्ञान बिल्कुल नहीं है उनके अवधिज्ञानावरणका और मनःपर्यंज्ञानावरणका डटकर उदय है ना तो उस उदयमें होने वाला जो ज्ञानका अभाव है उसको कहते हैं श्रीदयिक अज्ञान । इसी प्रकार मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेपर जितने अंशोंमें ज्ञान है वह तो क्षायोपशमिक है और जिसके ज्ञानकी लब्धि भी नहीं है, ऐसा जीरो, शून्यतारूप ज्ञानका अभावरूप जो अज्ञान है वह है श्रीदयिक । तो क्षायोपशमिक अज्ञानके मायने हैं कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान, कुअवधिज्ञान और श्रीदयिक अज्ञानके मायने हैं ज्ञानका अभाव ।

एतावतास्ति यो भावो दृग्मोहस्योदयादपि ।

पाकाच्चारित्रमोहस्य सर्वोप्यौदयिकः स हि ॥१०२४॥

न्यायादप्येवमन्येषां मोहादिघातिकर्मणाम् ।

भावास्तत्रोदयाज्जातो भावोस्त्यौदयिकोऽखिलः ॥१०२५॥

तत्राप्यस्ति विवेकोऽयं श्रेयानवोदितो यथा ।

वैकृतो मोहजो भावः शेषः सर्वोऽपि लौकिकः ॥१०२६॥

वैकृत औदयिक भाव व लौकिक औदयिक भावका विवेचन—इस समस्त कथनका सारांश क्या हुआ कि देखो—दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे कोई भाव होता है। कौनसा भाव होता है? मिथ्यात्व। और चारित्रमोहके उदयसे कोई भाव होता है, कौनसा भाव होता है? असंयम। तो दर्शनमोह और चारित्रमोहके उदयसे होने वाले भावको औदयिक भाव कहते हैं और इसको भी तो औदयिक कहते हैं। जा ज्ञानावरण कर्मके उदयसे ज्ञानका अभाव बना वह भी तो औदयिक है। तो अब देखो ना, दो प्रकारके औदयिक भाव हो गए—एक मोहनीय कर्मके उदयसे होने वाला और एक अन्य कर्मके उदयसे होने वाला। लेकिन इन दोनों औदयिक भावोंमें जाननहार औदयिक भाव तो मिथ्यात्व और असंयम है। शेष औदयिक भाव यह लोक है, क्या मतलब कि मोहकर्मके उदयसे होने वाला औदयिक भाव बंधका कारण है, संसार बढ़ाने वाला है, दुःखका हेतुभूत है, किन्तु अन्य जो औदयिक भाव हैं जैसे ज्ञानका अभावरूप अज्ञानभाव या गति असिद्धत्व, ये सब भाव बंधके कारण नहीं हैं। इस कारणसे मोह आदिक दर्शनमोह और चारित्रमोह, इनके उदयसे होने वाला औदयिक भाव है प्रथम नम्बरका एक प्रबल अहितकारी दुःखदायी भाव। जैसे लोग गुंडोंमें छंटनी करते हैं कि यह अक्वल नम्बरका गुंडा है, यह दो नम्बरका और यह तीसरे नम्बरका गुंडा है। इसी प्रकार अक्वल नम्बरका अहितकारी है मिथ्यात्व और असंयमका भाव। तीन घातिया कर्मोंके उदयसे होने वाला जो औदयिक भाव है वह है दो नम्बरका अहितकारी भाव। वह बंधका कारण नहीं है, मगर गुण घात कर रहा है। तो तीसरे नम्बरका औदयिक भाव समझ लीजिए नामकर्म आदिकके उदय से होने वाला उदयाभाव। तो इनमें मुख्यता किसकी रही? दुःख देनेमें, संसारसंकट बढ़ानेमें मुख्यता रही मिथ्यात्व और असंयमकी। इसी बातका वर्णन यहाँ चल रहा है कि विवेक कर लो कि जो विकृत मोहजो भाव है मोह और असंयम वह तो है बड़ा अहितकारी क्षयोपशमरूप और शेष जो भाव हैं वे लौकिक भाव हैं।

स यथाऽनादिसंतानात् कर्मणोऽच्छिन्नधारया ।

चारित्रस्य दशश्च स्थान्मोहस्यास्त्युदयाच्चितः ॥१०२७॥

मोहोदयमें ज्ञानकी विपरीतता—औदयिक भावके प्रकरणमें यह बात बतायी जा रही है कि कर्मोंका उदय होनेपर अनेक भाव उत्पन्न होते हैं, किन्तु उन सब औदयिक भावोंमें प्रधान अहितकारी औदयिक भाव है मिथ्यात्व, मोह। दर्शनमोहका उदय होनेपर जो भाव बनते हैं जीवके उसको मोह कहते हैं। दृष्टिमोह। सच्ची बात न देख सके ऐसा पागलपन छा जाना, यह है औदयिक भाव। यह औदयिक भाव तो अश्रेयकर है। और अज्ञान आदिक औदयिक भाव लगे हैं। ज.ब.ता घात करे वाला, जीव तो बरबादीमें ढकेलने वाला भाव है

यह मोह और असंयम, यह औदयिक भाव । जैसा है वैसा न मान सकना, उल्टा मानना, इसको तो लोग भला नहीं कहते । हो कुछ और जानते हों कुछ, जानते हों उल्टा, तो उसे कोई पसंद नहीं करता । उल्टा जानने वाले भी यह पसंद नहीं करते कि मैं उल्टा जानूँ और न समझकर कोई उल्टा जान सकता है । यदि वह समझ रहा है कि वस्तु ऐसी है और फिर उससे उल्टा जानना चाहे तो नहीं जान सकता । यदि वस्तुकी सही समझ नहीं है तो वह उल्टा जानेगा । जैसे कमरेके कोनेमें रस्सी पड़ी है, उसे देखकर यह समझमें आया कि यह साँप है तो वह आकुलित होता है, भयभीत होता है । यदि हिम्मत बनाकर उसको देख ले, उठाकर समझ ले कि यह तो रस्सी है, साँप नहीं है, ऐसा भली प्रकार जिसे ज्ञान हो जाय और फिर कोई कहे कि जरा वैसा ही ज्ञान तो कर लो जैसा भ्रममें पहिले किए हुए थे । रस्सीको साँप जाननेका जो भ्रम था, जो उल्टी जानकारी चल रही थी ऐसा जान तो लो वह जान ही नहीं सकता । आप कहें—अच्छा हम तुमको ५००) रु० इनामके देते हैं, तुम वैसा ही जानने लगे जैसा पहिले उल्टा जानते थे तो वह जान लेगा क्या ? ज्ञानमें जब बात यथार्थ आ गई तो अब उल्टा कैसे ज्ञान करे ?

मोहविलय होनेपर स्वातन्त्र्यका लाभ—मोही जीवको अचरज होता है महापुरुषोंके चरित्र सुनकर कि वे क्यों विरक्त हो गये ? लो कल तो शादी हुई थी और आज साधु बन गए । भवदेव और भावदेवका कथानक है कि भवदेव तो हो गए मुनि और उनका छोटा भाई भावदेव शादी होकर घर आया तो प्रतिदिन आहारदानका नियम रहता था । रोज-रोज शुद्ध भोजन बनता ही था । दूसरे दिन भवदेव मुनि आ गए, उनको पड़गाहा, आहार दिया और पहुंचाने चले कमण्डल लेकर तो भवदेव कुछ न बोले, लौट जावो यह भी न कहा । दो-तीन मील तक चले गए, तो कहां चले गए जहां एक बड़ा मुनिसंघ था । लोगोंको परिचय हुआ कि यह भवदेव इन मुनि महाराजके छोटे भाई थे । बड़े ज्ञान वैराग्यका वातावरण था । अब भवदेवको वहांसे लौटनेमें झिझक हुई । कहां तो इस मुनिसंघमें मेरा भाई मुख्य है, सब लोग जिसे प्रणाम करें, जिसकी आज्ञामें रहें और मैं साथ छोड़कर घर लौटूं तो यह बड़े लज्जाकी बात है । कुछ यह भाव बना, कुछ वैराग्यका भाव बना सो वह भी वहीं मुनि हो गया । तो लोगोंको (मोहियोंको) अचरज होगा कि कैसे हो गया यह ? और हो जानेपर फिर अभी अज्ञान आयगा नहीं, इस स्थितिपर और आश्चर्य होता है । तो मोह जहां गल गया वहां असली आजादी मिल गई । लोग यहाँ देशकी आजादीको ही आजादी समझते हैं, पर इसमें कहाँ आजादी ? यदि आत्मा आजाद हो, मोहरहित होकर निज इन्द्रियरूपको लख-लखकर तुम रहे, किसीके बंधनमें न हो, स्वतंत्र एक ज्ञानविलासका धनी बन जाय, आजाद तो उसे कहेंगे । तो यह वास्तविक आजादी मिलती है मोहका विनाश होनेपर ।

मोहदिन शब्द उपाय वस्तुः रूपं ता यथार्थं परिचय—मोहका विनाश कैसे होता ? लोगोंने अपना-अपना रास्ता निकाला है कि मेरा मोह नष्ट हो जाय । किसीने सोचा कि ऐसा सोच लें कि जगतमें मेरा कुछ नहीं है, सब ईश्वरका है । तो उसका मोह मिट जायगा । मोह मेटनेकी तरकीब प्रायः बहुतोंने सोच रखी । कोई सोचता है कि जिसके मोह पैदा होता है उससे बुराई लेनी होगी तो दिल फट जायगा तो मोह मिट जायगा । सोचा सभीने मोह मेटनेका उपाय, लेकिन एक वास्तविक उपाय जो कभी फेल न हो सके और जो प्रारम्भसे अन्त तक निर्मोहताका निभाव कर सके वह उपाय है वस्तुकी स्वतंत्र सत्ताका परिचय करना अणु-अणुमें प्रत्येक जीव स्वयं अपने आपमें पूर्ण है, अपने आपमें अपना उत्पादव्ययध्रौव्य करता है, प्रत्येक पदार्थ त्रिगुणात्मक है । किसी भी एक पदार्थका किसी दूसरे पदार्थके साथ गुणका, पर्यायका, शक्तिका, कर्तृत्वका कोई सम्बन्ध नहीं है, स्वतंत्र सत् है । ऐसा वस्तुके स्वरूपमें जो प्रवेश कर गया हो उसको मोह नहीं प्रकट होता । मोहमें क्या होता है आकर्षण ? यह मेरा है, मैं इसका हूं । जहाँ वस्तुस्वरूप ठीक समझमें आया, जानकारी बनी, कुछ भी किसीका नहीं होता, सब अपने सहारे हैं, सम्बन्ध ही नहीं । घरमें रहने वाले १०-५ लोग ठीक उसी तरह निराले हैं जैसे जगतमें और जीव निराले हैं । जहाँ वस्तुस्वरूपका भली भाँति सही परिचय हो जाता है वहाँ मोह नहीं रहता । मोह न रहे तो उसे आकुलता नहीं है । नारकी जीव भी निर्मोह है तो वह भला है और देवगतिका जीव मोहवान है तो वह भला नहीं है । एक बात और सिद्धान्तसे समझना होगा कि नारकी जीव मरकर तुरन्त नरक में नहीं जाता है । वह मनुष्य होगा या तिर्यञ्च बनेगा । बादमें चाहे नरक जाय, पर नरकसे निराला हुआ जीव नरकमें तुरन्त नहीं पहुंचता । वहाँ इतने दुःख हैं, इतने क्लेश हैं कि जिन क्लेशोंको सहा और सहकर पापकर्म निकाला, अब उतने पापकर्म गाँठमें नहीं रहे तो नरकमें न जायगा । एक बार मनुष्य बनेगा या पशु-पक्षी बनेगा । तो नरकगतिमें रहने वाला जीव रहता तो निरन्तर कष्टमें है, लेकिन सम्पत्त्वका उदय जिस नारकीके हो, वस्तुस्वरूपका परिचय जिसे हो गया हो, जो निर्मोह हो गया है वह भीतरमें अनाकुल रहता है, मगर शारीरिक दुःखको सहन न कर सकनेसे दुःखी भी रहता है । ऐसा नारकी जीव तो भला है, मगर भोगोंमें आसक्त रहने वाला मोही मनुष्य अथवा पशु भी भले नहीं हैं ।

मोहमें उन्नतिका अनुपाय—मोह प्राणियोंकी उन्नतिका उपाय नहीं है । मोह एक ऐसी बला है । जिस मोहने इतना परेश न करेगा उस मोहको यह प्राणी छोड़ना नहीं चाहता । यह भूल कहलाती है भूलको सही माननेकी भूल । भूल हो जाना उतनी बुरी बात नहीं है जितनी कि भूलको सही मानना बड़ी भारी भूलकी बात है । भूल करने वाला भूलको मिटा नहीं सकता । इसीके मायने हैं मोह मिथ्यात्व । उल्टा रास्ता चल रहे हैं और मान रहे

हैं कि हम बिल्कुल सीधा चल रहे तो वह तेज चलता जायगा, वह भटक जायगा। तो मोहमें इस जीवको अपना स्वरूप नहीं नजर आता और जो पर्याय पायी, जो देह पाया उसे माना कि यह ही मैं हूं। मोहका उदय है, रागकी प्रेरणा है, शरीर रुच रहा है, बहुत ठीक, बहुत सुन्दर, बहुत सबल हूं उसका मान हो, उसका अपमान हो, कितने ही प्रकारकी वेदनायें यह जीव इस शरीर व्यामोहके कारण ले लेता है।

ज्ञायकस्वरूप परमब्रह्मकी भांकी पा लेनेके पौरुषका अनुरोध—भैया ! इस जीवनमें एक बार भी तो भूलकमें शुद्ध अविकार ज्ञायकस्वरूप कारणसमयसार परमब्रह्मकी भांकी लो। जब यहाँ देखते हैं कि दसों काम किया, नफा न मिला तो ११वाँ काम कर लिया, उसमें भी नफा न मिला तो १२वाँ काम कर लिया। वहाँ तो ऊबते नहीं हैं, अरे जब आप हजारों लाखों कामोंमें भी सफल न हुए तो जरा एक यह रोज़गार करके देख लो—सबसे चित्त हटाना, किसीमें मोह न रखना, अकिञ्चन समझकर, मेरा कहीं कुछ नहीं है, कहाँ चित्त दें ? अपने उपयोगको आराममें रखें, क्लियर करें, कुछ मत सोचें, वहाँ अपने आप ही इस ज्ञानस्वरूप ब्रह्मकी भूलक बनेगी, क्योंकि यह स्वयं ज्ञानस्वरूप है। और उस अनुभूतिके बाद फिर विदित होगा कि सार है तो यह, आनन्द है तो यह, और उसका प्रोग्राम है तो यह ? इसके अतिरिक्त मुझे किसीसे कुछ न चाहिए। क्यों चाहूं ? जो परभवमें पूर्वभवमें परिजन मिले वे अब कहाँ साथ हैं ? जो वैभव था वह कहाँ है आज ? उसमें सार क्या निकलेगा ? और आज जो कुछ मिला है उसमें भी क्या सार निकलेगा ? ज्ञानी पुरुष किसी भी चमत्कारमें मुग्ध नहीं होता। उसकी तो केवल एक धुन है। निज अन्तस्तत्त्वको पहिचानूं और उसमें रम लूं। अलौकिक विधानको मोही जन समझ नहीं पाते। तो मोह है सो ही वास्तवमें औदयिक भाव है बाकी और भाव तो मोहके पिछलग्नू हैं। एक बड़े ऐबके साथ जैसे छोटे ऐब भी भर जाते हैं। ऐसे ही एक मोह भावके साथ अनेक और भी अवगुण जीवमें घर कर जाते हैं। तो यह भाव विकृतभाव है, दर्शनमोह और चारित्रमोहके उदयसे होने वाला है, जिसे मिथ्यात्व और संयम शब्दसे कहा गया है। सो यह औदयिक भाव इस जीवके अनादिकालसे परम्परया चलता जाता है। इन दोनों कर्मोंके उदयसे अथवा एक मोहनीय कर्मके उदयसे जो जीवकी विकार अवस्था हो रही है वस्तुतः यही एक विकट औदयिक भाव है।

तत्रोल्लेखो यथासूत्रं दृढमोहस्योदये सति ।

तत्त्वस्याप्रतिपत्तिर्वा मिथ्यापत्तिः शरीरिणाम् ॥१०२८॥

मिथ्यात्वका प्रासङ्गिक वर्णन—अब उस मिथ्यात्वका और उस दर्शनमोहके उदयका आर्षपरम्पराके अनुसार और जो युक्ति स्वातुभवसे भी सही उतरे उस युक्तिसे उल्लेख किया

जा रहा है। दर्शनमोहका उदय होनेपर जीवके तत्त्वमें प्रतीति नहीं होती। जैसे पीलिया रोग हो जाने पर मनुष्य तो सफेद वस्तु भी सफेद नहीं दिख सकती। उसे सब कुछ पीला दीखता है। कहीं गुञ्जाइश नहीं कि सफेदका सफेद दिख जाय। ऐसे ही जिसके मोहका उदय है वह जीव तत्त्वकी यथार्थ प्रतीति नहीं कर सकता। विपरीत बुद्धि हो जाती है। जीवका अहित करने वाले हैं ये विषय और कषाय और उनका पोषण वाला है यह मोहभाव। जैसे वृक्ष खड़ा है, डाली हरी, पत्ते हरे, फल हरे, फूल हरे, तो ये सब किस बलपर हरे हैं? अरे ये उस पेड़ की जड़के बलपर हरे हैं। जब तक उस पेड़की जड़ पुष्ट है, जब तक उसे आहार मिल रहा है तब तक पत्ते भी हरे हो रहे, फूल भी इतरा रहें, फल भी अपना गर्व बगरा रहे, तो ऐ वृक्ष, खूब इतरा लो, लेकिन यह इतराना तुम्हारा कब तक है, जब तक कि तुम्हारी जड़ मजबूत है। कदाचित् वह जड़ गल जाय, टूट जाय या किसीके द्वारा काट दी जाय तो फिर कब तक वृक्ष हरा-भरा बना रहेगा? मान लो वृक्षके गिर पड़नेपर भी कुछ दिन वह वृक्ष हरा-भरा रहता है, मगर कब तक हरा-भरा रह सकेगा? कुछ समय बाद तो अवश्य ही वह सूख जायगा। ठीक ऐसे ही असंयम रागद्वेष विचार-वितर्क कल्पना आदि ये इस जीवमें कब तक हरे-भरे बन रहे हैं, गर्विले बन रहे हैं जब तक कि इसकी मोहजड़ पुष्ट है। कदाचित् कोई भव्य पुरुष मोहको निर्मूल उखाड़ दे तो भले ही कुछ समय तक रागद्वेष दिखेंगे, मगर कब तक रहेंगे? ये कुछ ही काल बाद मिट जायेंगे। यदि अपने इस दुर्लभ मानव-जीवनको सफल करना है तो सबसे बड़ा पुरुषार्थ यह करना है कि एक ऐसा दृढ़ संकल्प कर लें कि मुझे तो इस मोहको उखाड़ फेंकना है और वर्तमानमें ही उखाड़ फेंकना है। उसका कोई हमें लम्बा प्रोग्राम नहीं रखना है कि इतने वर्ष तक हम अपनी व्यवस्था बना लें, इतने वर्ष बाद हम मोह को दूर करेंगे। अरे आज मोहका भूत सवार है तब फिर कुछ वर्षों बाद सुध लेनेका मौका कहाँसे देगा? आज मोहसे निपट लें तो निपट लेनेपर आगेका समय रखकर कोई मोहसे निपट नहीं सकता। आखिर सुखी ही तो होना है। आजसे तुम सुखी होनेका प्रोग्राम नहीं चाहते क्या? यह चाहिए कि मैं २, ४, ६ वर्ष पहिले खूब दुःखी हो लूँ फिर सुख भोगूंगा? अरे ऐसा तो कोई नहीं सोचता। निर्मोह होना वास्तविक सुखी होनेका प्रोग्राम है। रागद्वेषको दूर करनेकी बात अभी नहीं कह रहे। इसमें न घर छोड़नेकी बात है, न व्यापार छोड़नेकी बात है, किन्तु तथ्य समझ लें कि अणु-अणु प्रत्येक जीव मेरा इस देहका भी रंग-रंग, कण-कण तब मेरेसे जुदा है। मैं तो अखण्ड एक ज्ञायकस्वरूप हूँ, ऐसी श्रद्धा बनावें, ऐसी धुन बनावें तो मोह छूट जायगा। मोह मिटेगा तो संसारके संकट निकटकालमें ही नष्ट हो जायेंगे। सारी विडम्बना तो इस मोह मिथ्यात्व भावसे है। यहाँ वर्णन क्या करना है, इस मिथ्यात्वका सारांश रूपमें वर्णन करना है। क्या वर्णन करना है कि सम्यग्दर्शनकी ऐसी विपरीत अवस्था होती है

कि आत्माके प्रदेशमें कलुषता जग जाती ।

सम्यक्त्व और मिथ्यात्वके लक्षणकी अनिर्वचनीयता होनेपर भी संकेतोसे उनका परिचय—देखो एक दिन बताया था कि मोहके मिटनेसे आत्मामें जो एक स्वच्छता प्रकट होती है उस स्वच्छताका सही स्वरूप बतानेके लिए कोई वचन नहीं है, ऐसा ही यहाँ भी समझ लीजिए कि मिथ्यात्वका जो वास्तविक स्वरूप है उसको बतानेके लिए भी कोई वचन नहीं है । जैसे स्वच्छताका दिग्दर्शन करानेके लिए हम अन्य गुणकी पर्यायोंका वर्णन करनेका प्रयत्न करते हैं इसी प्रकार मिथ्यात्वकी सभी दशायें बतानेके लिए हम अन्य गुणके विपरीत परिणमन की बात कहनेका प्रयास किया करते हैं । जैसे लोग कहते कि शरीरको आत्मा मानना मोह है, पर बात यह है कि इस शरीरको आत्मा मानना तो खोटा, विपरीत ज्ञान है । मोह क्या ? तो इसमें यह प्रकट किया है कि जिस कलुषताके होनेपर यह जीव शरीरको आत्मा मानता है उसके मायने हैं मिथ्यात्व, मोह । यह भी कितना दुर्गम्य है कि कोई साधु संन्यासी इतना समताभाव रखता हो कि कोई दुश्मन उसे कोल्हूमें पेल रहा हो और वहाँ दुश्मनसे बैर न करे, उसको बुरा न सोचे, उसपर क्रोध न लावे, इतनी समता हो गई हो किसी पुरुषके और फिर भी उसके मोह ममत्व भीतर बना रह सकता है । तो दर्शनमोहके उदयमें होने वाली कलुषताका आप क्या बयान कर सकते हैं ? केवल ऊगरी कार्य देखकर हम कलुषताकी बात बताते हैं कि इसके है मिथ्यात्व, क्योंकि यह इतना राग कर रहा, यह शरीरमें इतना आसक्त हो रहा, अनुमानतः बताते हैं । पर कलुषता एक ऐसी भीतरमें है कि जिसके होनेपर सारी बातें आँधी चला करती हैं । जैसे रसोईघरमें एक डेगची आँधी घर दें तो उसपर बाकी सब डेगची आँधी ही धरी जा सकती हैं, उसपर सीधी डेगची नहीं धरी जा सकती, ऐसे ही दर्शनमोहके उदयमें जीवमें कलुषता उत्पन्न हुई है, उसकी बुद्धि विपरीत, श्रद्धान् विपरीत और उसकी परिणति विपरीत, तो अब उसकी सारी बातें विपरीत ही विपरीत होती जायेंगी । जहाँ इन्द्रिय और विषयोंके प्रति प्रीति है, आसक्ति है वहाँ सारी वृत्तियाँ उल्टी होंगी, सारा ज्ञान उल्टा होगा । ज्ञान तो सही यह था कि अपनी-अपनी सत्तामें निष्ठ पदार्थोंको उतना ही उतना स्वतंत्र निरखना, लेकिन ऐसा ज्ञान नहीं कर पाता और जानते हैं कि हमने ऐसा किया, इसने मुझे दुःखी किया, इसने मुझे सुखी किया, यों कर्तृत्वकी बात चित्तमें छापी रहती है । मैं कर सकता हूँ, मैं अमुक चीजका परिणमन बना सकता हूँ—इस प्रकारकी विपरीत बुद्धि छा जाती है । वहाँ यह बोध नहीं हो पाता कि प्रत्येक वस्तु स्वयं परिणमनशील है, सो इस नाते वह प्रतिसमय परिणमती रहती है । किसीका परिणमन मैं नहीं बना पाता । रही एक विपरीत परिणमनकी बात, तो निमित्तनैमित्तिक योग है, पर परिणमाने वाला मैं नहीं हूँ । तो जहाँ चित्तमें कलुषता होती है वहाँ ज्ञान भी उल्टा रहता है, श्रद्धा भी उल्टी रहती है । कोई सम-

भाये—अजी तुम किसीका कुछ नहीं कर सकते हो। क्यों विपरीत ख्याल करके आकुलित होते हो? श्रद्धा नहीं बन पाती कि हाँ मैं किसी बाह्य पदार्थका कुछ परिणामन नहीं कर सकता। वस्तु पूर्ण है, प्रत्येक वस्तु पूर्ण है। और उस पूर्णमें से प्रतिसमय जो भी दशा बनती है वह भी पूर्ण है और पूर्णमें से ऐसा पूर्ण प्रतिसमय निकलता रहता है, फिर भी वस्तु पूर्ण की पूर्ण ही रहती है। वस्तुकी ऐसी स्वतंत्रताको श्रद्धा नहीं रह सकती। तो दर्शनमोहके उदय में होने वाली कलुषताका बयान भी नहीं किया जा सकता। जैसे कि सम्यक्त्वके स्वरूपका बयान नहीं किया जा सकता। एक दृढ़ परिणामन है, सम्यक्त्व गुणका तो एक अशुद्ध परिणामन है।

अर्थादात्मप्रदेशेषु कालुष्यं दृग्विपर्ययात् ।

तत्स्यात्परिणतिमात्रं मिथ्याजात्यनतिक्रमात् ॥१०२६॥

दृग्विपर्यय होनेसे आत्मप्रदेशोंमें मिथ्यात्व कालुष्यका जमाव—यथार्थदृष्टिके विपरीत दृष्टि बन जानेपर आत्माके समस्त प्रदेशोंमें कलुषता उत्पन्न हो जाती है। आत्मा उपयोग स्वरूप है, उपयोगमात्र है, उपयोग लक्षण वाला है। तो यह जीव उपयोग ही तो करेगा, दृष्टि ही तो बनायगा। इसको समस्त क्रियाओंका मूल दृष्टि है। जैसे नाव चल रही हो तो वह नाव किस ओर चल पड़े, किस ओर मुड़ जाय—यह सब नाव खेने वालेके हाथमें नहीं है। खेने वालेके हाथ तो केवल नावका चलाना है। पर नावके पीछे जो कर्णधार करिया लेकर बैठता है उसके हाथ बात है कि वह नावको किस ओर ले जाय। ऐसे ही चलना, प्रवृत्ति होना, चेष्टाये होना, जानना, पढ़ना ये सब चारित्र्यमोहके उपशम आदिकके हाथ बात है और यह किस ओर ले जाय विषयोंमें, कषायोंमें, आत्मामें किस ओर इसकी बात बने, यह सब है एक दृष्टिके आधारपर। जैसी दृष्टि बनती है वैसी सृष्टि बनती है, वैसी सृष्टि चलती है। तो जब वस्तुस्वरूपके विपरीत दृष्टि बन गई तो सर्व आत्मप्रदेशोंमें कलुषता रहती है। ये जगतके अज्ञानी जीव अपने आपपर एक खेद और आश्चर्य पाते हैं—हाय मेरा चित्त स्थिर नहीं, मुझे अमुक कष्ट है, बड़ी विपत्ति है, सभी मनुष्योंके हृदयमें ऐसी बात आती है। अरे जब तक मूलमें कलुषता है तब तक उसका दिल क्या शान्त होगा? नहीं, वह तो अशान्त रहेगा। उसकी बुद्धि विपरीत है, बाह्य पदार्थोंकी ओर है, अपना जो रूप पर्याय माना उसपर दृष्टि है, यह अच्छा कहलाये, इसका यश रहे अथवा कुटुम्बी जन, परिजन या बाह्य वैभव इसकी ओर जब तक संस्कार लदा है और अपने आपके ज्ञानस्वरूप आत्माकी सुध नहीं है, मैं ज्ञान-मात्र हूँ, केवलज्ञानस्वरूप हूँ, इसकी ओर दृढ़ता नहीं है तो कलुषता-आयगी और जहाँ कलुषता है वहाँ शान्तिके स्वप्न क्यों देखे जा रहे हैं? तो दृष्टि विपरीत होनेसे आत्माके समस्त प्रदेशोंमें कलुषता जगती है वह कलुषता मिथ्यात्व है। मिथ्या जातिका उलंघन नहीं है

वहां और वह है केवल आत्माकी एक परिणति मात्र । आत्मामें कोई दूसरा पदार्थ आकर आत्माको हिलाये-डुलाये, परेशान करे, ऐसा कभी सम्भव नहीं है । यह ही आत्मा दृष्टिमोहके विपाकका निमित्त पाकर स्वयं अपनेमें अपने उपयोगको कलुषित बना लेता है, मिथ्या आशय वाला बना लेता है और उसे दुःखी होना पड़ता है ।

मिथ्यात्व कालुष्यसे हटनेका कर्तव्य—कर्तव्य तो यह है कि हमारे भीतर कलुषता न रहे । जब किसी बातकी चाह होती है—जैसे मानो धन कमानेकी तेज चाह लगी है तो वह पुरुष कष्ट भी सहता है, दूसरोंकी बात भी सहता है, नम्र भी रहता है, भूखा भी रहता है, सब तरहकी बातें सह लेता है, मगर एक बातकी धुन नहीं छोड़ता । जिस किसी भी प्रकार हो, मेरे धनका संचय हो, यह धुन उसकी नहीं छूटती, बाली धुन चाहे छूट जायें, क्योंकि उसने धनसंचयमें अपना हित मान लिया, जो कि मिथ्या है । अब कोई सत्य बात समझे और इस तीन लोक तीन कालमें यह मैं आत्मा केवल अपनेमें ही अकेला हूं, ज्ञानमात्र हूं, ज्ञानका परिणामन करता रहता हूं । उदय आते हैं कर्मके । ठीक है । दृष्टिमोह मिट जाय तो उन कर्मोंका कुछ भी भय नहीं । अपनेको ज्ञाता रखें तो वहां भी जानते रहें कि ये आये हैं कर्मरस, यह है कर्मलोला । क्या कष्ट है उसे ? अपने ज्ञानस्वरूपकी सुधसे चिगते हैं और कलुषित बनकर हम दुःखी हुआ करते हैं । बस दृष्टिविपर्यय ही सारे दुःखजालका मूल कारण है । पदार्थ है कुछ और, मान लेते हैं अन्य तरहसे, बस यह ही तो कष्ट है । अब बतलावो इसमें कोई कष्ट है क्या कि जो पदार्थ जैसा है वैसा ही मान लें, वैसा ही मानते रहें, इसके खिलाफ रंचमात्र भी प्रतीति न रखें, ऐसा परिणाम करें तो इसमें कोई कष्ट है क्या ? मगर दृष्टिमोह जब रहता है तो ऐसा करनेकी बात ही नहीं सूझती और राग रंग कषाय इनमें ही उमंग रहा करती है । तो यह जीव अपने आपका स्वयं जिम्मेदार है । चाहे संसारमें घूमता फिरे, चाहे संसार-बंधनसे मुक्त हो, केवल अपने ही आप जिम्मेदार है । वह भीतरके ज्ञानज्योतिकी बात है । वह दृढ़ रहे और इस प्रतीतिको अपनेमें समाये रखे कि मैं तो सहज ज्ञानमात्र हूं । इसमें परका प्रवेश नहीं, मैं स्वयं समृद्ध हूं, अपने स्वभाव तो निरखें और स्वभावके निरखनेमें संतोष रखें तो इस जीवका सन्मार्ग है । तो जब दृष्टिमोह होता है, विपरीत दृष्टि बन जाती है तो इन आत्म-प्रदेशोंमें कालुष्य जगता है, कलुषता, विपरीत आशय, अज्ञान, उल्टी चाल, और यह है आत्माकी परिणति मात्र जो उस समयका औपाधिक एक मिथ्यात्व भाव है ।

तत्र सामान्यमात्रस्वादस्ति वक्तुमशक्यता ।

ततस्तल्लक्षणं वच्मि संक्षेपाद् बुद्धिपूर्वकम् ॥१०३०॥

सामान्य मिथ्यात्वकी वचनागोचरता—मिथ्यात्वकी बात चल रही । अपने-अपने उपयोगमें मिथ्यात्वकी छटनी बनावें । मिथ्यात्व है क्या ? हम अपने सही स्वरूपको निरख

रहे हैं या विषयकषायोंमें चित्त जाता है तो जब परीक्षा करनेकी बात चली तो मोटी-मोटी तो परीक्षा हो जायगी, पर एकदम करेक्ट सही परीक्षा नहीं की जा सकती। यहां मिथ्यात्व है या नहीं। इतने सूक्ष्म ढंगसे मिथ्यात्व बसता है कि उसकी परीक्षा नहीं बन पाती। मिथ्यात्व सामान्य मात्रसे जो है उसे कहा नहीं जा सकता। क्या है वह मिथ्यात्व? भला आप इस उदाहरणसे सोचें—कोई बड़े तपस्वी मुनिराज घानीमें पेले जा रहे हों और शत्रुपर जरा भी विरोधकी दृष्टि न रखते हों, समताके परिणामसे रहते हुए मरण करें तो भी रहा वहां मिथ्यात्वका ही मिथ्यात्व। जो मिथ्यादृष्टि हों उनकी बात कह रहे। वह क्या मिथ्यात्व है? भला बतलावो—जो ११ अंग ६ पूर्वका ज्ञान कर ले, जिसमें आत्मप्रवाद, ज्ञानप्रवाद इन सबका अच्छा ज्ञान हो गया और उसका उपदेश बड़े जोशीले ढंगका होता है जिसको सुनकर अनेक लोग कहो सम्यक्त्व पैदा कर लें, बात तो वह सब सही कहेगा और कुछ थोड़ा बहुत उसके चित्तमें भी आता होगा, फिर भी उसके मिथ्यात्व बना रहे तो उस मिथ्यात्वको किस तरहसे छांटा जाय? तो सामान्य मात्र रूपसे जो मिथ्यापन है वह अवक्तव्य है, कहनेमें आ नहीं सकता। हां, जो बुद्धिपूर्वक मिथ्यात्व है उसका लक्षण बताया जा सकता है, लेकिन जो अबुद्धिपूर्वक है, जिसकी कोई चेष्टायें नहीं उघरती हैं वहांके मिथ्यात्वको क्या कहा जाय? निगोदमें मिथ्यात्व, एकेन्द्रिय जीवमें मिथ्यात्व। अब उसको समझावो कैसे मिथ्यात्व है? बड़े-बड़े योगियोंमें मिथ्यात्व है। जिनके मिथ्यात्व है उनकी बात कह रहे। अब समझावें कि उनमें क्या मिथ्यात्व है? आत्मज्ञानकी चर्चा द्रव्य गुण पर्याय सभी-सभी अंशोंको जितने कि आजकल कोई बोल नहीं सकता, आजकल उतना कोई परिचय नहीं कर रहा, भला ११ अंग ६ पूर्व जितना ज्ञान अब रखा है क्या? एक अंगका करोड़वां हिस्सा भी नहीं मिलता। है ही नहीं। तो जो इतने बड़े ज्ञानी हैं, जो सब प्रकारसे आत्माकी बात परिचित करा दें और उनमें रहने वाला जो मिथ्यात्व है उसका पता नहीं। तो मिथ्यात्व वक्तव्य नहीं है। जैसे सम्यग्दर्शनको वचनोंसे हम क्या कह सकते हैं? नहीं, इसी प्रकार मिथ्यादर्शनको भी हम क्या कह सकते हैं? नहीं। जैसे सम्यग्दृष्टिकी बाहरी चेष्टावोंसे हम सम्यक्त्वका अंदाज करते हैं। इसी तरह मिथ्यादृष्टियोंकी बाहरी चेष्टावोंसे हम उनके मिथ्यात्वका अंदाज कर लेते हैं कि इसमें मिथ्यात्व है धर्म करने आते, पूजा पाठ करते, बड़ी-बड़ी सम्हाल बनाते, व्याख्यान देते, दिलाते, बड़ी उमंग रखते, पूजा भावभीनी करते, पर यह बताया जा सकता क्या कि यहां मिथ्यात्व बिल्कुल नहीं है? बात यों कह रहे कि अपने आपको थोड़ी-थोड़ी धर्मकी चेष्टायें करके कृतार्थ न समझ लें। बस हम तो पार हो ही गए। कर लिया हमने धर्म। बस हमारी गति सुधर गई। इस तरहका निर्णय न बना लेना। गलतीको खोज-खोजकर, धुन-धुनकर निकालना चाहिए। अबुद्धिपूर्वक मिथ्यात्व। मिथ्यात्व जो भीतर संस्कारमें पड़ा है, कलुषता जो संस्कारमें बसी हुई है उनकी ऐसी कठिन चेष्टायें कर रहे हैं कि ये जीव अकुलित

रहते हैं। इन सबका आगार कलुष परिणाम है।

स्वानुभवपूर्वक ही सम्यक्त्वकी उद्भूति—भैया ! भेदविज्ञान लावें, उसके बाद सहज-स्वरूपका अनुभव होगा। सहजस्वरूपका अनुभव किए बिना सम्यक्त्व जग नहीं सकता। जिस जिसके भी सम्यक्त्व हुआ है सहज स्वरूपका अनुभव होकर ही हुआ है। मोटे रूपसे इसकी हर कोई पहिचान क्या करे ? हां जान सकते हैं, भीतर अनुभव अनुभव कर सकते हैं, सहज स्वरूपका अनुभव याने ज्ञानमें ज्ञानस्वरूप ही समाया हो, अन्य कोई विकल्प रंच भी न हो। ज्ञान और ज्ञेय एक बन गया, जरा भी तरंग नहीं और उस समयमें जो एक अद्भुत आल्हाद है, आनन्द है उसका अनुभव हो रहा। विकल्प नहीं, कथन नहीं, सोचना नहीं, चिन्तन नहीं, किन्तु एक सहज ऐसी ही परिणति बन गई कि जहां ज्ञान ही ज्ञान रह गया, ज्ञान जानन-मात्र, ऐसी जब कोई स्थिति होती है किसी समय तो वहां सारे कष्ट दूर हो जाते हैं, रंच भी आकुलता नहीं रहती। ऐसा आत्मोत्थ अलौकिक सहज आनन्दका अनुभव हुआ है जिसके, उसको ही तो आत्मस्वरूपका सही निर्णय है और उसके ही सम्यक्त्व है। अनुभव हुए बिना जो ज्ञान होता है वह स्कूलके बच्चोंको दुनियाकी नदी, पर्वत आदिकका ज्ञान करानेकी तरह है। उन्होंने जाकर देखा तो नहीं है, अनुभव तो नहीं हुआ, उनका प्रत्यक्ष तो नहीं हुआ और पुस्तकके आधारसे खूब बताता है कि यहां है रूस, यहां है अमेरिका, यहां है यह नदी, यहां है ज्वालामुखी पर्वत, यहां है दलदल, यहां है जंगल, ये सब बातें बताता और भीतर अनुभवमें नहीं जंच रहा। यद्यपि बता रहा है वह सच सच, जहां जो बात है, जो सीखी है, जिसके नम्बर भी मिलते हैं, उत्तीर्ण भी होते हैं, मगर प्रत्यक्ष नहीं होता। ऐसे ही अपने आत्माका परमात्मस्वरूप, सहजात्मरूप जब तक प्रत्यक्ष नहीं होता तब तक इसका ज्ञान करना, चर्चा करना, बताना स्कूलके बच्चोंको सिखाये गए की तरह है। उस अनुभवको जान लें कि हां इसका अब मोक्षमार्ग बन गया। हुई कभी जीवनमें एक क्षणको भी ऐसी स्थिति कि जहां ज्ञानमें ज्ञानस्वरूप ही समाया है, कुछ विकल्प ही नहीं है, कहां बैठे, कौन बैठे, किस समय बैठे आदिकका भी ख्याल जहां नहीं है। ज्ञानमें ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्व ऐसी एक अव्यावाध स्थिति अगर पायी है और अपने आपमें उस सहजस्वरूपका अनुभव हुआ है तब तो ठीक है, मोक्षमार्गमें आ गए और यह अनुभव जब तक न जगे और चाहे उसके बारेमें कितना ही परिचित हो तो भी सम्यक्त्व नहीं है, कलुषता है। भीतर संस्कार पड़ा है चाहे उसका चरित्र अच्छा है, सदाचार है, व्यसनोसे रहित है, संयमादिक, तपश्चरणादिक कर्तव्य कर रहा है तो भी मिथ्यात्व है। तो अंतरमें तो कलुषता पड़ी है और ऊपरसे ये अच्छी चेष्टायें की जा रही हैं तो संसार-बंधन तो दूर न होगा। मूलमें से वह मिथ्यात्व, कालुष्य संस्कार हटना चाहिये। वह हटेगा सहज आत्मस्वरूपके अनुभवसे तभी शान्तिमार्गपर गमन होगा। तो जो मिथ्यात्व है सामान्यरूपसे वह तो कहा जा सकने योग्य है नहीं, तब फिर उस मिथ्यात्वका जो व्यक्त लक्षण

है बुद्धिपूर्वक है उसके लक्षणको संक्षेपसे इसमें कहा जायगा। यह चर्चा चल रही हैं संसारके जड़की। जिसको हिलाना है, मिटाना है तो निराकुलता पैदा होगी।

निर्विशेषात्मके तत्र न स्याद्वेतोरसिद्धता।

स्वसंवेदनसिद्धत्वाद्युक्तिस्वातुः प्रवर्गमैः ॥१०३१॥

युक्ति और अनुभवसे मिथ्यात्वका परिचय—जो मिथ्यात्व सामान्य है याने सब मिथ्यात्व चाहे किसीका जंचता हो, चाहे किसीका न जंचता हो वह, बुद्धिपूर्वक हो वह, अबुद्धिपूर्वक हो वह, सामान्यरूपसे जो मिथ्यात्व है, जिसमें विशेषार्थ न नजर आयें, ऐसे उस मिथ्यात्वको सिद्ध करनेमें हेतु है और उससे सिद्ध होता है। मिथ्यात्व स्वसंवेदनसे भी सिद्ध है। जैसे सम्यग्दर्शन स्वसंवेदनसे सिद्ध है, अपने आपमें अपने आपके वेदनसे सिद्ध है तो मिथ्यात्व भी स्वसंवेदनसे सिद्ध है अर्थात् अनुभवमें तो आ ही रहा है। जब मिथ्यात्व है तो अनुभव में क्यों न आयगा? अनुभवन हो रहा है। उसका फल पा रहे अशांति निरंतर। वह मिथ्यात्व असिद्ध नहीं है, अपने अनुभवसे सिद्ध है, प्रत्यक्षसे सिद्ध है, युक्तियोंसे सिद्ध है। अगर मिथ्यात्व न होता तो यह संसारमें जन्म-मरण क्यों चला करता? मगर इस परमेश्वर आत्मा के जन्ममरण क्या स्वभावमें पड़ा है? इसका काम जन्ममरण है क्या? नाना शरीरोंको धारण करते रहना है क्या? यह जीव पक्षीके भवमें गया तो ऐसा शरीर फूटा कि दो टांगें निकलीं, पंख निकले, ऐसी लम्बी चोंच निकली, देखो यह क्या हो रहा है, कैसा हो रहा है? बस उस-उस प्रकारका कर्मोदय होता है और ओटोमेटिक इस शरीर वर्गणाओंमें, इस उपादान में उस-उस प्रकारकी बात बनती है। पशु बना तो किस ढंगका, शरीरका निर्माण बना। चार टांगें निकलीं, एक पूंछ भी निकली, अज्ञानी जन तो इस बातको देखकर कहते कि यह सब बनाने वाला कोई एक अलगसे ईश्वर है। उस ईश्वरमें इतनी बड़ी सामर्थ्य है कि देखो कैसे-कैसे विचित्र देह उसने बना दिये, और सबकी जरूरत भी पूर्ण हो जाती है। आदमियोंके तो हाथ चलते हैं, आये पीछे। जब कभी मक्खी, मच्छर आदि बैठते तो अपने हाथोंसे उड़ाते। अब इन पशुओंपर जब कोई मक्खी, मच्छर या कौवा वगैरा बैठ जाय तो वे अपनी पूंछसे उड़ाते। देखो कैसी-कैसी तरकीब निकाली, मगर कोई रचने वाला अलगसे ईश्वर नहीं है। यह जीव स्वयं ईश्वर है और विडम्बना ऐसी आ गई है। तो जैसे कोई बड़ा आदमी कभी किसी विडम्बनामें भी आ जाय तो भी उसमें दम बहुत बताते हैं। कोई बड़े बर्तनमें खिचड़ी पकायी हो और सबको खिचड़ी खिला दी, अब बची नहीं, फिर भी एक आदमी आ जाय तो उसको खरोच करके उसका पेट भरा जा सकता है। ऐसे ही यह ईश्वर कितनी ही विडम्बनामें आ जाय फिर भी कुछ न कुछ सुविधायें इसकी चलती रहती हैं। और कुछ ऐसे भी भव हैं कि जहाँ जरा भी कुछ आराम नहीं बताया, उसमें तो यह सब कर्मोदयवश ओटोमेटिक सारा

परिणामन चल रहा है। उन कर्मोंको किसी दूसरेने नहीं बाँधा, कर्मोदयवश ये भाव तो बनते, मगर कर्मबंधन इसके विभावोंका निमित्त पाकर हुआ। तो अपनी दुर्गति करनेमें अपने ही विभाव तो साधन बने, दूसरेपर क्या दृष्टि देते ?

अपने कालुष्यपर भल्लानेकी आवश्यकता—जब कुछ पुण्योदयमें योग समर्थ होता है तो जरा-जरासी बातपर दूसरेपर भल्लाया करता है। इसने यों कर दिया। तब ही तो एक कहावत है कि अगर सेठकी गद्दीपर मुनीम चल रहा हो और उसकी लात लग जाय दवातमें, वह दवातकी स्याही बगर जाय तो सेठ भल्लाकर कह बैठता है—अरे दिखता नहीं क्या ? देखकर क्यों नहीं चलते ? और मान लो कदाचित् सेठसे ही स्याही बगर जाय और मुनीम भी ऐसा ही कह दे तो... ? ऐसे ही जब पुण्योदय होता है तो दूसरोंपर क्रोध जगता है। अब जरा पशु-पक्षी बन गए तो फिर इस विडम्बनापर किसपर भल्लावोगे ? यहाँ मनुष्यभवमें तो जीवन में छोटी-छोटी बातोंपर भल्ला उठते हैं, पर इन खोटी योनियोंमें पहुँच गए तो वहाँ क्या हाल होगा ? वहाँ तो कैसे-कैसे अटपट बेढंगे शरीर मिलते हैं, उन्हें बड़ा कष्ट होता है, उनमें बड़ा दुःख माना जा रहा है। अब बताओ वे भल्लायें किसपर ? तो इन सर्व दुःखोंका, जड़ोंका मूल है कालुष्य भाव। दृष्टिका उल्टा होना, उसपर भल्लावें और अपने आपमें अपने स्वरूपकी सही दृष्टि बना लें तो सारी विपत्तियाँ दूर हो जाती हैं। उसी मिथ्यात्व कालुष्य परिणामकी बात यहाँ कही जा रही है कि सामान्य तौरसे जो मिथ्यात्वका कोई स्वरूप कहना चाहे तो वह कहा तो नहीं जा सकता, मगर किए बिना भी ज्ञानमें लाया ही नहीं जा सकता। हां-हां, उसका हेतु दिया जा सकता, उसकी युक्तियाँ बतायी जा सकतीं, उसका अनुभव किया जा सकता और शास्त्रोंमें अनेक विधियोंसे उसका उल्लेख है, सो उन उल्लेखोंके द्वारा परिचय कराया जा सकता है, मगर मिथ्यात्वकी जो व्यक्त चेष्टायें हैं, संज्ञो जीवोंकी बुद्धिपूर्वक जो-जो कुछ भी मूढ़ताभरी परिणतियाँ हैं वे हैं मिथ्यात्वकी बुद्धिपूर्वक रूप। उनकी तो भली-भाँति बताया जा सकता, पर मिथ्यात्व सामान्य सब वचनमें आ सके, ऐसा नहीं किया जा सकता। तो मिथ्यात्वके इस प्रकरणमें मिथ्यात्व सम्बंधी ही सब बातें आयेंगी—कैसे बना, क्यों हुआ, क्या हुआ, उस मिथ्यात्वका सही-सही स्वरूप जानें तो वह मिट जायगा।

सर्वसंसारिजीवानां मिथ्याभावो निरन्तरम्।

स्याद्विशेषोऽयोगोह केषांचित् संज्ञिनां मनः ॥१०३२॥

सर्व संसारी जीवोंमें मिथ्यात्वकी निरन्तरता—मिथ्यात्वभाव समस्त संसारी जीवोंमें निरन्तर रह रहा है। किसीका उपयोग उस मिथ्यात्वमें व्यक्त होता है और किसीका उपयोग उस मिथ्यात्वमें व्यक्त विदित नहीं होता। दूसरा क्या समझे ? पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु—इन जीवोंमें मिथ्यात्व है। पूछा जाय कि कहां मिथ्या-

त्व है, कैसा मिथ्यात्व है, उस मिथ्यात्वमें क्या कोई चेष्टा है ? तो कुछ बता तो नहीं सकते । संज्ञी जीवोंमें ही जिनके मन है उनमें ही किसीका मिथ्यात्व विशेष रूपमें विदित होता है, तब ही तो इन जीवोंको कुट-कुटकर वेदना सहनी पड़ती है । कोई लोग जरासा दुःख पाकर मौज मानते हैं, पर उनको भी भीतरी चोट उस मिथ्यात्वकी लगी है और ऐसी गहरी चोट है कि भीतर तो कष्ट पा रहे हैं, कर्मबन्ध हो रहा है, पर ख्यालमें यह बात जरा भी नहीं आ रही । मान यह रहे हैं कि मैं बहुत सुखमय हूं, बहुत ज्ञानमय हूं, मगर संस्कारमें, मूलमें उनको चोट न हो, उनके कालुष्य न हो तो कुछ बात भी उनकी चेष्टा बुरी न होनी चाहिए । सब जीवोंमें मिथ्यात्व भाव निरन्तर बन रहा है । संज्ञी जीवोंमें देखिये—हम आप जो संज्ञी जीव हैं उन बिरलोंको छोड़कर शेष सभी मनुष्य क्या निरन्तर अपने मिथ्यात्वभावको समझ पाते हैं ? उपयोग दे पाते हैं क्या ? उनमें विशेष उपयुक्त होते हैं क्या ? चेष्टाओंसे समझा जाता है, और जो गृहीत मिथ्यात्व है—कुदेवको मानना, कुशास्त्र, कुगुरुको मानना ये तो किन्हीं-किन्हींमें पाये जा रहे हैं । बात यहाँ यह कही जा रही कि सामान्य मात्र मिथ्यात्व अवक्तव्य है । जैसे शत्रुका अंश भी विशेष हो तो भी वह दूसरेके लिए दुःखकारी है, इसी प्रकार अबुद्धिपूर्वक अल्प भी मिथ्यात्व है तो भी वह उसके कष्टका ही कारण बन रहा है । एक मोटीसी बात आप अपने बारेमें यह सोचते कि क्या मुझे इस समय अपने आत्माका सहज चैतन्यस्वरूपमात्र चेतना जहाँ केवल एक प्रतिभासमात्र है वह स्वरूप क्या मेरे ज्ञानमें बना हुआ है ? नहीं बना हुआ है । न इसका उपयोग है, उसकी सुध ही नहीं है । कभी उसका ख्याल आता ही नहीं है तो खोजना चाहिए, जान लेना चाहिए कि मेरेमें वह विपरीत दृष्टि, मिथ्यात्व कालुष्य पड़ा हुआ है । जब तक यह मिथ्यात्व है तब तक इसका जरा भी भला नहीं । यह कालुष्य हटेगा तत्त्वज्ञानसे । तत्त्वज्ञान बनेगा उसके निरन्तर अभ्याससे । यह दृष्टिकी विपरीतता ही तो है कि अपने जीवनका सारा समय, दिन रातका सारा समय विषयों में, कषायोंमें, गणोंमें गुजरता है और जो इस जीवके कल्याणकी बात है, उद्धारका बोज है, अपने आपके अन्तः बसे हुए सहज परमात्मतत्त्वका परिचय पाना उसके प्रयत्नमें इसकी कहाँ धुन है, कहाँ चेष्टा है, कहाँ इसे समय मिलता है, कौन सुनना चाहता है ? कुछ तो विषय कषायके उपयोगके कारण मन नहीं है स्थिर । मन ही नहीं चाहता कि मैं कुछ धर्मकी बात करूँ । जब इतना मिथ्यात्वका कालुष्य है ।

धर्मकी मुद्राओं में भी मिथ्यात्वकी संभवता—जब ही कोई धर्मकी बात करते भी हैं—दर्शन करना, पूजन करना अपना एक ऐसा मान रखा है कि इसमें दो बातें हैं—(१) एक तो अपनी इज्जत बनेगी, मेरी कुल-परम्परा चलेगी, (२) इस कामसे जीवन सुखी रहता है, पुण्यरस बढ़ता है, सुख-समृद्धि बढ़ती है, आजीविका अच्छी चलती है.... । क्या भीतरी इस

धुनसे प्रभुके दर्शन करनेको मन है कि यह संसारसागर दुःखमय है, इसमें मुझे नहीं पड़ना है, मैं तो अब संसारसे मुक्त भगवान्‌के गुणों का ध्यान करने जा रहा हूँ। जैसे झुंझलाकर कोई कहींसे कहीं जाता है, घरमें लड़ाई हो गई तो झुंझलाकर दूकानपर जाता है—हमें मतलब नहीं यहाँसे, लो यह चला। तो कभी अपने मिथ्यात्व रागद्वेषसे झुंझलाकर आये क्या मन्दिरमें या एक सुख मौजकी वाञ्छा रखते हुए यों ही आते हैं? मुझे न चाहिए ये संसारके जन्म मरण, मुझे न चाहिए इन पौद्गलिक शरीरोंका बंधन, मुझे न चाहिए इस दृश्यमान जगतके प्रति परिचय। ये सब मेरे कलंक हैं। मैं तो प्रभुके समान विशुद्ध चैतन्यस्वरूप हूँ। लो अब उस विशुद्ध चैतन्यस्वरूपकी मूर्तिके समक्ष पहुँचूँगा, वहाँ ध्यान धरूँगा और अपने आपके इस चित्स्वरूपका अभ्यास करूँगा—ऐसे प्रोग्रामको मनमें रखकर मंदिरमें आना बनता है क्या? यह एक मिथ्यात्व कालुष्यकी बात कह रहे। यह मिथ्यात्व सभी संसारी जीवोंमें किस प्रकार बस रहा है? जो धर्मकी बड़ी मुद्रा दिखाये उदारताका, उपकारका उनमें भी मिथ्यात्व संभव है। जो अज्ञात शत्रुमें रहते हैं, जिनका कोई विरोधी नहीं, सब बातकी जानकारी रखें, ऐसी वृत्तिसे रहते हों वहाँ भी मिथ्यात्व सम्भव है। जब बड़े-बड़े मुनियोंमें जो बड़े-बड़े उपद्रव परीषद् सहन कर सकते हैं उनमें भी जब सम्भव है तो फिर औरका दृष्टान्त देनेका श्रम क्यों किया जाय? सर्वसंसारियोंमें यह मिथ्यात्व कालुष्य बना हुआ है। किन्हीं-किन्हीं संसारी जीवोंमें ही उनका मन इस विषयमें विशेष उपयोगी हुआ है।

तेषां वा संज्ञिनां नूनमस्त्यनवस्थितं मनः।

कदाचित् सोपयोगि स्यान्मिथ्याभावार्थभूमिषु ॥१०३३॥

अनवस्थित मन वाले संज्ञी जीवोंकी मिथ्यात्वमें कदाचित् सोपयोगिता—जिन संज्ञी जीवोंका मन मिथ्यात्वको प्रक्रियाके बारेमें विशेष उपयोगी हुआ है उनका भी मन कभी-कभी मिथ्या भावकी भूमिमें विशेष उपयोगी होता है। कभी कहीं मन लगा, कभी कहीं, स्थिर नहीं है मन। कभी मंदिरमें मन लगा है, कभी पूजामें लगा है, कभी इनमें मन कम लगा है, और-और बाहरी बातोंमें लगा है। उस मिथ्यात्वका उपयोग कहाँ देखा जाय? तो कभी-कभी मिथ्यात्वका भी उपयोग होता है। हमारे गुरुजी कटनी (जि० जबलपुर) की एक घटना सुनाते थे कि कोई दो भाई थे—बड़ा और छोटा। उनमें बड़ा भाई तो दूकान धंधामें मस्त रहे और छोटा भाई अधिकतर मंदिरमें पूजा-पाठ, जाप, स्वाध्याय आदिमें मस्त रहे। करीब ६ घंटेका समय प्रतिदिन मन्दिरमें उसका जाता था। एक दिन उस छोटे भाईने कहा—भैया तुम धर्मका कुछ काम नहीं करते, मन्दिरमें पूजा पाठ वगैरामें भी कुछ समय नहीं देते। तो बड़ा भाई बोला—देखो तुम अपना अधिक समय मन्दिरमें देते हो, काम-काजमें तुम्हारा अधिक समय नहीं लग पाता, पर हम तुम्हें तुम्हारे काममें बाधा नहीं देते तो क्या यह हमारा

धर्मपालन नहीं है ? तुम अपना धर्म करते रहो । खैर, इस तरहसे कुछ वर्ष बीत गए । जब छोटा भाई गुजरने लगा, बड़ा भाई सामने हाजिर हुआ तो छोटा भाई बोला—भैया ! अब तो हम आपसे विदा हो रहे हैं, आप हमारे इन बाल-बच्चोंका, घर-द्वारका, सब प्रकारके इंत-जामका ध्यान रखना । हमारे इन बाल-बच्चोंको कष्ट न होने देना... । तो वह बड़ा भाई मानो उसे डांटकर कहता है—अरे भाई तूने जिन्दगीभर मंदिरमें रहकर क्या यही पाठ सीखा । तेरा तो मरण होने जा रहा है, फिर भी मोह ममता चित्तमें बसी है तो इसका फल तो दुर्गति है । इस मोह ममताको अब अन्तिम समयमें तो छोड़ो । पर काहेको छोड़े, उसी मोह ममतामें ही उसका मरण हुआ । तो भाई इस मिथ्यात्वभावका कुछ पता नहीं कि कौन तो मिथ्यात्वसहित है और कौन मिथ्यात्वरहित है । जिन जीवोंका मन मिथ्यात्वभावकी ओर विशेष उपयोगी होता है उनका भी मन मिथ्याभावोंके बारेमें कभी तो उपयोगी होता है ? यह है मिथ्याभाव । जब तक सही दृष्टि न बन पाये तब तक अपने आपके सहजस्वरूपका परिचय नहीं मिलता ।

मिथ्यात्वकी महाविषरूपता—मिथ्यात्व एक बहुत बड़ी विपत्ति है । एक भवमें विपत्ति आयी, मरण भी हुआ, मानो साँपने काट खाया, मरण हो गया तो एक ही भवका तो मरण हुआ, मगर मिथ्यात्व एक ऐसा विष है कि यह तो भव-भवमें (अनेक भवोंमें) जन्म मरण करायेगा । सारा जीवन दुःखमय रहेगा । सर्पका विष मिथ्यात्व विषके आगे कुछ भी विष नहीं है । उस मिथ्यात्व विषको लिए हुए है और अपनेमें मौजका अनुभव करते जा रहे हैं । इतनी बड़ी विपत्ति इस जीवपर छायी है । तो यह मिथ्यात्वभाव निकले बिना इस जीव का कभी भी हित सम्भव नहीं है । इसे खोजें, चिन्तन करें, मनन करें और यह प्रार्थना करें कि हे प्रभो ! मेरेमें मिथ्यादृष्टि न हो, मेरे खोटा ज्ञान मत जगे, जो पदार्थ जैसा है उसका वैसा ही स्वरूप मेरेमें प्रतीत रहे, इसके अतिरिक्त और कुछ मुझे न चाहिए । जैसे प्रभुकी भक्ति करने लोग प्रभुके पास जाते हैं तो वे अनेक तरहके भाव लेकर जाते हैं, उन सब भावोंको वे मुखसे वहां कहते तो नहीं हैं, पर मनमें वे भाव रहते हैं । यदि मुझे वे भाव बोलें तो मुनने वाले दूसरे लोग उन्हें धिक्कारें, बेवकूफ कहें । क्या भाव लेकर जाते कि हे प्रभो ! मुझे पुत्र-रत्नकी प्राप्ति हो जाय, इतना धन मिल जाय, मेरी मुकदमेमें जीत हो जाय, मेरी लड़कीकी शादी हो जाय... यह प्रार्थना करने तो आये हैं, पर जरा वे मुखसे ऐसी बातें बोलकर तो बतायें । मुखसे कोई ऐसा क्यों नहीं बोलता ? इसलिए कि इस प्रकारकी बातें बोलनेमें शर्म आती है । तो भाई जिन बातोंको दूसरोंके सामने बोलनेमें शर्म आती वे बातें प्रभुके आगे रखने योग्य हैं क्या ? नहीं । अगर अच्छे भाव हैं तो फिर जोरसे क्यों नहीं कहते ? जोरसे कहेंगे तब तो यही कहेंगे कि “छोड़ा सकल घर-बार हे प्रभु तेरे लिए ।” तो देखो कितना कालुष्य छाया हुआ है इन सब संसारि प्राणियोंमें ? ये अपना चित्त कहाँ बसाये हुए हैं ?

कितना ख्याल बनाये हैं, किस-किस ढंगसे क्या-क्या कलुषतायें पड़ी हुई हैं ? यह ही मिथ्यात्व-भाव इन संसारी जीवोंको कष्ट देता है ।

ततो न्यायागतो जन्तोमिथ्याभावो निसर्गतः ।

हृद्मोहस्योदयदेव वर्तते वा प्रवाहवत् ॥१०३४॥

जन्तुओंके निसर्गसे मिथ्याभावकी सिद्धि—उक्त कुछ ५-६ गाथाओंमें मिथ्यात्वके सम्बंधमें वर्णन किया गया था । उस वर्णनसे यह सिद्ध है, यह न्याय प्राप्त है कि इन पुरुषोंमें मिथ्याभाव निसर्गसे पाया जा रहा, स्वभावसे पाया जा रहा, प्रकृत्या ही चल रहा, क्योंकि दर्शनमोहनीयका उदय सबपर छा रहा । सो यह मिथ्या भलक प्रवाह रूपसे चलती ही चली जा रही है । जैसे जलके प्रवाहमें यह जल आया, वह चल आया, यों जल ही जल तो आता रहता है, ऐसे ही मिथ्यात्वके प्रवाहमें प्रति समयमें मिथ्यात्वका अनुभव करते हुए मिथ्यात्व मिथ्यात्व ही तो आता रहता है, ऐसा प्रवाह इस उपयोगभूमिपर चलता है । मनुष्य कुछ न कुछ कष्ट सामने रखकर उनके निवारणके लिए चेष्टायें किया करता है । यह कष्ट दूर करना है, यह विपत्ति दूर करनी है, यह असुविधा हटाना है । यों बनना है, यों करना है, विपत्ति दूर करनी है । अरे यह विपत्ति दूर न हुई तो तेरा कोई नुकसान नहीं । कैसे ही घरमें रह लो, कैसा ही साधारण खाकर रह लो, किसी भी तरह गुजारा हो सकता है, पर सबसे अधिक विपत्ति तो मिथ्यात्वकी लगी है जिससे जन्ममरणकी परम्परा चलती ही चली जायगी और उस जन्म-मरणमें आज तो मनुष्य हैं, कल सूकर हो गए तो जिसको देखकर बड़ी ग्लानि करते, ये सूकर गंदे कीचड़, मल आदिसे भिड़े रहते, त्रिष्ठा खाते, उन्हें देखकर घृणा आती, नाक-भौं सिकोड़ते । और मरकर कदाचित् सूकर बन गए तो फिर वहाँ क्या हाल होगा ? वहाँ तो फिर वही क्रिया करनी पड़ेगी जो यहाँके सूकरोंमें दिख रही । वह तो खैर एक संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव है, मान लो मरकर कीड़ा-मकोड़ा या पेड़-पौधा आदि बन गये तो वहाँ क्या हाल होगा ? वहाँ भी तो घोर दुःख सहना होगा । तो ऐसा जो यह कालुष्य मिथ्यात्व पड़ा है संसारी जीवोंमें वह एक भारी विपत्ति है कि नहीं ? त्रै, पर इसकी ओर किसका ख्याल है ? बस एक वर्तमानके भवमें जिन सुविधाओंको संगत माना है उनके लिए तो रात-दिन कमर कसे रहते, पर जो सबसे महान् विपत्ति मिथ्यात्वकी छाया है उसपर कुछ भी अफसोस नहीं करते । मेरा मिथ्यात्व मिटे, सम्यग्ज्ञान जगे, ऐसा भीतरसे अपनेको कोई आशीष नहीं देता । एक युक्तिसे, अनुभवसे यह बात समझमें आती है कि इन जीवोंके साथ जो मिथ्यात्व परिणाम लगा है वह कालुष्य है, कुज्ञान है, ये निसर्गसे ही इन जीवोंमें पाये जाते हैं ।

जन्तुओंके मिथ्यात्वकी प्रवाहरूपता—देखते जावो—एक नदीके किनारेपर बैठकर देखते जावो—रात-दिन, जीवन पर्यन्त पानी पानी ही तो सारा निकलता जायगा, इसी तरह

इस जीवमें इस मिथ्यात्वका प्रवाह मिलता जायगा। गया, आया, गया, आया, यह मिथ्या परिणति गई, नई मिथ्या परिणति आयी। इस मिथ्यात्वपर अफसोस नहीं होता। इस शरीरको माना जा रहा कि यह मैं हूं और इस दृष्टिके आधारपर दूसरोंको मानते हैं कि ये मेरे अमुक हैं, ये मेरे फलाने रिश्तेदार हैं...। अरे इस आत्माका भी किसी दूसरे जीवके साथ कुछ रिश्ता है क्या? शरीरमें बसा हुआ जो चैतन्यस्वरूप आत्मा है उसका किसी दूसरे आत्मा से रिश्ता बन सकता क्या? यह आत्मा तो अमूर्त चिज्ज्योति है, एक स्वतंत्र पदार्थ है, उसका कोई किसीसे माता-पिता, पुत्रादिकका नाता है क्या? इस शरीरको माना कि यह मैं हूं तो इस कुबुद्धिके आधारपर यह मेरा इष्ट है, अमुक लगता है, इस तरहसे चित्रण चलता गया। यह अज्ञान जाल, इसपर खेद नहीं होता कि इस शरीरसे मैं आत्मबुद्धि क्यों नहीं हटा पाता? यह तो एक पहाड़ जैसी विपत्ति है। इस ही दुर्बुद्धिसे, इस मिथ्यात्व भावसे तो जन्ममरणकी परम्परा सहनी पड़ती है।

कार्यं तदुदयस्योच्चैः प्रत्यक्षात्सिद्धमेव यत् ।

स्वरूपानुपलब्धिः स्यादन्यथा कथमात्मनः ॥१०३५॥

कार्यसे सर्व जीवोंमें मिथ्यात्वकी सिद्धि—सर्व जीवोंमें मिथ्यात्वभाव है। कैसे जाना? उनका कार्य देखकर। किसीके भावोंका पता आप कैसे जान पाते हैं? जब उसका कार्य निरखनेमें आता। वचनकी चेष्टा देखकर, शरीरकी चेष्टा देखकर जान जाते हैं कि यह इस भावका है। तो ऐसे ही मिथ्यात्वभावका परिचय कैसे मिलता? उसका कार्य देखकर। और उसका कार्य तो आपको प्रत्यक्षसे विदित हो जाता। और वास्तवमें क्या है उस मिथ्यात्वका कार्य? स्वरूपकी अनुपलब्धि। अब निरखते जावो यह जीव अपने स्वरूपकी उपलब्धि कर रहा या नहीं, अपना स्वरूप दृष्टिमें है या नहीं। अपने स्वभावके बारेमें कुछ मनन इसका चलता है या नहीं? नहीं चलता तो बस एक ही निर्णय है—मिथ्यात्वभाव। स्वरूपकी प्राप्ति न होना यह ही तो मिथ्यात्वका कार्य है। तो जीवोंमें मिथ्यात्वका उदय प्रत्यक्षसे सिद्ध है। अगर मिथ्यात्वका उदय न हो तो फिर इस आत्माको स्वरूपकी अनुपलब्धि क्यों हो? क्यों न यह स्वरूप को देखे, तृप्त रहे, आनन्दमग्न हो? क्यों यह दुःखी हो? जो दुःखी होते हैं उन सबके मिथ्यात्वका अनुमान है। है मिथ्यात्व, तब ही तो कष्ट है। जो ज्ञानी पुरुष हैं वे कष्टमें भी कष्ट नहीं मानते। वे जानते हैं कि कष्ट आया, कर्मरसका यह उदय है, यह रहेगा नहीं। यह कर्मरस है, आ गया है, यह शीघ्र ही दूर हो जायगा। और कष्ट ही क्या है? वह तो कर्मरसकी भाँकी है। हम अपना उपयोग बिगाड़ते हैं, उस तरहकी दृष्टि बना लेते हैं। ज्ञानी कर्मरसमें आसक्त न होकर अपनेमें आत्मानुभव करते हैं।

आत्मानुभवके अर्थ अपना मोटा सुगम कर्तव्य—अपनेमें अपना उपयोग न बने, इसके

लिए मोटा-मोटा सुगम कर्तव्य क्या है कि अपना व्यवहार, अपना चरित्र उज्ज्वल रखें और भीतरमें आत्मस्वरूपकी चिन्तना, उसका मनन बनाये रहें। ये दो ही बातें तो करना है अपने आत्माके उद्धारके लिए कि अपना आचरण निर्मल सही बनावें और भीतरमें अपने इस सहज चैतन्यस्वरूपकी उपासना करें। मैं यह हूँ। अपना चारित्र ठीक रखें और अपनी प्रतीति मन में सही रखें, मैं यह हूँ, भुलावेमें न आवें। कभी भी यह बात मनमें न आये शरीरको निरख-कर कि मैं यह हूँ। कभी भी अपने रागद्वेष विचार-विभावोंको देखकर यह मनमें न आना चाहिए कि ऐसी ही बात बने तो मेरा गुजारा है। जैसा राग उठ रहा है वैसा ही कार्य बने तो मेरा गुजारा है, यह बात चित्तमें न आये। राग उठा है, रागकी चेष्टा भी हो रही है, मगर उन सबसे मैं जुदा हूँ। इनसे मेरा पूरा तो नहीं पड़ता। विरक्तिके लिए एक ही तो कुञ्जी है, एक ही तो बात कह रहे कि आप कार्य करते जायें और उन सब कार्योंके समय चित्तमें यह बात उठती जाय कि इससे मेरे आत्माका कुछ पूरा तो नहीं पड़ेगा, कर रहा हूँ, पर इससे मेरे आत्माका पूरा नहीं पड़ सकता। ऐसी सुध जब नहीं है तो क्या कहा जाय? मिथ्यात्वका उदय। और यह कलुषता ही जन्ममरणकी परम्परा बढ़ाने वाली है।

स्वरूपानुपलब्धौ तु बन्धः स्यात्कर्मणो महान्।

अत्रैवं शक्तिमात्रं तु वेदितव्यं सुदृष्टिभिः ॥१०३६॥

मिथ्यात्वके कार्य स्वरूपानुपलब्धिमें बन्धका महान् बन्ध—मिथ्यात्वका कार्य है स्वरूप की प्राप्ति न होना। जिस जीवके मिथ्यात्वप्रकृतिका उदय है उसको अपने स्वरूपकी प्राप्ति नहीं होती, याने स्वरूप क्या है यह उनके ज्ञानमें नहीं आ पाता। तो जहाँ स्वरूपानुपलब्धि है, अपने स्वरूपकी सुध नहीं, प्रतीति नहीं वहाँ महान् कर्मबन्ध होता है। कर्मोंका अधिक बन्ध मिथ्यात्वमें ही होता है। मिथ्यादृष्टि जीवके थोड़े समयके तीव्र मोहसे ७० कोड़ाकोड़ी सागर तकका मोहनीयकर्म बँध जाता है। एक सागरका बहुत बड़ा प्रमाण है जिसमें १० कोड़ाकोड़ी पल्य समा जाते हैं। एक पल्य असंख्यात वर्षोंके समयका है, ऐसे ७० कोड़ाकोड़ी सागर तक के लिए कर्म बँध जाते हैं एक क्षणके मोहमें। देखो मिथ्यात्वके होते सन्ते इस जीवपर कितना विकट कर्मबन्ध होता है जिसके फलमें उसे निरन्तर दुःख भोगना पड़ता है। यहाँ तो लोग कुछ धन वैभव पाकर ऐसी छटनी करते हैं कि हमने सबसे अच्छी चीज पा लिया, पर यह धन वैभव कोई अच्छी चीज नहीं। काफ़ी धन वैभव तो पा लिया, पर अपना स्वरूप नहीं पाया तो कुछ नहीं पाया। अपनी दृष्टिमें अपना सहज आत्मस्वरूप अनुभवमें आये तो उससे बढ़कर कोई समृद्धि नहीं है, क्योंकि इस वैभवके प्रतापसे भव-भवके बाँधे हुए कर्म कटते हैं और निकटकालमें मुक्ति प्राप्त होती है, जहाँ आत्माका ज्ञान दर्शन स्वरूपका कर्ण विकास अनन्त काल तक रहता है। तो आत्माके स्वरूपकी अनुपलब्धि होनेसे कर्मोंका तीव्र बन्ध होना

है, ऐसी ही दर्शन मोहनीय कर्ममें सामर्थ्य है। इस बातको कौन लोग समझ सकते हैं ? ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जन। अज्ञानी जन क्या जानें कि हमको स्वरूपकी उपलब्धि नहीं है और उसमें विकट कर्मबन्ध हो रहा है। वे तो विभावोंमें आसक्त हैं। मिथ्यात्व कर्मबन्धका ऐसा विकट कार्य है और उस कार्यसे यह परखा जाता है कि यहाँ मिथ्यात्व हुआ है।

व्यग्रतासे स्वरूपानुपलब्धिका अनुमान व स्वरूपानुपलब्धिसे मिथ्यात्वका अनुमान—
कार्यसे ही पहिचान होती है। सम्यग्दर्शन है या नहीं, इसकी पहिचान कैसे करते कि देखने में बड़ी शान्त, संतुष्ट मुद्रा दिखती, विभाव भावोंसे हटकर स्वभावकी ओर उन्मुखता करने जैसे मुद्रा दिखती, यों उसकी बाहरी मुद्रा देखकर ही कुछ अनुमान किया जा सकता है कि इसको सम्यग्दर्शन है। इस जगतमें सारभूत पदार्थ कुछ नहीं है। कुछ भी काम बाहरमें कर लो, उससे शान्ति, संतोष नहीं होता बल्कि अशान्ति और असंतोष होता है। जो अपनेको इष्ट लग रहा—यह अच्छा मकान है, अच्छा परिवार है, अच्छे मित्रजन हैं, अच्छी सम्पदा है, जो-जो कुछ अपनेको इष्ट लगता हो इससे वे सब भीतरमें आकुलताको ही बढ़ा रहे हैं, क्योंकि उन विकल्पोंमें स्वरूपकी सुख नहीं है, फिर कोई खोटा संयोग हुआ, वैभव कम है, कुछ अड़चनें हैं, असुविधायें हैं, आवास ठीक नहीं मिला, खाने-पीने तकका अच्छा साधन नहीं, ऐसी कठिन स्थितियाँ हैं वहाँ भी आकुलता है। जिसको स्वरूपकी प्राप्ति नहीं हुई उसको हर स्थिति में आकुलता है और स्वरूपकी प्राप्ति न होना, यह मिथ्यात्वका कार्य है। और यों मिथ्यात्वके वश होकर यह सारा जगत कष्ट पा रहा है। जीव तो स्वभावसे शान्त, ज्ञानमय, बाधारहित समर्थ और आनन्दमय है। इसको कष्टकी क्या बात ? पदार्थ है और अपने स्वरूपमें परिणामेगा, ऐसी यद्यपि बात होनी चाहिए, मगर अनादिकालसे ही मिथ्यात्व कालुष्य इस जीवके साथ लगा है, सो हर दशाओंमें यह बेचैन है। सुखकारी स्थितियाँ हों वहाँ भी बेचैनी, कुछ कष्टकारी स्थितियाँ हों वहाँ भी बेचैनी। जब तक मिथ्यात्व नहीं हटता, स्वरूपकी प्राप्ति नहीं होती तब तक इस जीवको शान्ति कभी भी नहीं मिल सकती। तो जैसे लोग सब कुछ तन, मन, धन, वचन लगाकर सोचा करते कि मुझे तो यह काम बनाना है ऐसे ही तन, मन, धन, वचन प्राण सर्वस्व न्यौछावर करके यदि अपने स्वरूपकी प्राप्ति का काम बनाया जा सकता है तो वह इस जीवके लाभकी बात है। तो मिथ्यात्वके उदयमें स्वरूपकी अनुपलब्धि है और स्वरूपकी अनुपलब्धिमें इस जीवको बड़ा कष्ट है। सो दर्शनमोहनीय कर्ममें कैसी एक त्रिलक्षण शक्ति है। कर्मकी कर्ममें शक्ति है, मगर वह अपनी शक्तिको उगलता हुआ जब विपाकमें आता है तो उपयोगमें वह सब सब भाँकी प्रतिफलित होती है, उस समय इस जीवकी बड़ी विडम्बना होती है।

प्रसिद्धैरपि भास्वद्भिरलं दृष्टान्तकोटिभिः ।

अत्रेत्यमेवं स्यादलंघ्या वस्तुशक्तयः ॥१०३७॥

मिथ्यात्वभावमें कष्टसंतति — मिथ्यात्वसे इस जीवको कष्ट है, इस बातको समझानेके लिए करोड़ों दृष्टान्त मिलेंगे । यहाँ लौकिक दृष्टान्त भी मिलेंगे व पुरा पड़ौसमें, देश, गांवमें, समाजमें ये सब जीते जागते जो दुःखी लोग हैं वे स्वयं दृष्टान्त हैं । बड़े पुष्ट करोड़ों दृष्टान्त भी दिए जायें तो भी कम हैं, वे भी भले प्रकार मिथ्यात्वकी बाधाशक्ति बतानेमें समर्थ नहीं हैं । उन करोड़ों दृष्टान्तोंसे भी क्या पूरा पड़ता है ? इस दर्शनमोहनीयमें तो आत्मस्वरूपको नष्ट करनेकी शक्ति है । स्वरूप नष्ट नहीं होता, मगर अपने उपयोगमें ही न हो तो वही नष्ट कहलाता है । जैसे किसीके हीरेकी अंगूठी उसके ही हाथमें है, अंगुलीसे निकालकर मुट्ठीमें रख ली है, कुछ गप्पोंमें लग गया, बादमें ख्याल आया कि अंगूठी तो है ही नहीं, तो उस घबड़ाहटमें वह इतना अधीर हो जाता है कि मैं मुट्ठी बाँधे हूँ, यह कोई सुधमें नहीं, क्योंकि उपयोग बिगड़ गया । जब उपयोग बिगड़ गया और अंगूठी देखनेका प्रयत्न करते, घरमें देखा, सडूक खालकर देखा, तो रोजके रोज तो भले ही वह दाहिने हाथसे सडूक खोलता था, पर आज वह बायें हाथसे खोलता । कैसा अधीर, कैसी बेहोशी और कैसी बुद्धि पलटी कि वह देख नहीं पाता कि यह है । तो जब उसके ज्ञानमें नहीं है हीरा रत्न, तो वह तो गरीबसे भी अधिक दुःखी हो रहा है । कोई कहे कि क्यों दुःखी हो रहा, हाथमें ही तो है, क्यों कष्ट पा रहा ? अरे आप कहते हो कि उसके हाथमें हीरा है, पर उसको तो ज्ञान नहीं है इस बात का । तो ऐसे ही आत्माका स्वरूप नष्ट नहीं होता । किसी भी वस्तुका स्वरूप नष्ट नहीं हुआ करता, सत्ता कभी नष्ट नहीं हुआ करती, मगर ज्ञानमें ही नहीं है अपना स्वरूप तो वह तो उसके लिए नष्ट हो गया । तो इस मोहनीय कर्ममें ऐसी सामर्थ्य है कि वह आत्माके स्वरूप को नष्ट कर देता है याने मिथ्यात्वप्रकृतिके विपाकका निमित्त पाकर आत्मा स्वरूपको भूल जाता है, मिथ्यात्वमें ऐसी शक्ति है ।

मिथ्यात्वकी अलंघ्य लीलायें—मिथ्यात्वकर्मके उदयका सन्निधान पाकर जो जीवमें मिथ्या आशय जगा है उसमें भी शक्ति है, कर्ममें भी शक्ति है । तो शक्तिको कौन हटाये, शक्ति अलंघ्य होती है । तो अब समझना चाहिए कि जो यह प्रमाद रखते हों कि हो जायगा क्या है, धर्म बादमें हो लेगा अथवा हो ही तो रहा हैं, रोज रोज दर्शन करने आते, स्वाध्याय करते, जाप भी देते, कर ही तो रहे हैं, यों प्रमादमें समय गंवाना इस मनुष्यभवका अपना जीवन व्यर्थ समाप्त कर देना है । यों अपने आपपर यह कितना बड़ा अन्याय है, क्योंकि मरकर फिर असंजी बने, कीड़ा-मकौड़ा, पेड़-गोधे बने तो अब क्या कर लोगे वहाँ ? जब तक यह जीवन है, जब तक राग नहीं आता, जब तक बुढ़ापा नहीं घेरता । जब तक कमजोरा

नहीं होती तब तक सर्व प्रकार प्रयत्न करके अपने स्वरूपकी प्राप्ति का काम बना लें अन्यथा सब पछताना रह जायगा और इस जीवका संसार-भ्रमण चलता रहेगा। तो जैसे सभी पदार्थों में अपनी अपनी शक्तियाँ हुआ करती हैं, अजीव हो उसमें भी शक्ति, जीव हो उसमें भी शक्ति। तो यहाँ जो मिथ्यात्व नामक कर्म है उसमें जो मिथ्यात्व प्रकृति पड़ी है और अनुभाग विकट पड़ा हुआ है तो उसमें ऐसी शक्ति है कि उस शक्तिको, कर्मको कौन दूर करे ? वह तो कर्ममें पड़ी हुई है, और उस वक्तमें वह उसका स्वभाव है। लोग कहते हैं प्रकृति और प्रकृति शब्द कहकर एक ऐसे भावको लेते हैं—निरपेक्ष स्वाभाविक नेचर। मगर स्वभाव तक पहुँचता कौन है ? अज्ञानी जीवको तो कर्मप्रकृतिके उदयमें जो कुछ हो रहा है वही प्राकृतिक जंचता है। तब ही तो कहते हैं किसी फूल वाले जंगलको देखकर कि अहा ! कितना अच्छा प्राकृतिक दृश्य है, तो उसका मतलब क्या ? प्रकृति मायने क्या ? उसकी दृष्टिमें तो यह बात लग रही कि किसीने नहीं किया, अपने आप हुआ। तो बात भी कुछ ठीक है, पर असली बात यह है कि आखिर वे सब जीव ही तो हैं, फूल हों, फल हों, पत्ते हों, भरने भरने भर रहे, आखिर ये सब एकेन्द्रिय जीव ही तो हैं और वहाँ कर्मप्रकृतिका उदय चल रहा तो उनकी प्रकृतिके उदयसे जो स्थिति बन रही उसे कहते हैं प्राकृतिक। तो प्रकृतियोंमें भी जो शक्ति पड़ी है वह उस समय उसका स्वभाव है। वह ऐसी अमिट है कि उसका कार्य जब वह बौखलाता हुआ दिखता है तो इस जीवको स्वरूपकी दृष्टि नहीं होती और नाना प्रकारकी यह विकृत चेष्टायें कर बैठता है। उसका फल क्या है....दुःख ही दुःख। जिसमें बल नहीं होता, कायरता होती, कमजोर होता, पराधीन होता, परमुखापेक्षी होता, ऐसा कोई बूढ़ा अपने पोतों से परेशान भी हो रहा, कोई पोता सिरपर चढ़ता, कोई कंधेपर चढ़ता, कोई मूँछ पटाता, वह परेशान होकर रो भी देता है, फिर भी उनकी छोड़कर कहीं जा नहीं सकता। ऐसे ही मिथ्यात्वकी चोट सहनेके कारण यह जीव इतना कमजोर है, अपने आत्मबलकी ओरसे इतना कायर है कि मिथ्यात्वके उदयमें यह दुःख सहता जा रहा, मोहके कारण कष्ट सहता जा रहा, फिर भी यह मोह नहीं छोड़ सकता। अज्ञानका ऐसा ही माहात्म्य है।

सर्वे जीवमया भावा दृष्टान्तो बन्धसाधकः।

एकत्र व्यापकः कस्मादन्यत्राव्यापकः कथम् ॥१०३८॥

समस्त जीवमय भावोंमें से किसीकी बन्धसाधनता व किसीकी अबन्धसाधनतापर चर्चा—यह श्लोक एक अर्थसे शंकाके लिए आया है। जीवमें जितने भाव हैं वे सब जीवमय भाव हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह, कुज्ञान आदिक जो यहाँ छुटपुट हो रहे, विचार तर्कणा आदिक जो कुछ भी भाव हैं ये जीवमय भाव हैं, जीवसे अलग तो नहीं हैं, जीवसे अनन्य हैं, जीवमें रचे हुए हैं और यहाँ दिख रहा है कि यह जीव बंधका करने वाला है।

कोई तरहसे ख्याल आया तो उससे बंध ही तो होता है। कभी घमंड आया, क्रोध आया मोह आया, तो उससे बंध ही तो होता है, यों ही जानकारीयोंकी बातें हैं। किसी पदार्थको जान रहे, उस पदार्थमें उपयोग फंस रहा, बाहरमें उपयोग गड़ रहा यह ही स्थिति है तो उस जानकारीके समय बंध है कि नहीं? बंध है तो जितने जीवमय भाव हैं वे बंधके साधक देखे गए हैं, मगर उन जीवमय भावोंमें से समझमें यह आ रहा। कथन यह किया जा रहा इस प्रकरणमें कि देखो स्वरूपकी अनुपलब्धि वाले भाव बंधको वरने वाले हैं और स्वरूपकी उपलब्धि वाला भाव बंधको नहीं करता। तो स्वरूपकी प्राप्ति वाला भाव भी तो जीवमय है, इसने बंध नहीं किया तो क्या वजह है कि कोई भाव तो बंधका कारण है, कोई भाव बंधका कारण नहीं है। यह जीवमय भाव कहीं बंधसाधकतासे व्यापक है, कहीं व्यापक नहीं है, यह क्या मामला है? ऐसी एक शंका की गई है। उसका उत्तर संकेत मात्रमें आगे दिया जायगा किन्तु इस छंदको अगर ऐसा सुधार कर पढ़ें कि दृष्टान्तकी जगह दृष्टास्ते और बंध साधक: हो जायगा बहुवचन तो अर्थ निकलेगा सिद्धान्त वाला। वहाँ शंका नहीं है। अर्थ क्या होगा कि ये सब जीवमय भाव तो बंधके साधक देखे गए हैं, फिर भी जीवमय भाव जितने सम्भव हैं उनमें से देखते हैं तो किन्हीं भावोंमें तो बंध साधकपना व्यापक है और किन्हीं भावोंमें बंध साधकपना व्यापक नहीं है। सो विद्वान् पुरुष उसके कारणोंको जानते हैं कि यह भाव बंधके लिए व्यापक कैसे है, और यह भाव बंधके लिए अव्यापक कैसे है? शंका में कोई पूछे तो यों पूछेगा कि जीवके भाव हैं सब मिथ्यात्व, क्रोध, ज्ञान, स्वरूपानुपलब्धि सब जीवकी ही तो चीज हैं। पर इनमें से कोई भाव बंधमें साधक है, कोई भाव बंधमें साधक नहीं है, क्या कारण है? तो उसके उत्तरमें कहते हैं—

अथ तत्रापि केषांचित् संज्ञितां बुद्धिपूर्वकः ।

मिथ्याभावो गृहीताख्यो मिथ्यार्थाकृतिसंस्थितः ॥१०३६॥

असंज्ञी जीवोंमें अगृहीत मिथ्यात्वसे बिडम्बना—उत्तर तो एक सामान्यतः यह है कि स्वरूपकी उपलब्धि और अनुपलब्धि—इनको बंधके लिए मत देखें कि कारण है या नहीं? बंध का साधक तो मिथ्यात्वभाव है, अज्ञान, मोहभाव और उस मिथ्यात्वभावके साथ लगे हुए जितने और भाव हैं वे भी बंधके कारण हैं, करने वाले हैं। तो इस मिथ्यात्वके सम्बंधसे ही करने वाले हैं, और कभी मिथ्यात्व नष्ट हो गया तो चारित्रमोह रह गया, सो चूंकि इस चारित्रमोहके प्रभावको मिथ्यात्वकी जड़ने ही तो बनाया था तो मिथ्यात्वके दूर होनेपर भी चूंकि मिथ्यात्वसे ही यह सब जाल बन पाया था तो उसमें भी बंध साधकपनेकी बात है, मगर जहाँ मिथ्यात्व नहीं वहाँ संसारभ्रामक बंधपना भी नह। स्वरूपकी जहाँ उपलब्धि है वहाँ बंध नहीं है। बंधन भूलका है, जहाँ भूल नह। वहाँ बंधन नहीं। जीवमें इसी तरहका बन्धन

चलता है। इस जीवको किसीने रस्सीसे नहीं बाँधा, साँकलोसे नहीं जकड़ा, और तरहसे बंधन नहीं किया और जो कुछ भी निमित्तनैमित्तिक बंधन है इस शरीरमें बंधन कर्मोंसे बँधा। ऐसा जो निमित्तनैमित्तिक बन्धन है तो यह बन्धन भी एक भूलके कारण बँध गया है। भूल है बस वही बँधन है। जीव अपने स्वरूपको दृष्टिमें नहीं ले पा रहा और जो इसे पर्याय मिली, दशा मिली, परपदार्थोंका संग मिला, जो कुछ भी इसे दिख रहा है उसमें ही यह अनुभव करने लगा कि बस यह ही मैं सब कुछ हूँ, इसीसे मेरा बड़प्पन है। ऐसा जो पर और परभावमें इसने अपनी दृष्टि की, भूल की, उसका यह बंधन बन गया। सारी परतंत्रतायें भूलकी हैं, अपने आपकी सम्हाल न करनेकी हैं। सो हो रहा है यह सब। एकेन्द्रियसे लेकर असंज्ञी तकके जीव मिथ्यात्वमें तो ग्रस्त हैं, पर मिथ्यात्वकी एक बुद्धिपूर्वक गृहीत चेष्टा उनकी नहीं बनती और संज्ञी जीवोंमें किन्हीं-किन्हींके बुद्धिपूर्वक मिथ्याभाव होता है, उसीको कहते हैं गृहीत-मिथ्यात्व। मिथ्यात्व दो तरहके हैं—(१) अगृहीत मिथ्यात्व और (२) गृहीत मिथ्यात्व। शरीरमें सब जीवोंको अपनी कल्पना बनी है कि यह हूँ, मैं हूँ, शरीरके प्रति मैं हूँ, ऐसा अनुभव चल रहा है जीवों, सबको देख लो। कोई चीटी जा रही हो, उसे किसीका जरासा धक्का लग जाय तो यह तुरन्त उलटकर दौड़ती है, पानीकी कहीं धार बह रही तो चीटी अपने मुखके आगे लगे हुए जो रोम हैं उनमें जरा स्पर्श हुआ तो तुरन्त वह उल्टी भाग गई। तो शरीरमें उनको व्यामोह ही तो है। और बाहरके दृष्टान्त क्या, सीधे मनुष्योंके ही दृष्टान्त ले लो—किसी भी स्थितिमें घबड़ा बैठते हैं, अधीर हो जाते हैं, जरा भी दुःख सहा नहीं जाता है। शरीरमें रोग हुआ तो हाय मरे करके चिल्लाते हैं। वहाँ एकदम दृष्टि अपनी गड़ गई है। सभी विषय प्रसंगोंमें यह जीव पर्यायोंमें आत्मत्व स्वीकार कर रहा है। सो यह तो है अगृहीत मिथ्यात्व, याने जो सिखाया न जाय, किसी दूसरेकी नकल न की जाय और अपने आप बना हुआ हो वह है अगृहीत मिथ्यात्व। और गृहीत मिथ्यात्व समझानेसे हुआ, देखनेसे हुआ।

संज्ञी जीवोंमें अगृहीत व गृहीतमिथ्यात्वसे चिडम्बना—किसीकी गृहीतमिथ्यात्ववृत्ति की नकल करने लगे, लो गृहीत मिथ्यात्व चल गया। जैसे कुदेवको मानना, कुशास्त्र, कुगुरुको मानना, किसी चबूतरापर देवोंको मानना, पत्थरोंके ढेरको देवता मानकर एक पत्थर खुद भी डालना कि हम देवताको तृप्त कर रहे हैं। किसी वृक्षमें सूत बाँधना, गाना, उसकी प्रदक्षिणा देना यह सब गृहीत मिथ्यात्व ही तो है। ये सब देखनेसे, सिखानेसे, नकल करनेसे हुए हैं। तो किसी-किसीके बुद्धिपूर्वक मिथ्यात्व भी देखा जाता है जिसका नाम है गृहीत मिथ्यात्व। जितने प्रकारके सब मिथ्यात्व हैं उन सबमें मिथ्यापन पाया जाता है। मिथ्यात्व भाव सबमें है, पर उसकी मुद्रायें, उसका व्यक्त रूप नाना प्रकारके हो गए। दो पुरुष जा

रहे थे—एक तो पेड़ोंमें देवी देवता मानने वाला था और एक इस मान्यताको सही न मानता था। तो वे दोनों आदमी एक पीपलके पेड़के नीचेसे निकले। उनमें से जो पेड़ोंमें देवी देवता न मानने वाला था उसने पीपलके पेड़से तमाम डाली, पत्ते तोड़-ताड़कर नीचे फेंक दिये। इस बातको देखकर दूसरा व्यक्ति नाराज हो उठा—अरे तुमने क्यों ये डाली, पत्ते तोड़कर फेंके, यह तो हमारा देवता है।....अरे होगा तुम्हारा देवता। हमने तोड़-ताड़कर फेंक तो दिया, पर वह हमारा कुछ बिगाड़ तो नहीं कर सकता। तो वह दूसरा व्यक्ति बोला—अच्छा तुम्हारा देवता कैसा है?....सुनो—हमारा देवता बड़ा प्रभावशाली है, अगर उसका प्रभाव ही देखना है तो जरा आगे चलो, दिखा देंगे। कुछ आगे बढ़े तो एक खाज खुजली उत्पन्न करने वाला पेड़ दिखा। उसे देखकर कहा—लो यह पेड़ है हमारा देवता। बस क्या था, उस दूसरेने भी उस पेड़की डाली, पत्ते आदि तोड़-ताड़कर फेंकना शुरू किया। थोड़ी ही देरमें उसका सारा शरीर खुजलाने लगा। मारे खुजलीके वह इधर-उधर भगा-भगा फिरे, हाथ-पैर झिटकता फिरे। तो वह पुरुष बोला—देख लिया न हमारे देवताकी करामात। इतना बिकट देवता है हमारा। तो इस तरहसे जो बहुत दूरकी बातें हैं उनमें भी मिथ्यादृष्टि लोग देवी देवताकी कल्पना करते हैं और जो निर्मल आत्मा है वही सच्चा देव है, वह शक्ति अपने आपमें है, उस स्वरूपकी उपलब्धि करनेके प्रतापसे ही ये सब मिथ्यात्वभाव दूर हो सकते हैं।

अथदिकविधः स स्याज्जातेरनतिक्रमादिह ।

लोकासंख्यातमात्रः स्यादालापपेक्षयापि च ॥१०४०॥

असंख्यात प्रकारोंके मिथ्यात्वमें मिथ्यात्वजातिकी एकता—शंकाके समाधानमें ही प्रसंग चल रहा है। साधारण स्वरूपमें कहा जा रहा है कि वह मिथ्याभाव जातिकी अपेक्षासे तो एक प्रकारका है याने जितनी तरहके मिथ्यात्व हैं सब मिथ्यात्वोंमें मिथ्यात्वके लक्षणपनेकी बात तो घटित होती ही नहीं है, इस कारणसे उन अनेक मिथ्यत्वोंमें से कोईसा भी मिथ्यात्व हो वह सब एक है, किन्तु भेद प्रभेदकी अपेक्षा अनेक है। शंका यह की गई थी कि कहीं मिथ्यात्व व्यक्त है, कहीं नहीं है, कहीं मिथ्यात्व पाया जाता है कहीं नहीं पाया जाता। संज्ञा जीवोंमें मिथ्यात्व प्रकट रूपमें जाना जाता है। असंज्ञी जीवोंमें मिथ्यात्वका परिचय नहीं हो पाता है, ऐसी एक आशंका थी। उस सम्बंधमें कह रहे हैं कि मिथ्यात्व नाना तरहके होते हैं। कोईसा भी मिथ्यात्व हो। एकेन्द्रियका मिथ्यात्व क्या समझमें आये? असंज्ञी जीवोंके, चलते-फिरते कीड़ोंके कुछ ऐसा समझमें आता है कि वे डरते हैं और संज्ञी जीवोंका मिथ्यात्व तो नाना तरहसे दिखनेमें आता है। कोई मनुष्य कुदेवको मान रहा, कुगुरुको मान रहा, किसीकी कुछ भी प्रवृत्ति हो रही। मिथ्यात्व क्या एक तरहका होता? और इस मिथ्यात्वके वश होकर

इस समझदार मनुष्यने क्यासे क्या ढंग नहीं अपनाया । कोई रेतका भट्टना बना देते हैं, उसीमें धर्म मानते, कोई पत्थरोंका संग्रह करते उसीमें धर्म मानते, कोई पेड़में धागा बाँधते उसीमें धर्म मानते, कोई पत्थरमें सिंदूर लगाकर धर्म मानते, यों मिथ्यात्वकी कितनी हो जातियाँ हैं । सो किसी भी प्रकारका मिथ्यात्व हो, सभी मिथ्यात्वोंमें मिथ्यात्वपना है ही । तो जहाँ मिथ्यात्व है वहाँ जीवोंको कष्ट है । मिथ्यात्व नहीं तो जीवको कष्ट क्या ? जीव एक सत् पदार्थ है । जैसे परमाणु सत् है, जीव भी सत् है । परमाणुओंका मिलकर बन गया चौकी वगैरा, ये सत् हैं, जीव भी सत् हैं । इन पदार्थोंको वष्ट क्या है ? चौकी है, दरी है, भोंत है, इनको क्या कष्ट है ? है, कुछ भी परिणमन हो जाय, उनका उनमें परिणमन है । यहाँ कोई यह कह सकता कि ये तो अजीव हैं, जब उपयोग ही नहीं है तो कष्ट क्या मानेंगे, उनकी अपेक्षा कुछ कष्ट नहीं । बस यह ही बात तो जीवमें बताना है कि उपयोगको जब कष्टरूप समझते हैं तो जीवको वष्ट है और जब कष्टरूप नहीं समझते तो क्या कष्ट है ? जीव है, उसका अपना परिणमन हो रहा । परमार्थतः जीवका अपना परिणमन वष्टरूप नहीं है, वह तो कल्पनाकी बात है ।

आत्माके अपने स्वयंके परिणमनमें कष्टका अभाव — आत्माका अपना परिणमन तो प्रतिभासनेका, चेतनेका, जाननेका है । अपने परिणमनकी ईमानदारीमें रहे तो इसको कष्ट कुछ भी नहीं । पर अपने स्वरूपसे चिगकर जो नाना कल्पनायें करता उसमें कष्ट है । बताओ किसीकी हवेली इस आत्मामें प्रविष्ट है क्या अथवा घर छोड़कर हवेली साथ जायगी क्या ? हवेलीके साथ क्या इस जीवका सुख दुःखका सम्बन्ध है ? कोईमा भी वैभव हो, लोग खूब कमानेमें होड़ मचा रहे हैं । करोड़पति बन गए तो अब अरबपतियोंपर नम्बर आ गया । इस महर्षीको धन्य समझो जिससे ये हजारपति, लखपति कहलाने लगे और ये लखपति, करोड़पति कहलाने लग गए । चीजें तो सब ज्योंकी त्यों हैं, पर मान्यतासे ही बढ़ गए । खानापीना तो वैसा ही खाते-पीते जैसा कि पहिले । रहो सब कुछ संग, जगतमें कौनसा ऐसा संग है जो इस जीवको सुखसाताका कारण बने ? खूब सोच लो । अज्ञानमें भले ही कोई मान बैठे कि ऐसा मिले तो मेरेको सुख हो, पर वह सब अज्ञानकी बात है । कहीं बाहरी पदार्थोंके मिलनेसे सुख नहीं होता । सुख शान्ति पानेका तो एक ही तरीका है कि समस्त बाह्य पदार्थोंका आश्रय छोड़कर पदार्थोंकी स्वतंत्रताका ज्ञान रखें और सर्वसे उशेका कर अपने आपके सहज स्वभावमें अपना अस्तित्व अनुभव करें । सिवाय इस पद्धतिके कोई दूसरी पद्धति ही नहीं कि यह जीव सुख शान्तिसे भरपूर, आनन्दमय हो सके, बाकी और पद्धतियाँ कितनी हो करते जावो, कितनी ही बातें बनाओ, कितना ही सोचो, उन सबमें सिवाय क्लेशके और कुछ नहीं है । तो यह सब किसका प्रसाद है कि सारा संसार दुःखमय बना हुआ है । यह मिथ्यात्वका प्रसाद है । मिथ्यात्वके बलपर ही संसारो जीव लोह टिका हुआ है । सो ऐसा टिकनेमें

लाभ नहीं है, कष्ट ही है, उस मिथ्यात्वके छेदनेका उपाय मनमें आना चाहिए। इस जीवन में एक ही बात मनमें आनी चाहिए। ये बाह्य पदार्थ चाहे छिदें, भिदें, कहीं भी जायें, मगर मेरा आत्मस्वरूप मेरी दृष्टिमें मिल जाय तो समझो कि मैंने सर्व समृद्धि पाया। लोग तो दुनियावी मित्रोंको अपना मित्र समझते हैं मगर उनसे लाभ क्या मिलता? कोई मित्र कपटी है तो उससे प्रकट क्लेश होगा। और कोई मित्र बहुत अच्छा है तो भी उसमें रमने रचने पचनेसे आत्मप्रदेशोंमें क्या मिलेगा? कोई भी संग समझ लो, अपना आधार तो पंचपरमेष्ठियों का है। भगवानकी भक्ति करें तो आत्मस्वभावकी दृष्टि मिलेगी। इन आचार्य संतोंकी भक्ति करें तो आत्मस्वरूपकी भक्ति मिलेगी। परममित्र तो हमारे ये साधु संतजन हैं, जिनकी कृपा से हम आप लोग आत्मस्वरूपकी दृष्टि और उसका मार्ग पा लेते हैं। यह ही एक श्रेय बात है। बाकी तो सब मिथ्याभाव हैं जो कि इस जीवको कष्ट ही देते हैं।

आलापोऽप्येकजातियो नानारूपोऽप्यनेकधा ।

एकान्तो विपरीतश्च यथेत्यादि क्रमादिह ॥१०४१॥

एकान्तमिथ्यात्व, विपरीतमिथ्यात्व, संशयमिथ्यात्वके रूपक—मिथ्यात्वके नाना भेद कहे हैं और उनमें भी प्रत्येक भेदके और और भी भेद हैं। तो वे भेद भी अनेक प्रभेदोंमें विभक्त हैं, अतएव मिथ्यात्व अनेक प्रकारके हैं। जैसे मिथ्यात्व बतलाये हैं ५ तरहके, और उनमें अगृहीत और गृहीत दो और मिला दो तो ७ तरहके हो जाते हैं। एकान्तमिथ्यात्व, विपरीतमिथ्यात्व, संशयमिथ्यात्व, विनयमिथ्यात्व और अज्ञानमिथ्यात्व और अज्ञान-मिथ्यात्व। एकान्तमिथ्यात्व कितनी तरहके हैं, इसकी कोई संख्या बता देना क्या? जो पुरुष जिस धर्मका, जिस परिच्छेदका हठ करके कि यह ही है, अन्य कुछ नहीं तो ऐसे कितने ही एकान्त हो जायेंगे। प्रसिद्धी तो ५-७-१० की ही हो पायी। किसीने यह हठ कर लिया कि प्रत्येक वस्तु क्षण-क्षणमें नष्ट होती है, नई-नई वस्तु ही बनती है, नया सत् ही आता है। किसीने मान लिया कि जो सत् है वह अपरिणामी है। उसमें बदल होती ही नहीं। किसीका नित्यका एकान्त, किसीका अनित्यका एकान्त, किसीका अभावका एकान्त, कुछ नहीं, यह ही एक तत्त्व है। किसीका भावका एकान्त, सब कुछ एक ब्रह्मस्वरूप है, विधिरूप है, अन्य कुछ नहीं। एकान्त मिथ्यात्व कितनी जातिके होते हैं, सबमें मिथ्यापनका लक्षण है। विपरीत मिथ्यात्व वस्तु है और भाँति, मान रहे और भाँति। जीवको बताते कि यह भौतिक चोख है। चार महाभूत मिल गए—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और उनसे ये जीव उत्पन्न हो रहे अथवा आकाश मिलाकर ५ भूत बताये, इनसे जीव पैदा होता है। जीव उत्पन्न करने की बहुत बढ़िया कुञ्जी बता दिया इन एकान्तवादियोंने। अच्छा तो प्रयोग करके कोई जरा परीक्षा तो कर लेवे। मिट्टीकी हाँडीमें कढ़ी पकाई जाय तो देखो वहाँ पृथ्वी भी है, जल

उसमें भरा ही है, अग्नि नीचे जल हो रही है और वायु तो उसमें भर ही गई है, तभी तो उसपर रखा हुआ ढक्कन उछलता भगता फिरता है। जब ये चारों इकट्ठे हो गए तब तो उनकी मान्यताके अनुसार रसोईघरमें हाथी, घोड़ा, शेर, बंदर, मनुष्य आदि जीवोंकी उत्पत्ति हो जानी चाहिए, पर ऐसा तो नहीं देखा जाता। यदि ऐसा हो जाय तो फिर कोई रसोई ही न बना पायेगा, फिर तो भूखे ही मरना पड़ेगा। तो ये कितनी ही विपरीत बुद्धियाँ चलती हैं और उनका बहुत कलाके साथ समर्थन करते हैं। तो एक-एक मिथ्यात्वमें अनेक-अनेक भेद पड़े हैं। संशयमिथ्यात्वमें जीव है कि नहीं, जीव मूर्त है या अमूर्त, जीव ज्ञानस्वरूप है या अज्ञानस्वरूप। देखो संशय भी कितने ही प्रकारके हैं जिनसे दूना तिगुना एकान्त मिथ्यात्व बन रहा। संशयमें कमसे कम दो बातें तो आती हैं सामने और उन दो का एकान्त करें तो २ एकान्त हुए। संशय भी कई तरहके हैं।

वैनयिकमिथ्यात्व व अज्ञानमिथ्यात्वके रूपक—वैनयिकमिथ्यात्व — कोई निर्णय चित्त में नहीं कि पूज्य किसे कहते, आदर्श किसे कहते, और उस आदर्श पदके पानेका उपाय क्या है? बस जो मिला वही देव, उसीके प्रति विनय। वैसे आजकल तो लोग इस बातकी बड़ी प्रशंसा करते हैं कि सब गुरुओंको एक मान लो और कहते कि आजका जमाना ऐसा है कि इसीमें शोभा है। जितने भी धर्म हैं सब सही हैं, सबको मानना इसीमें शोभा है। अरे यह तो आत्माके बन्धन और मोक्षके विचारकी बात चल रही है कि यह आत्मा कर्मोंके बंधनसे छूटे कैसे? और स्वयं कर्म बंधे हो, रागमें लिप्त हों, उनको देव मानना, गुरु मानना, उनसे क्या वह मार्ग मिल सकता है कि कर्मके बन्धनसे छूट जायें? इसलिए यह कोई एक जमानेके संसारो जीवोंकी बात नहीं है। यह निर्णय होना चाहिए कि जो बीतराग हो, सर्वज्ञ हो, निर्दोष हो, ऐसा आत्मा ही मेरे लिए आदर्श है, क्योंकि इसकी भक्ति होनेमें ही हमारी भलाई है। और जो ऐसा लक्ष्य रखते हैं, उसी मार्गमें चलते हैं, वे ही हमारे गुरुजन हैं, क्योंकि ऐसे गुरुजनोंके संगसे हमको भी उस ही प्रकारका भाव बननेमें मदद मिलेगी। मुझे सर्वविकल्पोसे छूटकर एक स्वभावदृष्टिमें ही आना चाहिए। बहुत बड़ी समस्या यह है कि हम किसको आदर्श मानें और किसको गुरु मानें? अब सच्चे आदर्श और सच्चे गुरुके अतिरिक्त जगतमें कितना माया प्रपंच है जिसको कि ऐसे लोग सेवा करके धर्म मानते हैं। पीपल पूजें, बड़ पूजें, पत्थर पूजें, रेत पूजें, आग पूजें, फल पूजें, करवा पूजें, कलश पूजें...यों आप हैरान हो जायेंगे बता-बताकर किस देशमें कैसा कौन क्या-क्या मानता है? तो वैनयिक मिथ्यात्वके भी नाना प्रकार हैं और अज्ञानमिथ्यात्व—कुछ पता ही नहीं, विवेक ही नहीं। सो देखो सभी मिथ्यात्वोंका संस्कार सब मिथ्यादृष्टि जीवोंमें है। तो मिथ्यात्व एक प्रकारका नहीं, वह नाना रूपोंमें है, उन सबमें मिथ्यापन पाया जाता है। इस प्रकरणसे हम क्या शिक्षा लेते जायें कि प्रमादमें न रहें

और मिथ्याभावोंको निहार-निहारकर उसका छेदन कर लें। जैसे कपास धुनने वाला धुनिया अपने पीजनासे कपासके छोटे-छोटे हिस्सोंको ढूँढ़-ढूँढ़कर उसको धुनता जाता है। एक किलो रूईको कोई बह दो-तीन-चार घंटे तक धुनता रहता है, तो ऐसे धुनियाकी तरह अपनेमें इन मिथ्या भावोंको निहार-निहारकर उन्हें ज्ञानबलसे धुन लेना चाहिए और धुन-धुनकर साफ कर देना चाहिए। जरासा कोई धार्मिक क्रिया कर ली और उसीमें ही संतोष मान लिया कि मैंने तो सब कुछ कर लिया, सब कुछ पा लिया, यह ही मात्र कार्यकारी नहीं है।

अथवा शक्तितोऽनन्तो मिथ्याभावो निसर्गतः।

यस्मादेकैकमालापं प्रत्यनन्ताश्च शक्तयः ॥१०४२॥

मिथ्यात्वके भेद प्रभेद प्रकारोंकी बहुलता—मिथ्यात्वभावके प्रकार, भेद प्रभेद बताये जा रहे हैं। अनुभागकी अपेक्षा, जातिकी अपेक्षा, भागोंकी अपेक्षा ये मिथ्याभाव असंख्यात तरहके हैं और शक्तिकी अपेक्षा देखें तो ये अनन्त तरहके हैं। मिथ्यात्व कर्म जो बना हुआ है वह अनन्त वर्गणाओंका पिण्ड है। वर्गणा मायने कर्म जातिके परमाणुओंका समूह और एक-एक वर्गणामें अनन्त परमाणु हैं और उन वर्गणाओंके वर्गमें अनन्त शक्तियाँ हैं। एक मिथ्यात्व का कोईसा भी विभाग लो, उसमें अनन्त शक्तियाँ पायी जाती हैं। तो ऐसी अनन्त शक्तियों वाला, अनन्त विभाग वाला यह मिथ्यादर्शन इस जीवपर कैसा छाया है, कैसा सता रहा है कि इस जीवको जरा भी चैन नहीं मिलती।

मिथ्यात्वबश लोगोंकी हास्यास्पद विडम्बनायें—कभी-कभी भेदविज्ञानकी बड़ी-बड़ी बातें करेंगे, समझायेंगे, सब भिन्न हैं, आत्मा जुदा है, कर्म जुदे हैं, किसीसे कुछ मतलब नहीं, और मतलब यह रख रहा है। लो मैं कह रहा हूँ, उसी मतलबमें ही मिथ्यात्व आ गया। “यह मैं कह रहा हूँ” देहमें आत्मबुद्धि है, और आगे बढ़ो—इसको मैं बताऊँगा, मैं अच्छा कर रहा हूँ—यों उसे अपनी क्रियापर अभिमान तो है। बड़ी-बड़ी चर्चाएँ कर रहे हैं, मगर उन चर्चाओंकी करतूतपर भीतरमें अभिमान तो छिपा हुआ है। मिथ्यात्व गया कहाँ? अपने पर दया आयी हो तो ऐसे मिथ्याभावको अपनेमें ढूँढ़-ढूँढ़कर उनको धुन देना चाहिए और मिथ्यात्वरहित शुद्ध परिणाममें आना चाहिए। जो कह रहा हूँ यह ही तो मैं हूँ। लो कितनी अच्छी बात बोल गए। यह भाव आश्रयमें है तो मिथ्या भाव आ गया। मिथ्या आशयको ढूँढ़ो तो सही, यह किन-किन रूपोंमें छिपा हुआ है? दूसरोंको जतानेका जहाँ रंच भी सम्बंध है—इसको मैं बताऊँ, जताऊँ, इनको मैं समझाऊँ ताकि ये समझ जायें कि यह बड़े अच्छे धर्मात्मा पुरुष हैं, मैं कितना जानी हूँ, कितना अनुभवमें आता हूँ, इस तरहकी बात ये मेरे बारेमें जान जायें, इतना उसके मनमें लगाएँ है, तो मिथ्याभाव आ गया। भगवानके आगे भक्ति कर रहे, मानो दर्शक भी आये, उनको देख लिया और पूजामें मन लग रहा, उपयोग

वहाँ आ गया—मैं इनके बीच पूजा कर रहा हूँ, ये मुझे देख रहे पूजा करते हुए, अहो मिथ्या भाव आ गया। मानो पूजा करने वाले ही १०-५ लोग खड़े हैं, कोई दर्शक वहाँ नहीं आया तो उनमें ही परस्परमें चित्तमें यह बात बनी है कि मैं इससे अच्छा बोल रहा—लो वहाँ मिथ्याभाव आ गया। कहाँ तक कहें इस मिथ्याभावके प्रति? मानो कोई मुनि बड़ा तप-श्चरण कर रहा, उसपर कोई उपद्रव आ रहा, उसे भी वह समतासे सह रहा, उपद्रव करने वालेको वह शत्रु नहीं समझ रहा, उसपर नाराज नहीं हो रहा, मगर भीतरमें यदि यह भाव आ गया कि मैं मुनि हूँ, मुझे क्रोध न करना चाहिए, लो वहाँ भी मिथ्याभाव आ गया। आप सोचते होंगे कि इसमें मिथ्याभावकी क्या बात? मुनियोंको तो ऐसा सोचना ही चाहिए। पर नहीं, यह तो बंध मोक्षकी बात कही जा रही है। उसने जहाँ माना कि मैं मुनि हूँ तो यह तो पर्यायबुद्धि हो गई। जो गृहस्थ पर्याय है, मुनि पर्याय है उसमें मान लिया कि मैं मुनि हूँ, गृहस्थ हूँ, यह मिथ्याभाव है। अरे इस पर्यायरूप मैं नहीं, मैं तो ज्ञान दर्शनस्वरूप चैतन्य प्रतिभासमात्र अमूर्त हूँ। कौंसा अमूर्त हूँ, जिसकी उपमा देनेको जगतमें कुछ चीज नहीं है। यह आत्मा तो स्वानुभवगम्य है। उस अंतस्तत्त्वमें अपने आत्माकी प्रतीति न रखें, बाकी अन्य-अन्य भावोंमें अपनी प्रतीति रखें तो मिथ्यात्व है। अज्ञानी पुरुष, मिथ्यादृष्टि मनुष्य धर्मकी बड़ी चर्चाएँ करते हुएमें क्या तिलमिला जाते? क्यों कहा मानते, क्यों क्रोध करते, क्यों नाराज होते? यों कि वे मिथ्यादृष्टि अपनी आदत (कुटेब) नहीं छोड़ रहे। वह आदत है पर्यायमें आत्मबुद्धि करना। मिथ्यात्वका बड़ा व्यापक स्वरूप है, जो उसका जानन चल रहा, क्रिया चल रही, प्रवृत्ति चल रही, उसीमें आत्माका निकास बना है यह मैं ही तो कर रहा, मैं ही तो विचार रहा, ये लोग मेरी बात क्यों नहीं मानते? यों बातमें आत्मीयता, वचनोंमें आत्मीयता, क्रियामें आत्मीयता चल रही है। तो जहाँ पर्यायमें आत्मबुद्धि है वहाँ मिथ्यात्व है।

मिथ्यात्वकी उद्धतता—यह मिथ्यात्व जहाँ है वहाँ ही कर्मबंध है। कहीं भेष धारण करनेसे मिथ्यात्व डर कर नहीं भागता कि मैंने कोई धर्मात्माका भेष रख लिया, मुनिका भेष रख लिया, और और बातें कर लिया तो मिथ्यात्व भाग जायगा। अरे मिथ्यात्वको तो आलम्बन चाहिए, होकर रहता है, जो अपना भेष बनायेगा उसको वह मिथ्यात्व सतायेगा। मिथ्यात्वकी गिजा सब जगह भरी पड़ी हुई है। उस मिथ्यात्वको भूखों मरनेका कहाँ अवकाश है? उसका तो सर्वजंतुवर्ष पर राज्य है। तो इसके तो बस कोई भी पर्याय हो, जहाँ उसमें आत्मत्व स्वीकार हुआ, मैं यह हूँ तो मिथ्यात्व बन गया। कितना प्रसार है इस मिथ्यात्वका? कितने भेद प्रभेद हैं इस मिथ्यात्वके? अनन्त शक्तियाँ हैं मिथ्यात्वकी, जिन शक्तियोंके वश हुआ यह सारा संसार दुःखमय है। किसीको अवक्तव्य वक्त्र है तो किसीको

प्रकट क्लेश है। ऐसे क्लेशभूत मिथ्यात्वसे हटनेका उपाय इस जीवनमें बनाना अति आवश्यक है। इस उपायको बनानेके लिए कुछ ध्यान दें, कुछ समय दें, कुछ उपयोग दें, साहस बढ़ावें, सत्संग करें और इस बाह्य धन वैभव सम्पदासे उपेक्षा रखें तो वह उपाय अवश्य मिल जायगा जिससे संसारके समस्त संकटोंसे छुटकारा प्राप्त हो जायगा।

जघन्यमध्यमोत्कृष्टभावैर्वापरिणामिनः।

शक्तिभेदात्क्षणं यावदुन्मज्जन्ति पुनः पृथक् ॥१०४३॥

कारुं कारुं स्वकार्यत्वाद्वन्धकार्यं पुनः क्षणान्।

निमज्जन्ति पुनश्चान्ये प्रोन्मज्जन्ति यथोदयात् ॥१०४४॥

मिथ्यात्वकी महावैरिता—प्रकरण यह बताया जा रहा है कि इस मिथ्यात्व महाराज का जगतके सारे जीवोंपर कैसा महान् साम्राज्य छाया है? यह संसारियोंमें प्रत्येक जीवोंमें यह मिथ्यात्व बसा है किन-किन जातियोंका किस किस प्रकारका? एककी दूसरेसे विलक्षणता है फिर भी मिथ्याभावकी, कर्मकी जितनी शक्तियाँ हैं वे प्रतिक्षण परिणमनशील हैं, उदयमें आती हैं, बदलती हैं, नाना परिणमन करती हैं और जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भावके रूपमें प्रकट होती हैं। इतने शक्ति भेद हैं। कैसा एक कीचड़ भरा पोखरा जहाँ इतनी गंद-गियाँ कहां कहां, कैसे कैसे महती बिंबोंके रूपमें तरंग भंवर उठती हैं, यह सब कलुषता मिथ्यात्वभावकी ही तो है। इस जीवका सबसे बड़ा बैरी कौन? मिथ्यात्व। सबसे बड़ा उपद्रव क्या? मिथ्यात्व। आश्चर्य है कि जो सबसे महान् उपद्रव है, उसके दूर करनेकी तो बात मनम ही नहीं आयी और जो कुछ उपद्रव ही नहीं, कुछ कष्ट ही नहीं, बाहरी बातें हैं, पौद्गलिक ठाठ है, कुछ आया तो क्या, गया तो क्या, रहा तो क्या, उनमें यह सारा उपयोग लग रहा है, इसका विग्रह करना, इसका अनुग्रह करना। इस जीवका महान् बैरी है मोह-भाव, मिथ्यात्वभाव, जिसने कि दुविधा डाल दी है। यह मेरा है, यह गैर। आज जिन बच्चों का आप गैर मानत वे हो बच्च और आपके घरमें आये होते तो आप उनसे मोह करते और जो जीव आपके घरमें आये हैं, वे किसी दूसरी जगह आये होते तो आप उन्हें गैर मानते। तो यह जीव वसूलेकी तरह अपनी कल्पनायें ही तो बना रहा है। कुछ रास्ता तो नहीं है कि यह मेरा है, यह दूसरा। जीव—जीव तो स्वरूपतः सब एक समान हैं। सो यह मिथ्यात्व-भाव कैसे-कैसे उठ रहा है, इससे ये जगतके जीव क्लेश पाते हैं, यह उठता है और अपनी कल्पना करके यह व्यर्थ भी अपना कार्य करके शीघ्र शान्त हो जाता है। उनका कार्य क्या? बन्धन। जैसे कोई मनुष्य इतना कषायवान है कि दूसरेपर कभी विरोध आता है तो वह मनुष्य यह कहकर मरता है कि अभी क्या हुआ, मैं मरकर अगले भवमें भी इसे सताऊँगा याने य कर्म भी उदयम आकर मरते ही ता ह। उदय कहते इसको ह कि कर्ममें जो अनुभाग

आया है, प्रकृति पड़ी है वह सब नष्ट हो रही है अन्तिम समयमें कर्ममें से, यह उदय है, तो मानो ये कर्म कह रहे हैं कि इतनेसे ही क्या हुआ, हम तो और कर्म बँधाकर मर रहे हैं। जैसे कोई मरता हुआ पुरुष दूसरेको तैयार करके मरे कि अब तुम बदला इसका लेना, ऐसे ही ये कर्म उदयमें आ रहे, मगर मानो नवीन कर्मोंको उत्पन्न करते हुए ये मिट रहे। नवीन कर्म-बन्ध होता रहता है, पिछले कर्म शान्त होते रहते हैं और उनके दूर होते ही दूसरी शक्तियाँ अपने उदयके अनुसार फिर प्रकट हो जाती हैं। इन शक्तियोंका कार्य है जीवको बंधनमें रखना।

मोहकी उन्मत्तता—लोग कैसी पागलोंकी भाँति चेष्टा कर रहे हैं ? इसको अन्य लोग क्यों नहीं समझते कि सब पागल हैं ? अगर १०० पागल बैठे हों तो कोई पागल किसीको पागल मान बैठता है क्या ? जो पागल न हो वह ही तो समझेगा। पागल तो पागलोंको पागल नहीं मानता, ऐसे ही मोहमें उन्मत्त हुए अपने बुद्धि विवेकको खो रहे ये संसारी प्राणी सभीको ही एक सच्चा समझ रहे, ये ठीक कर रहे, आगे-आगे होड़ मचा रहे, यह पागल-पन नहीं है क्या ? वस्तु तो है और तरह और यह मानता है और तरह, यह पागलपन ही तो है। लोकमें भी तो यह देखा जा रहा है कि वस्तु है और भाँति, मानते हैं और भाँति सो कह देते—यह पागल। यहाँ जीव-जीव सब एक समान हैं, उनमें कौन अपना कौन पराया ? पर भीतरमें यह बुद्धि बन जाय कि ये तो मेरे हैं, ये गैर हैं, यह पागलपन है या नहीं ? मकान, वैभव वगैरा ये साथ लाये क्या ? साथ जायेंगे क्या ? इनसे कुछ मतलब है क्या ? यह ज्ञानदर्शनात्मक आत्मा, इसका इस वैभवसे क्या मेलजोल ? लेकिन यह मान रहा कि यह मेरा है, यह अच्छा है, तो यह पागलपन है या नहीं ? तो मिथ्यात्वसे उन्मत्त होकर यह जीव कैसी-कैसी विडम्बना बना लेते हैं। इसका निमित्त कारण क्या है ? कर्मोदय। यह कर्मोदय जघन्य अनुभाग, उत्कृष्ट अनुभाग, उत्कृष्ट अनुभाग, जिस शक्तिको लेकर फल रूपमें सामने आता है उसी रूपसे अपना फल निकालता है और उसका प्रतिफलन पाकर जीव उसी प्रकारकी विडम्बना बना लेता है ? इतना ही नहीं, फल किया और अनंत कर्मोंका बंध कराकर नष्ट हुए। तो यह परम्परा चलती रहती है। उदय आया, बन्धन हुआ, उदय आयगा, बन्धन होगा। संसारमें यह जीव परिभ्रमण करता है। यह परम्परा कब मिटेगी ? जब कभी सुयोगवश कोई अच्छा उपदेश मुनिको मिला, उसमें अपना मन लगाया, तत्त्वको समझा, भेदविज्ञानकी बात चित्तमें आयी तो उन अनन्तानुबंधी कषायोंमें कुछ फर्क तो आयगा, इसका भाव बढ़ेगा, कषायें क्षीण होंगी, इसे सम्यक्त्व होता। सम्यक्त्व हुए बाद फिर इन सब बातों को समझ रहा कि ये सब जीव मोहमें उन्मत्त हैं।

बुद्धिपूर्वकमिथ्यात्वं लक्षणाल्लक्षितं यथा ।

जीवादीनामश्रद्धानं श्रद्धानं वा विपर्ययात् ॥१०४५॥

बुद्धिपूर्वक मिथ्यात्वमें जीवादितत्त्वोंकी अश्रद्धा व विपरीत श्रद्धा — बताया गया था कि मिथ्यात्वसे ग्रस्त सारा जीवलोक है । पर किन्हींमें वह मिथ्यात्व बुद्धिपूर्वक प्रकट है और किसीमें प्रकट नहीं है । उस बुद्धिपूर्वक मिथ्यात्वका क्या मतलब है ? उसका विवरण इस श्लोक में दिया जा रहा है । जीवादिक पदार्थोंका श्रद्धान न करना, जीवादिक तत्त्वोंका उल्टा श्रद्धान करना यह है बुद्धिपूर्वक मिथ्यात्व । बताओ यह बात सब जीवोंमें कहाँ देखनेको मिल रही ? जो थोड़ा बहुत समझदार हैं, संजी हैं, कुछ बोल-चाल जानते हैं तो समझमें आता । जीवादिक ८ तत्त्वोंका सही रूपमें श्रद्धान न होना, उसके उल्टे रूपमें श्रद्धान होना यह सब बुद्धिपूर्वक मिथ्यात्व है । कोई लोग मानते हैं कि जीव कुछ नहीं है, बस पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदिक मिलकर बन गए । शरीर तो उनका जो मिलाप है उसीका नाम जीव है, पर जब मिट्टी, जल वगैरा विघट जाते हैं, मिट्टीमें मिट्टी, पानीमें पानी, जब ये विघट जाते हैं तो ये जीव नहीं रहते । बस जीवका कोई स्वरूप नहीं । जीव तो एक मान लेने भरकी बात है । इस बारेमें अगर बहुत व्याख्यान दिया जाय, कहा जाय उनकी ओरसे तो ऐसा लगने लगेगा कि यह सब सच है । मगर तत्त्वस्वरूपसे देखो तो जो सत् है वह कभी मिट सकता है क्या ? पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश ये पाँचों ही अचेतन हैं । अचेतन कितने ही मिल जायें उनके चैतन्य प्रकट हो सकता है क्या ? मगर चूँकि पर्यायमें मौजकी बात मनमें आ रही, खूब खाया, खूब विषय सेये, जो कुछ समझ रखा है उसी रूप रहना चाहते तो श्रद्धा वैसी ही होती है । जब जीवके बारेमें सही श्रद्धा नहीं बनती तो जीवको समझें क्या ? जहाँ जीव अजीव न रहें तो आस्रव बंध किसका ? सम्बर, निर्जरा किसकी ? मोक्ष भी कौन पहुँचे ? बुद्धिपूर्वक जहाँ मिथ्यात्व है वहाँ कष्ट है, शान्तिका मार्ग वहाँ नहीं मिल सकता । तो बुद्धिपूर्वक मिथ्यात्वमें कैसी-कैसी विडम्बनायें जगती हैं जीवको, उनका कुछ वर्णन करते हैं ।

सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रागेवात्रापि दर्शितः ।

नित्यं जिनोदितैर्वाक्यैर्ज्ञातुं शक्या न चान्यथा ॥१०४६॥

दर्शितेष्वपि तुष्णच्चैर्जनैः स्याद्वादिभिः स्फुटम् ।

न स्वीकरोति तानेव मिथ्याकर्मोदयादपि ॥१०४७॥

आगमवर्णित परोक्षभूत पदार्थोंमें मिथ्यादृष्टिका निषेधाशय — शास्त्रोंमें प्रथमानुयोगमें पुराणपुरुषोंके चरित्र हैं । राम, कृष्ण, भगवान तीर्थंकर सभीके उसमें चरित्र आये । ग्रन्थोंमें, शास्त्रोंमें सूक्ष्मसे सूक्ष्म चीजें बतायी गईं । प्रमाण क्या है, कितने प्रदेश हैं, कैसा स्वरूप है ? दूर दूरकी चीजें भी बतायी गई हैं । कितने द्वीप समुद्र हैं, कैसे स्वर्ग हैं, कहाँ मेरु

आदिक हैं, मगर ये मिथ्यादृष्टि जोव उनका श्रद्धान नहीं कर सकते। उसे यह ज्ञात ही नहीं, उसकी श्रद्धामें ही नहीं कि ये सब चीजें सूक्ष्म वस्तु, दूरकी वस्तु, ये सब किसीके प्रत्यक्ष हो चुकी हैं और जिनके प्रत्यक्ष हुई हैं उनको दिव्यध्वनिमें सब आया है। जिनेन्द्रदेवके वाक्य उनसे जानें, वे अन्यथा नहीं हैं, सही हैं। देखो जिस पुरुषके प्रति आपको यह श्रद्धा हो गई कि यह पुरुष निष्पक्ष है, इसको किसोसे रागद्वेष नहीं है तो यह जब जब जो जो कुछ भी बात बोलता है तो सही बोलता है, ऐसी कई बातें आपकी ये परिचयमें आयी हैं ऐसा पुरुष यदि कोई ऐसी भी बात कहे कि जो आपके परिचयसे दूर है तो भी आप उसे निःशंक मानेंगे। इसका कहा हुआ है, भूठ कैसे हो सकता? ऐसे हो जिनेन्द्र वीतराग सर्वज्ञ रागद्वेष रहित समस्त लोकालोकके जाननहार उन्होंने जो-जो बात प्रकाशित की हैं युक्तिमें उतरने वाली जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष उन तत्त्वोंका स्वरूप, आत्माका स्वरूप अनुभवका स्वरूप जो-जो भी बताया है वह सब युक्तिमें सही उतरे, इतना मनने उन्हें स्वीकार कर लिया, ऐसा वीतराग सर्वज्ञ निर्दोष भगवानकी ध्वनिमें परोक्षकी बात नरक, स्वर्गके मेरु द्वीप समुद्र, जिसे हम जाकर देख नहीं सकते। अतीत कालकी बात, भविष्यकाल की बात, जो जो कुछ भी कहा गया उनको हम प्रत्यक्ष तो नहीं कर सकते। तो वह भी सही है ऐसा ज्ञानीके निर्णय रहता है, क्योंकि बड़े कामकी प्रयोजनभूत बातें जब युक्तिसे उतर चुकीं और हम मान सकें कि इन सब जीवादिक तत्त्वोंका विरूपण बिल्कुल सही है, भूठका रंच काम नहीं है, तो ऐसे ये निर्दोष भगवान द्वीप समुद्र आदिक या भूत भविष्यकी घटना, इनका प्रकाशित करना तो भूठ कैसे हो सकता, किन्तु अज्ञान, ममता, मोह इतना स्वच्छन्द है कि कहते हैं कि सब एकदम भूठ। हमें आँखों दिखावो। उनसे कहो कि तुम्हारे बाबा दादा और उनके पड़बाबा वे थे कि नहीं? वहाँ तो कहेंगे कि थे। पर वह कहता कि हम नहीं मानते, हमें आँखों दिखावो तो मान लें। तो जैसे आँखों नहीं दिख रहे वे बाबा पड़ बाबा, परन्तु इनमें तो कोई संदेह नहीं करता। तो यह कोई बात नहीं है कि जो आँखों न दिखे वह है ही नहीं।

आगमवर्णित चरित्रादिसे तत्त्वपथका श्रद्धान—शास्त्रोंमें भगवानकी दिव्यध्वनिसे चला आया, शास्त्रोंमें मोक्षगामी जीवोंके चरित्र लिखे, किन्तु मिथ्यादृष्टियों। मिथ्या सम्भ्र कर सभी शास्त्रोंको तालाबोंमें फेंक दिया। जैसे लोगोंने उपन्यास गढ़ दिया, उल्टी सी जो बातें लिख दीं, उसी तरहका विश्वास ये मोहोजन इन शास्त्रोंके प्रति करते हैं। उनके चित्तमें वीतराग सर्वज्ञदेवका कुछ आदर ही नहीं है। तो जब तक मिथ्यात्वका उदय है, तब तक इस जीवको कल्याणका प्रारम्भ ही नहीं होता। जहाँ यह मोहविष दूर हुआ, अपने आत्मामें तो सहजस्वरूपकी जानकारी हुई, अनुभूति हुई वहाँ ता इसे इस सारी दुनियाका सही स्वरूप

चित्तमें आता है। इस दुनियासे हटना है, इससे हटना ही योग्य है, यह लगनेके लिए नहीं है। इससे एक ही निर्णय होता ज्ञानीके। हटना तो सदा बन जायगा, लगना सदा नहीं बन सकता। हटनेमें तो आनन्द है, लगनेमें शान्ति नहीं है। तो मिथ्यात्वके उदयमें इसे न देवकी श्रद्धा है, न शास्त्रकी श्रद्धा है और न गुरुकी श्रद्धा है। इसके चित्तमें ही नहीं आता कि ऐसे निर्दोष आत्महितके अभिलाषी आचार्य क्या कहीं झूठ बात भी लिखते? उनके स्वरूपपर श्रद्धा नहीं पहुंची। एक बात यह भी जानें। कोई ऐसा कहे कि क्या हर्ज है? उपन्यास ही सही, उपन्याससे भी तो शिक्षा मिलती है कि ऐसे पुराण पुरुषोंके चरित्र रहे। ठीक है, पर बात यह है कि अस्थायी, थोड़े देरको मन खुश होने वाली शिक्षा मिल जाय उपन्यासोंसे मगर तत्त्वपथका निश्चयविधिका ज्ञान कभी नहीं हो सकता उपन्यासोंसे, और पुराण पुरुषोंके चरित्र पढ़े तो शिक्षा भी मिलती है और निश्चयनयका ज्ञान भी होता है। उन्होंने क्या सोचा, क्या आराधना की, कहाँ चित्त जमायें, यह सब वर्णन आता है सही-सही निश्चयपथमें। तो शास्त्रों में जो कुछ लिखा है उससे तो पथ भी मिलता है शिक्षा भी मिलती है। जो सही-सही बात है वहींसे सही पथ मिलता है।

पुराणपुरुषोंके चरित्रसे हितप्रेरणा—रावणने जब बलिपर उपद्रव करना चाहा, बलि कैलाश पर्वतपर तपस्या कर रहे थे उस पर्वतको फेंटना चाहा, पर उठा न सका, दब गया तो रोषमें आकर बोला कि यहाँ कौन दुष्ट बैठा है जिसने हमें तकलीफ दी? सो देखा मुनि श्री बलि महाराज दिखे। देखते ही रावणकी कषाय शान्त हो गई, भक्ति उमड़ गई, आखिर उनके भीतरका स्वरूप ज्ञानमें आया न? उस समय इतनी उमंग हुई कि वहाँ स्तुति गाने लगे। संगीतके जानकार थे रावण। संगीत साज तो कोई साथ था नहीं, तो हाथके पहुंचेकी नसा निकालकर उसीको बजाने लगे। एक कितनी अद्भुत भक्ति थी? बताया है कि वहाँ तीर्थंकर प्रकृतिके बंधके कारणोंकी प्रक्रिया चली। ऐसी एक घटना है। रामचन्द्र जब निर्ग्रन्थ मुनिराज हुए तो वहाँ सीताके जीव प्रतीन्द्रने सोचा कि ये हमसे पहले मुक्त क्यों हों, इन्हें विचलित करें, थोड़े दिन और संसारमें रहें, बादमें हम और वह दोनों एक साथ मोक्ष जायेंगे। सो वहाँ आकर उस सीताके जीवने विघ्न डाला। जहाँ श्रीराम तपस्या कर रहे थे वहाँ सीताने आकर नाना रूप दिखाये—रावण सीताके केश खींच रहा है, सीता हाय राम, हाय राम कहकर पुकार रही है, यह दृश्य इसलिए दिखाया कि श्रीराम अपनी तपस्यामें विचलित हो जायें, पर वहाँ क्या था? वहाँ तो अपने आत्माके स्वरूपका यथार्थ रमण जग गया था। वह अपने आत्मस्वरूपमें लवलीन थे, रंच भी विचलित न हुए। इस दृश्यमें शिक्षा आत्महितप्रेरणा बड़ी दृढ़ता से घर कर जाती।। अंजन चोर जैसे पापी पुरुष जो कि वेश्यागामी था, चोर भी था, चोरी करके भागा, उसके पीछे कोतवाल भागा। कुछ दूर जाकर एक मुनिराज दिखे। अंजन चोरने

मुनिराजके सामने हार फेंक दिया इसलिए कि चोर मुनिराज समझे जायें, मैं न समझा जाऊँ। आखिर कोतवालने चोरीका हार मुनिराजके पास देखा, मुनिराजपर क्रोध करके तलवार चलाया, पर वह तलवार फूल बन गई। अंजन चोर आगे बढ़ गया, एक जगह क्या देखा कि कोई सेठ आकाशगामी विद्या सिद्ध कर रहा था, एक पेड़पर लटके झूलेपर बैठा था। नीचे बड़े बड़े शस्त्र रखे थे। वह नमस्कार मंत्र पढ़कर, सीक तोड़कर आकाशगामी विद्या सिद्ध कर रहा था। वहाँ अंजन चोर पहुँचा। बोला—महाराज यह साधना हमें भी बताओ। आखिर उस सेठने उस अंजन चोरको णमोकार मंत्र सिखाया। उसने मंत्रकी आराधना की और अंजन चोर को आकाशगामिनी विद्या सिद्ध हुई, तो इन दृष्टान्तोंसे हम अपने अन्दर एक ऐसी प्रेरणा लायें कि जिससे हम आत्मस्वरूपकी दृष्टि करें और भव-भवके बाँधे हुए कर्मबन्धनको क्षणभर में ध्वस्त करें।

मिथ्यात्वकी व्यक्त नाना मुद्राओंमें अज्ञानीकी दुस्सह चोटें—जिनेन्द्रदेवके परम्परागत शास्त्रोंमें जो कुछ भी वर्णन आया है उसपर यथार्थ श्रद्धान करें, उसके अनुसार अपने जीवन में चलें तो इससे आत्मदृष्टि करनेके लिए एक बहुत बड़ा बल मिलेगा। यहाँ कुछ जरासा धार्मिक काम कर लिया तो उससे संतुष्ट न हो जावें। मान लो कोई व्रत कर लिया, उपवास कर लिया तो इससे कहीं धर्मात्मा नहीं बन गए। देखो उपवास करनेका अर्थ है—अपने आत्माके समीप ठहरना, पर देखा क्या जाता है कि उपवास करने वाले लोगोंको गुस्सा बहुत आता है। तो वहाँ उपवास रहा कहाँ? उसने यह जाना ही नहीं कि यह ज्ञानस्वरूप आत्मा इन कषायोंसे भिन्न है। इसका केवल जानन ही कर्तव्य है। जाननके सिवाय यह कुछ नहीं करता। जानने जाननेकी ही वृत्ति इसमें बनती रहती है। यह जाना ही कहाँ है और लोक-व्यवहारमें चूँकि मान्यता बढ़ती है, लोग समझते हैं कि यह बड़े धर्मात्मा हैं, ऐसी समझ है अन्यथा दसलक्षणमें तो १०-१० उपवास तक कर डालते, परन्तु बाकी समयमें याने बाकी सालभर उसकी सुध भी नहीं रखते। तो ऐसी विषम वृत्ति तो अज्ञानमें हुषा करती है। पर्यायमें आत्मबुद्धि है इस कारणसे जब अपनी इच्छाके खिलाफ कोई प्रवृत्ति देख ली जाती है तो वहाँ क्रोध जग जाता है। यहाँ मिथ्यात्वकी चर्चा चल रही है कि यह मिथ्यात्व किन-किन भेषोंमें अपना अड़्डा जमाये हुए है? बुद्धिपूर्वक मिथ्यात्व तो यह है कि इसको देव, शास्त्र, गुरुकी समीचीन श्रद्धा नहीं हो पायी। परोक्ष पदार्थोंमें तो अपनी दृष्टि जाती नहीं, इन्द्रियका वहाँ कुछ काम नहीं और भगवानके उस वीतराग सर्वज्ञके स्वरूपकी श्रद्धा नहीं, उनही परमऋद्धिके चमत्कारका भान नहीं तब फिर क्या करेगा यह अज्ञानी? यह ही तो अपनी बुद्धि रखेगा कि जो हमें आँखोंसे दिखे वह तो सच और जो आँखों न दिखे वह मेरे लिए कुछ नहीं। अरे आँखों दिखे वह भी तो झूठ निकलता। लौकिक दृष्टिमें भी झूठ निक-

लता । देखें आप कुछ और, बात हो और कुछ, ऐसा भी तो होता है । आँखों देखा भी सच कहाँ, मगर यह अज्ञानी, बस जो आँखों दिखा वह तो सच समझता और जो आँखों नहीं दिखता, जो परोक्ष है उसपर श्रद्धा नहीं करता । ऐसा विपरीत भाव इस मिथ्यात्वकर्मके उदय से बनता है ।

ज्ञानानन्दौ यथा स्यातां मुक्तात्मनो यदन्वयात् ।

विनाऽप्यक्षशरीरेभ्यः प्रोक्तमस्त्यस्ति वा न वा ॥१०४८॥

मिथ्यादृष्टि जीवको मुक्त जीवके ज्ञान और आनन्दमें संदेह —जिस जीवके मिथ्याभाव छाया है उसकी चर्चा चल रही है कि उसके भाव किस-किस प्रकारके रहते हैं, मिथ्याभाव किस-किस प्रकारके रहते हैं ? मिथ्यादृष्टिको, अज्ञानीको जिसने अपने स्वरूपका परिचय नहीं पाया, ऐसे मोही पुरुषको इस बातमें ऐसी शंका रहती है कि कहीं सिद्ध प्रभुको ज्ञान और आनन्द भी है क्या ? मोही अपनी इन्द्रियसे ज्ञान पा रहा है तो ज्ञानमें इन्द्रिय सहायक है, निमित्त कारण है, आलम्बन है और सुखमें भी यह जीव जान रहा है । इसी कारण इन्द्रिय ज्ञात और इन्द्रियज सुख बताया है । तो इन्द्रियज ज्ञान और इन्द्रियज सुख भोगने वाले इस व्यामोही जीवको इसमें शक रहता है कि जिसके इन्द्रियाँ नहीं उसे सुख कहाँसे होगा, ज्ञान कहाँसे होगा ? मुक्त जीवोंका वर्णन सुनते हैं कि उनके शरीर भी नहीं रहा, कर्म भी नहीं रहा, खालिस आत्मा ही आत्मा रहा, उसे मुक्त जीव कहते हैं, ऐसा सुनकर इनको शक होता है कि कहीं ऐसे जीवोंको भी ज्ञान मिल सकता ? इन्द्रिय ही नहीं तो मुक्त भगवान ज्ञान किस बातसे करें ? इन्द्रिय ही नहीं तो उनको सुख किस बातका है ? यहाँ तो स्पर्शनका सुख, रसनाका सुख भोगते । मुक्त जीवोंको कहाँ ये सुख धरे ? उनके जीभ ही नहीं है तो खानेका आनन्द कहाँ रखा ? यहाँके लोग घ्राणेन्द्रियसे कैसे-कैसे भुगंधित पुष्प या तैल सूँघा करते हैं, वहाँ घ्राणेन्द्रिय नहीं है तो सुगंधका आनन्द भी नहीं है, रूप देखनेका भी वहाँ आनन्द नहीं है, क्योंकि उनके आँखें नहीं हैं । खाली आत्मा ही आत्मा क्या करेगा ? जब रूप नहीं देख पाते, पक्वचर नहीं देख पाते तो उनको आनन्द किस बातका ? उनके कान ही नहीं हैं तो सुननेकी बात वे क्या करेंगे ? जो मौज यहां बड़ी-बड़ी रागरागिनीकी ध्वनियाँ सुनकर मिलता है वह मौज कहाँ रखा भगवानमें ? यों भगवानके ज्ञान और आनन्दमें ये मोही जन इस प्रकार की शंका रखते हैं । जब कोई शास्त्र बांचते कि मुक्त आत्मा सबसे महान् आनन्द वाले हैं, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तआनन्द, अनन्तशक्ति वाले हैं तो ऐसा बांचकर वे समझते कि यह तो सब गप्प है, मौज वाले तो हम हैं । देहरहित मुक्त आत्माओंको इस तरहका मौज कहाँ रखा, ऐसा संदेह ये मोही अज्ञानी जन करते हैं । मोहियोंको यह पता नहीं कि ज्ञान और आनन्द तो इस आत्माका स्वरूप है, ज्ञान और आनन्दसे ही यह आत्मा रचा है । यह आत्मा

ज्ञानानन्दका पुत्र एक अमृततत्त्व है, उसको ज्ञान करनेके लिए इन्द्रियकी आवश्यकता नहीं होती ।

शरीर, इन्द्रिय व कर्मोंकी ज्ञानानन्दप्रकर्षमें बाधकता—यहां तो हम संसारी जीवों को जो इन्द्रियां मिली हैं वे तो ज्ञानमें बाधक हैं । जैसे किसी कमरेमें, हॉलमें कोई पुरुष खड़ा है तो अब वह खिड़कियोंसे ही बाहरमें देख सकता कि कहां क्या हो रहा है ? वहां कोई यह भी सोच सकता कि देखो इन खिड़कियोंसे देखना हो रहा, बाहरमें होने वाले दृश्योंको ये इन्द्रियां देख रहीं, क्योंकि हॉलमें से खिड़कियोंके सिवाय और कुछ जाननेका उपाय नहीं है । उसे यह पता नहीं है कि ये खिड़कियां तो हमारी सब तरहसे देखनेमें बाधक हैं । न होता यह हॉल, भीत, घर, क्योंकि भीतके बिना खिड़कियां नहीं होतीं, तो फिर यह चारों तरफके, दृश्योंको देखता रहता । इसको तो कोई भूल जाय और यह माने कि यह तो इन खिड़कियोंकी बड़ी कृपा है जो बाहरकी बात देख पा रहे हैं तो उसमें अपने आपके सामर्थ्यका विश्वास तो नहीं किया कि मैं सब तरफसे देख सकने वाला हूं, ऐसे ही इस मोही अज्ञानी जीवने अपनी आत्म-शक्तिपर विश्वास तो नहीं दिया कि इस आत्मामें तो सर्व ओरसे सर्व कुछ जाननेका स्वभाव पड़ा है । यह इन्द्रियोंसे नहीं देखता । शरीरइन्द्रिय या कहो इस आवरणने इस ज्ञानको ढक लिया तो थोड़ीसी खिड़कियां नाक, आंख, कान वगैरा मिले हैं जिनके द्वारा यह जानता है, अरे जहाँ ये इन्द्रियां नहीं, खालिस आत्मा है, वह ज्ञानस्वरूप आत्मा पूरा ज्योंका त्यों स्वभाव में प्रकट हुआ, अब वह चारों ओरका सब कुछ जानेगा । भगवान् मुक्त जीव सब तरहसे मुक्त हैं तो वे सर्व ओरसे त्रिकालवर्ती, त्रिलोकवर्ती समस्त पदार्थोंको जानते हैं । यही बात आनन्द की है । यही मोही जीव समझते हैं कि हमको इन्द्रियां मिली हैं उनसे आनन्द मिल रहा । अरे आनन्द तो आत्माका स्वरूप है, सहज आनन्द, सत्य आनन्द, निराकुल अवस्था । यह तो आत्माके स्वरूपकी बात है । केवल चेतनेमें प्रतिभासमें वह निराकुलता बराबर चल रही है । तो आनन्द तो आत्माका स्वरूप है, इस शरीरने तो उस आत्मामें बाधा डाली । सत्य आनन्द मिल नहीं पाता, इन्द्रिय सुख, भूठा सुख, कल्पित सुख कभी-कभी मिलता तो उस सुखका कारण इन्द्रिय नहीं, सुखका कारण भी यह आनन्दस्वरूप आत्मा उपादान है । जैसे रेतमें तैल नहीं है तो उसे कोल्हूमें कितना ही पेला जाय, तैल नहीं निकल सकता, और तिलमें तैल है तो उसको कोल्हूमें पेला जाय तो तेल निकलता है । इसी तरह आत्मामें आनन्द है तो चाहे इन्द्रियसे प्रयोग करें या अपने आत्मध्यानसे प्रयोग करें, विकृत अविकृत थोड़ा बहुत आनन्द प्रकट हो ही जाता है । तो इस आनन्दस्वरूप आत्माकी इस अज्ञानीको सुख नहीं है । सो यही स्वीकार करता है कि हमारे इन्द्रियां हैं, उन इन्द्रियोंसे हमें बड़ा सुख मिल रहा है । मुक्त जीवोंके इन्द्रियां कहां, सो उन्हें ऐसा सुख कहाँसे मिलेगा ? इस तरह ये मोही अज्ञानी जीव

मुक्त जीवोंके ज्ञान और आनन्दकी श्रद्धा नहीं कर पाते ।

स्वतः सिद्धानि द्रव्याणि जीवादीनि किलेति षट् ।

प्रोक्तं जैनागमे यत्तत्स्याद्वा नेच्छेदनात्मवित् ॥१०४६॥

स्वतःसिद्ध जीव द्रव्यमें अज्ञानीकी श्रद्धा व विपरीत श्रद्धा—अज्ञानी जीव आगममें बताये गए द्रव्यके स्वरूप संख्या आदिककी श्रद्धा नहीं कर पाता, उसमें संदेह रखते कि लिख तो दिया है पुराणोंमें, पर ऐसा है नहीं, जब कि वस्तुका स्वरूप निर्वाध है, सब अपना अपना स्वरूप रखे हुए हैं । पदार्थोंकी सत्ता किसने बनाया ? भले ही किसी निमित्तको पाकर कोई पर्याय बन जाय, मगर उस मूलभूत द्रव्यकी सत्ताको कौन मेट सकता ? समस्त पदार्थ स्वतः सिद्ध हैं । ऐसे पदार्थ ६ प्रकारके हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल । इनके बारेमें यह अज्ञानी जीव सही श्रद्धा नहीं कर सकता । जीवको मानेगा कि बस ये पशु हैं, पक्षी हैं, कीड़े हैं, मनुष्य हैं, ये ही तो जीव हैं । जो कुछ आँखों दिख रहा है ये ही तो जीव हैं, इस तरह मानता है अज्ञानी । अज्ञानो यों श्रद्धा नहीं कर पाता कि जो दिख रहा वह तो पुद्गल जड़, रूप, रस, गंध, स्पर्शका पिण्ड है । यह जीव नहीं, किन्तु इसमें जो एक चेतने वाला समझने वाला प्रतिभास वाला पदार्थ है आकाश की तरह अमूर्त, लेकिन यथार्थ स्वरूप को न जाननेके कारण बन रहा है मूर्त, जैसे बन्धनमें पड़ा, शरीरमें फँस रहा । अरे उस वास्तविक स्वरूपको यह अज्ञानी जानता नहीं है । जीवके बारेमें इसको संदेह है कि कहाँ है जीव ? खुद जीव है और जीवकी श्रद्धा निःसंदेह करता है । अब इसे कोई उन्मत्त कहेगा या नहीं ? जैसे कोई पुरुष मदिरा पिये हुए है और अपनेको कह रहा—अरे फजाने कहाँ गए, ढूँढ़ो किस जगह हैं, यों अपने बारेमें कहता फिरे तो सुनने वाले लोग उसे पागल कहेंगे । यों अज्ञानी मोही जीव जब अपने बारेमें सोचता है कि मैं जीव हूँ या नहीं तो उसे क्या कहा जाय ? चेतनका ज्ञान दर्शन स्वरूप है, चैतन्यमय है, परमार्थतत्त्व है उसे तो जान नहीं पाता और मानता है अपनेको शरीररूप, अनेक चेष्टाओं रूप । अरे वह उससे अनुभव करता है कि मैं सुखी हूँ, दुःखी हूँ, गरीब हूँ, अमीर हूँ आदिक अनेक चेष्टाओं रूप अपनेको मानता है । तो मिथ्यादृष्टि जीवको किसीको तो जीवके बारेमें संदेह है और कोई जीवके बारेमें उल्टी श्रद्धा रखता है ।

स्वतःसिद्ध पुद्गल, धर्म, अधर्म द्रव्यमें मिथ्यादृष्टि जीवके विपरीत श्रद्धा—मिथ्यादृष्टि पुद्गलको भी क्या जाने ? शरीर पुद्गल है । पुत और गल, पुत मायने पूरा हो जाय और गल मायने गल जाय, याने कुछ ढेर मिल जायें तो बड़े हो गए, कुछ खिर गए तो गल गए, छोटे हो गए, तो यह मिलावट, यह बदल, यह संघात पुद्गलका है । इससे एक-एक प्रमाणमें सो वास्तविक द्रव्य है । उन द्रव्योंका मिलकर जो पिण्ड बनता है वह द्रव्य व्यञ्जन पर्याय

समानजातीय द्रव्य व्युत्पन्न पर्याय है, यह सब मायारूप है। यह कुछ सही नहीं है, यह सदा टिकने वाली नहीं है। सुन्दर रूप बन गया, सुन्दर आकार बन गया तो क्या है? मायारूप है, अनेक परमाणुओंका पिण्ड है, ऐसी श्रद्धा नहीं है, और इस पदार्थको देखकर ऐसा ही मानता है—वाह-वाह कितना स्वरूप है, कितना भला है? पुद्गलके बारेमें भी इस मूढ़को यथार्थ श्रद्धा नहीं है धर्म अधर्मरूप बातको गण्य मानता है। धर्मास्तिकाय सब जगह व्यापक है और उसके बिना जीव पुद्गल चल-फिर नहीं सकते। अज्ञानी कहता है कि कितनी बड़ी गण्य की जा रही है? कहाँ घरा है धर्मद्रव्य? वह आँखों दिखता नहीं, पकड़में आ सकता नहीं। और अधर्मद्रव्य भी ऐसा ही है। तो धर्म अधर्मके बारेमें शंका होना, संदेह होना यह तो बहुत अधिक निसर्गिक बात है। जिसको भगवानके स्वरूपकी श्रद्धा है और भगवानकी दिव्यध्वनिमें जो तत्त्वका स्वरूप दर्शाया गया है जीव अजीव आदिक कैसा आस्रव, कैसा बंध, कैसा संस्वर? आत्माकी ओर अभिमुख हों तो संस्वर निर्जरा, परकी ओर अभिमुख हों तो आस्रवबंध जीव आदिक तत्त्वोंमें जब ज्ञानीकी श्रद्धा होती है और भगवानके उस पवित्र स्वरूप की श्रद्धा होती है तो जिनेंद्रदेवकी परम्परामें जो कुछ भी कथन हुआ उसमें उसे रंच भी संदेह नहीं। फिर कुछ युक्तियोंसे भी समर्थन करता है। जीव पुद्गल गमन करते फिरते हैं, आखिर कहीं तक तो फिरते हैं, कोई उसकी सीमा तो है? अनन्त आकाशमें नहीं है, उसका कारण क्या है? गमन किसी वातावरणमें होता है। सूक्ष्म ईश्वर शक्ति धर्मद्रव्य वह जहाँ है वहाँ है, जहाँ नहीं है वहाँ जीव पुद्गलका गमन नहीं है, इसी तरह अधर्मद्रव्य इस गमन करते हुए को ठहराता है, उसमें कारण है। तो अज्ञानी जीव कैसे धर्म, अधर्म जैसे सूक्ष्म पदार्थको मान सके, और जिसे प्रभुकी पवित्रतापर श्रद्धा है वह जानता है कि इनके उपदेशमें मिथ्या बात आनेका प्रसंग ही क्या? मिथ्याबात, झूठ बात कब आती है जब या तो अभिप्राय मलिन हो या ज्ञान कम हो। तीसरा और क्या कारण हो सकता झूठ बोलनेका? सो दोष एक भी नहीं, वीतराग भगवानमें और ज्ञानकी कमी नहीं। प्रभुमें केवलज्ञान है, वहाँ जो कुछ भी कहा जायगा उसमें असत्यका अवकाश ही नहीं है। आत्मा शुद्ध ज्ञानस्वरूप है। अब उसके बाधक कर्म साथ हैं तो जीवकी नाना दशा, विडम्बनायें बन रही हैं। वे कर्म अगर साथ न रहेंगे, हट जायेंगे तो पवित्र दशा अपने आप प्रकट होगी, ऐसे प्रकट स्वरूप परमात्माको यह अज्ञानी नहीं जानता, इसलिए प्रत्येक तत्त्वमें शंका करना।

स्वतःसिद्ध आकाश व कालद्रव्यमें मिथ्यादृष्टिकी अश्रद्धा व विपरीत श्रद्धा—आकाश आकाश वास्तवमें क्या है? एक सत्तावान पदार्थ है, उसमें अगुरुलघुत्व गुण है। आकाश प्रति समय अपना परिणमन करता रहता है। द्रव्य पर्यायात्मक है, वस्तुभूत है। जैसे आत्मा अमूर्त है, फिर भी वस्तुभूत है, इस तरहसे आकाशकी श्रद्धा नहीं है अज्ञानीको। वह तो देखता

है पोल, आसमान, उसे कहता है यह आकाश । खैर थोड़ा-थोड़ा तो ठिकानेपर है, मगर आकाशका जो स्वरूप है उस रूप तो नहीं समझता । जैसे लौकिक जन जिस तरहसे मानते हैं उसी तरहसे अज्ञानी मानता है, आकाशद्रव्यकी भी उसको श्रद्धा नहीं । कालद्रव्य, काल क्या ? जो समय चल रहा यह ही कालद्रव्य है । कुछ निर्णय नहीं कि समय क्या, समय कैसे प्रकट होता ? अरे घड़ी, घंटा आदिक ये समय नहीं । ये तो समयके समूह हैं । मिनट, सेकण्ड ये समय नहीं हैं, यह तो समयोंका समूह है । समय नाम कालद्रव्यकी पर्यायिका है । इतना सूक्ष्म काल है और उसकी ईकाई कितनी सूक्ष्म है यह आप एक दृष्टान्तसे समझ सकते हैं । एक अंगुली प्रमाण बिल्कुल पतली लाइन हो, जो की न जा सके एक-एक प्रदेशकी लाइन याने सूच्यंगुलमें अंगुल प्रमाण लाइनमें असंख्यात प्रदेश हैं । जो संख्यासे परे हैं और एक आवलीमें जो असंख्यात समयकी होती है उस आवलीके समय इतने हैं कि असंख्यात सूच्यंगुल गुना प्रदेश हो जायेंगे गणनामें याने एक आँखकी टिमकारमें असंख्यात आवली होती हैं याने कोई जैसे बहुत जल्दी पलक दबाता है तो उस भट आँख मीचने बराबर समयमें अनगिनते समय पाये जाते हैं । उनमें से एक समय, यह कहाँसे उत्पन्न होता ? यह होता है कालद्रव्यसे उत्पन्न, जो कालद्रव्य लोकमें प्रत्येक प्रदेशपर एक-एक मौजूद है । कैसा समय है, कैसा उनका पुञ्ज है, कैसे पदार्थके परिणमनका कारण है, इसे मोही अज्ञानी क्या समझे ? इनको कालद्रव्यपर भी श्रद्धा नहीं है ।

जीवादिक द्रव्योंके व आत्महितके विषयमें मिथ्यादृष्टिके विपरीत श्रद्धा—जीवादिक जो ६ पदार्थ कहे गए हैं जैनागममें वे हैं या नही, ऐसा संदेह रखता है अज्ञानी मिथ्यादृष्टि और उनको स्वीकार नहीं करता । कभी कुल-परम्परासे धर्म भी करे, मंदिर आये, पूजा-पाठ करे तो उसे भी वह अपना एक शृंगार समझता है । जैसे कोई अच्छे कोट, बूट, सूट पहिन लेता तो वह बड़ा अच्छा जंचने लगता, वे सब चीजें उसके शृंगारके लिए होती हैं, ऐसे ही मंदिर आना, पूजा-पाठ करना ये सब भी इस शरीरके शृंगारके लिए हैं, इस तरहका भाव रखकर भी तो ये सारी चेष्टायें बन जाती हैं । आत्माका स्वरूप, प्रभुका स्वरूप, अपने हितका भाव, ये मूलमें नहीं आ पाये । मिथ्यात्वकी चेष्टाकी बात रही आयी । दूर रहेंगे अच्छे कामोंसे और आयेंगे सुकार्योंमें तो अपने आपके शरीरका शृंगार समझ करके आयेंगे । जिन्होंने मान रखा है पर्यायिको कि यह मैं हूँ, जो समझते हैं कि इस बातसे मेरी शोभा है, धर्म क्या है ? आत्माके सही परिचय बिना आत्माका उद्धार हो नहीं सकता । अज्ञानी जीव इस बातको स्वीकार नहीं करता । आगमकी बातको भी पढ़ लेता, मगर उसपर विश्वास नहीं आता । मिथ्यात्वका ऐसा अद्भुत विशाल विराट् है, प्रभाव फैला हुआ है समस्त संप्रदारी जीवोंपर । इतना कठिन दुःख है इस जीवपर । इस कठिन दुःखको दूर करनेका भाव लाना चाहिए ।

नित्यानित्यात्मकं तत्त्वमेकं चैकदे च यत् ।

स्याद्वा नेति विरुद्धत्वात् संशयं कुरुते कुट्टक् ॥१०५०॥

आत्महितके प्रेरक नित्यानित्यात्मक तत्त्वपरिचयमें मिथ्यादृष्टिके संशय—मिथ्यादृष्टि जीव जैसी चीज है वैसी श्रद्धा नहीं करता, उल्टी-उल्टी मानता है। जैसे शरीर तो जीव नहीं है, पर यह मानता है कि यह ही जीव है। आत्मा सदा रहने वाला है, मगर यह मानता है कि आत्मा सदा रहता नहीं। जब तक शरीर है तब तक आत्मा है। जब शरीर नहीं है तो आत्मा नहीं है, इस तरहसे जानता है। जीव हमेशा रहता है और जीवमें पर्यायें बदलती रहती हैं। दोनों ही बातें हैं। सदा रहता है और पर्यायें बदलती रहती हैं याने नित्यानित्यात्मक है। जीव नित्य है और अनित्य भी है, मगर यह अज्ञानी जीव उसमें संशय रखता है, यह बात सत्य है या नहीं अथवा नित्य नहीं है, अथवा अनित्य नहीं है, इस तरहसे अनेक कुतर्क करके एकान्त पकड़ लेता है। अब जीवकी बात देखो—इतने जीव हैं, ये कहींसे तो आये तो शरीरको धारण किया। जब तक शरीरमें है तब तक यहाँ है। शरीरके बाद आगे जायगा किसी भवमें जायगा, कोई शरीर पायगा, जीव तो नहीं मिटता। अगर जीव मिट जाने वाला हो तो फिर धर्म किसलिए किया जाय, फिर पूजा-पाठ, विधान ये सब करने की आवश्यकता क्या? धर्म तो तब किया जावे जब ये दो बातें हों कि जीव सदा रहता है और पर्यायें बदलती रहती हैं। अगर जीव सदा न रहे, सदा रहने वाली चीज न हो तो धर्म क्यों किया जाय? क्योंकि जब तक शरीर है तब तक जीव है, सो खूब खाना पीना, मौज उड़ाना। शरीर गया तो जीव गया, फिर किसलिए बड़ी तपस्या करना? तो यह श्रद्धा होनी चाहिए कि जीव सदा रहता है तो वह कल्याणमें लगेगा और यह भी श्रद्धा रहनी चाहिए कि यह जीव जैसी करनी करता है उसके अनुसार वह आगे फल पाता है। जिस भवमें गया उसके अनुसार फल पायगा। इस कारण आत्मकल्याणकी बात हमें सर्व प्रथम सोचनी चाहिए। दो बातें श्रद्धामें आनी आवश्यक हैं कि मैं सदा रहने वाला हूँ और मेरी अवस्थायें बदलती रहती हैं, ये दो श्रद्धा नहीं हैं तो वह अपना उद्धार नहीं कर सकता। क्योंकि कोई यदि मान ले कि मैं सदा नहीं रहता तो फिर धर्म किसलिए करना? और अगर यह न मानें कि मैं नई-नई अवस्थायें बदलता रहता हूँ, कोई न कोई पर्याय मिलेगी, जैसा कलूँगा वैसा भरूँगा, यह निश्चित है। अगर यह न मानें तो धर्म किसलिए करना? आत्मकल्याणमें जीव कब लग पाता, जब कि जीवके बारेमें उसे यह श्रद्धा हो जाय कि यह द्रव्यदृष्टिसे नित्य है, पर्यायदृष्टिसे अनित्य है। पहले तो यह निर्णय होना चाहिए कि मैं द्रव्यदृष्टिसे सदा रहने वाला हूँ और पर्यायदृष्टिसे देखें तो मैं हर समय नई-नई पर्यायें लेता रहता हूँ। इन दो बातोंकी श्रद्धा हो तब तो वह आत्मकल्याणके लिए चाहेगा कि मैं ऐसा

कार्य कळ कि जिससे मेरी पर्याय खोटी न हों, संसारमें रुलना न हो, क्योंकि पर्याय तो होगी ही ।

**नित्यानित्यात्मक तत्त्वकी अर्थार्थ श्रद्धाके महत्त्वको परिचयकी मिथ्यादृष्टिकी अपा-
त्रतः—**जो भी पदार्थ है उसकी पर्याय तो होती ही रहती है, उसे कोई मेट नहीं सकता । पर्याय सामान्य जाने वह तो द्रव्यका स्वरूप है सो पर्याय होती रहेगी । अब हम कैसा प्रयत्न करें कि हमारी पर्याय खोटी न हो, धर्मके वातावरणमें हमारा उपयोग रहे और कोई निकट समय आये कि शरीरसे, कर्मसे मैं सदाके लिए जुदा हो जाऊँ, आनन्दमग्न हो जाऊँ । तो यह बात तब ही तो कर पायें जब कि मूलमें पहले यह मान लें कि मैं एक आत्मतत्त्व हूँ । जो सत् है वह सदा रहता है, मैं सत् हूँ, मैं सदा रहूँगा और चूँकि जो सत् है उसकी अवस्थायें बनती हैं, मेरी भी अवस्थायें बनती ही रहेंगी, तो ऐसी अवस्था बनना है अरहंत सिद्ध जैसी अवस्था प्राप्त हो, जिससे कि संसारके संकट सदाके लिए मिट जायें । नित्य स्वरूप है जीव और अनित्यरूप भी है जीव, दोनोंकी इस प्रकारकी श्रद्धा हो गई तो आत्म-कल्याणकी बात आ पायी । वह आत्मकल्याण क्या है ? अब भेदविज्ञान करके अपने स्वरूप का अनुभव बनाना यह है आत्मकल्याण करना । पूजा करते हैं तो वहाँ भी भगवानका स्वरूप निहारते हैं और उससे अपने स्वरूपकी पहिचान करते हैं और भगवानके उस पवित्र स्वरूपके प्रति आदर करते हैं ताकि यहाँ हमारी बुद्धि भर जाय कि यह ही पवित्रता है और इसी पवित्र स्वरूपमें आना है, तो नित्यानित्यात्मक पदार्थ है, प्रत्येक पदार्थ एक ही समयमें नित्य है और एक ही समयमें अनित्य । यह नहीं है कि कुछ दिन नित्य चले और कुछ दिन अनित्य । उसी समय नित्य, उसी समय अनित्य । क्योंकि पर्यायें होती हैं, अनित्य हैं, चूँकि वह सदा रहता है तो नित्य है । तो नित्यानित्यात्मक पदार्थ है, उसमें अज्ञानी जीव या तो संशय करता है या विपरीत बात मनमें सोचता है और अनित्यका एकान्त करता है । नित्य नहीं रहता, सदा नहीं रहता, यह तो क्षण-क्षणमें मिटता है, ऐसा एकान्त भी अज्ञानी जीव करता है ।

अप्यनात्मीयभावेषु यावन्नोकर्मकर्मसु ।

अहमात्मेति बुद्धिया दृढमोहस्य विजृम्भितम् ॥१०५१॥

आनन्दस्वरूप आत्मामें भी दर्शनमोहके उदयसे कष्टप्रद परात्मबुद्धिका योग—जब दृष्टि उल्टी हो जाती, बेहोशी हो जाती या वस्तुका स्वरूप सही-सही समझमें नहीं आता तो यह जीव क्या करता कि जितने परभाव हैं—कर्म हो, शरीर हो, कर्मके उदयसे जो आत्मामें क्रोधादिक कषायभाव उत्पन्न हुए हों उन सबमें यह मैं हूँ, ऐसी यह बुद्धि करता है । जीवको कोई कष्ट नहीं है । उसका स्वरूप ज्ञान और आनन्द है, मगर भीतरमें प्रतिफलित कर्म छाया

से जो मोह लगाया, मूलमें वहाँ मोह है। फिर उसका फल क्या है कि जो बाहरी विषयसाधन हैं इन विषयसाधनोंमें हमने आना उपयोग जोड़ा बस कष्ट हो गया। जीव अगर मोह न रखे तो कष्ट-कुछ नहीं। किसी भी वस्तुमें मोह है, किसी भी काममें मोह है, अपनी पर्यायमें मोह है, शान आदिकमें मोह है तो मोहवश यह जीव दुःखी हो रहा। मोह न करे तो दुःख काहेका ? तो यह अज्ञान वस्तुस्वरूपका, सही बोध किए बिना मिटेगा नहीं। उसके लिए पहले वस्तुका स्वरूप समझ लें कि प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र सत्ता वाला है, किसीकी सत्ता किसी दूसरेने नहीं बनायी। और तब सत्ता जुदी-जुदी है, जितने जीव हैं उनकी सत्ता जुदी-जुदी है। किसीकी सत्ता हमने नहीं बनायी, हमारी सत्ता किसीने नहीं बनायी। हमारा परिणमन दूसरा नहीं करता, दूसरेका परिणमन मैं नहीं करता। नाता किस बातका ? फिर बतलावो जब परिणमन जुदा-जुदा है, सत्ता जुदी-जुदी है, फिर बतलावो नाता क्या रहा ? कोई कहता कि मेरा बड़ा प्रिय बेटा, तो भला बतलावो वह बेटा तुम्हारे आत्माके किसी काम आने वाला है क्या या एक अणु भी मेरे आत्माके किसी काम आने वाला है ? मैं मैं हूँ। किसी बाह्य पदार्थसे मेरी कोई सत्ता नहीं और फिर मानें कि यह मेरा, तो यह तो बड़ा अपराध है कि वस्तु तो है और तरह और मानता है यह और तरह। तो इतने बड़े अपराधका फल कोई दूसरा भोगेगा क्या ? इस अपराधका फल है जन्ममरण करना, संसारमें रुलना, शरीर धारण करना, हाय हाय-हाय करते रहना, बस यह मोहका फल है। सो मूलमें मोह यह है जीवके कि जो कर्म है, शरीर है, कर्मके उदयसे होने वाले भाव हैं उनको यह मैं हूँ ऐसा मानता है, यह मैंने किया ऐसा मानता है, यह सब मेरा है ऐसा मानता है। तो उसकी उल्टी मान्यता बन गई तो फिर व्यग्रता आती है, उसको शान्ति नहीं मिलती है।

मिथ्यात्वके उदयमें जीवपर विविध प्रहार—मिथ्यात्वके उदयमें इस जीवपर क्या-गुजरता है सो देखते जावो। मोटे रूपसे जो गुजर रहा वह देखनेमें आ रहा, पर बहुत बारीकी से देखें तो धर्म करनेके समय भी जो यह मानता कि मैं धर्म कर रहा हूँ उस कालमें भी यह जीव मायाके लोभमें लिप्त है और पर्यायमें अहंबुद्धि है लो मैं धर्म कर रहा हूँ, मैं इनसे अधिक धर्मात्मा हूँ, मैं इन सबमें उत्तम हूँ, कुछ ध्यान तो लाता है, लो किया कराया सब बेकार हो गया। तो उसने अपनी पर्यायमें शान बनायी तो मंदिरमें आनेको, क्रियाकाण्ड करनेको हो अपना शृंगार समझा, किन्तु आत्माके स्वरूपमें उतरनेका लक्ष्य नहीं है तब फिर जैसे हम धर्मक्रिया करते हैं उन धर्मक्रियाओंके समय भी इसका मिथ्यात्व विष दूर नहीं होता। और की तो बात जाने दो, व्यापार रोजिगार या अन्य जगह मायाचार चलता है तो वह तो प्रकट है, मगर ऐसा सूक्ष्म मिथ्यात्व अंश है कि पता नहीं पड़ता, कार्य अच्छा कर रहा है, तपस्या कर रहा है, मुनिभेष भी धारण कर लिया है, सब बात मनमें आ गई है। समाप्त गुप्ति सब

कुछ क्रिया कर रहा, मगर भीतरमें पर्यायबुद्धि बनी है कि मैं मुनि हूँ, इनका गुरु हूँ—इस प्रकार पर्यायके बारेमें माने जाय कि मैं यह हूँ तो बताओ मिथ्यात्व है कि नहीं? मिथ्यात्व ऐसा भीतर सूक्ष्म सूक्ष्म पड़ा हुआ है जिसकी थाह पाना कठिन है, मगर लक्षण सबका एक है। कर्ममें, शरीरमें और रागादिक भाव कार्योंमें आत्माके विकारमें 'यह मैं हूँ' ऐसी श्रद्धा हो उसे कहते हैं मिथ्यात्व।

मिथ्यात्व दूर हुए बिना कल्याणकी असंभवता—मिथ्यात्वके दूर हुए बिना जीव कल्याणमें जरा भी नहीं आ सकता। जैसे मानो कोई मलका घड़ा है, जिसमें मल भरा है, चाहे वह चाँदोका ही घड़ा क्यों न हो, ऊपरसे उसे खूब धो रहे हैं, साफ कर रहे हैं, पर वह है मलिन। इसी तरह जिसका चित्त मिथ्यात्वसे पगा है, दूषित है वह चाहे शुभ कार्योंको करे, दयाकार्य भी करे तो भी आखिर वह है तो मलिन, उसे धर्ममार्ग तो नहीं मिल सकता। तो मिथ्यात्वने इस जीवको दुःखी किया है, उससे मुलटनेका मनमें उपाय नहीं सोचता यह जीव। आर-आर बातोंके तो उणाय यह सोच लेता ऐसा घर बना लें, ऐसी दूकान बना लें.... यह तो खूब सोच लेते, मगर मैं आत्मा अपने आपके स्वरूपमें रमूँ, व्यर्थक विकल्प-जालोंसे अपना मुख मोड़ लूँ, यह नहीं सोच पाता यह अज्ञानी। यों इस जीवपर मिथ्यात्वका ऐसा भूत सवार है कि जिससे यह आत्महितकी बात नहीं सोच पाता।

अदेवे देवबुद्धिः स्यादगुरौ गुरुधीरिह।

अधर्मधर्मवज्ज्ञानं दृढमोहस्यानुशासनात् ॥१०५२॥

दर्शनमोहके उदयसे गृहीतमिथ्यात्वके अभ्युदयका दिग्दर्शन—जब दर्शनमोहका शासन होता है, मिथ्यात्वका जब राज्य होता है उस समय इस जीवको बड़ी विडम्बना हो जाती है। कुछ समझदार हुए तो जो देव नहीं है उसको देव मानता, पहली गलती, जो गुरु नहीं है उसको गुरु मानता है, जो धर्म नहीं है उसको धर्म मानता। देव कौन नहीं है? जिसके राग-द्वेष हों, अल्पज्ञता हो और अपनेको देवरूपमें निरखता हो। जो देव नहीं है उसके प्रति यह ध्यान जाय कि देव है, जो भगवान नहीं है उसे भगवान मानना, यह मिथ्याबुद्धि है कि नहीं? जिसके रागद्वेष हैं वह भगवान नहीं, वह तो जैसे यहांके लोग हैं वैसा हो गया। जिस भगवान की ऐसी चर्चा चरित्र बताया हो कि वह उसे मारने गया, उनको उसने मारा, उनकी सहायतामें गया, वह खुद डरकर भागा, ऐसी बात जिसके चरित्रमें आयी या इन्होंने शादी की, इनके लड़के बच्चे हुए, भगवान और भगवती कहलाते, ऐसा जिसका चरित्र हो वह भगवान कैसे कहा जा सकता है? जहां रागद्वेष हैं वह प्रभु नहीं, अगर उसे ही प्रभु मानें तो यह गलत है। कुदेवमें देवकी बुद्धि करना गलत है। इसी तरहसे कोई गुरु तो नहीं है, मायने जिसमें दया नहीं है, जो बड़ा आरम्भपरिग्रही है, जो जूते पहिनकर चलता हो, समझो कि

उसमें गुरुके लक्षण नहीं हैं फिर भी उसे कोई अपना गुरु माने तो वह मिथ्यात्व है, इसी तरह जो धर्म नहीं है उसे धर्म मानना मिथ्यात्व है। धर्म क्या नहीं है ? हिंसाके काम, पूजनमें हिंसाके साधन बनाना अधर्म या अमुक नदीमें नहा लो तो सारे पाप धुल जायें या अमुक पर्वतसे गिर पड़ो तो सारे पाप धुल जायेंगे या देवी देवता, क्षेत्रपाल, इनको माननेसे पाप कट जायेंगे यह सब मिथ्यात्व ही तो है। जो अधर्म है उसमें धर्मबुद्धि करना भी मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व हटाना सबसे पहला काम है। देखो भगवानकी मुद्रा जो है वह यह सिखाती है कि इनमें रागद्वेष नहीं हैं, वे सर्वज्ञ हैं, वैसा ही हमें भी बनना है।

धनधान्य सुताद्यर्थ मिथ्यादेवं दुराशयः।

सेवते कुत्सितं कर्म कुर्याद्वा मोहशासनात् ॥१०५३॥

मोहशासनसे अज्ञानीकी कुकार्यमें प्रवृत्ति—श्रीदयिक भावका प्रभाव बताया जा रहा है। श्रीदयिक भावोंमें मुख्य है मिथ्यात्व। मिथ्यात्वके उदयसे इस जीवकी क्या क्या स्थितियाँ बनती हैं ? यह सब वर्णन चल रहा है। मिथ्यात्व नामक कर्म पौद्गलिक कर्म है। ज्ञानावरणादिक कर्मोंमें जिसका मिथ्यात्वप्रकृति नाम आया है वह एक मिथ्यात्वकी प्रकृति स्थिति, प्रदेश अनुभागमें बद्ध है, याने उस कर्ममें मिथ्या आशयका अनुभाग पड़ा हुआ है और वह अचेतन है। अचेतन होकर भी उसमें किस तरह रह रहा है मिथ्यात्व ? यह मिथ्यात्वसे सम्बंधित है, अनुभव नहीं है उसे, जड़ होनेके कारण, पर ये सारी गड़बड़ियाँ मिथ्यात्वमें हैं। जब उनका उदय होता तो आत्माके उपयोगमें उस उदयकी छाया आती, प्रतिबिम्ब होता, प्रतिफलन होता, सन्निधान होता उस समय यह जीव अपने स्वरूपको भूला हुआ उस छायाको अपना लेता है और यह ही मैं करने वाला, यह ही मेरा स्वरूप, यह ही मेरा सर्वस्व, इस तरहका उस मिथ्यात्वमें उसका संकल्प होता है। यही जीव मिथ्यात्व कहलाता है। तो इस मिथ्यात्वके शासनसे यह जीव धन धान्य पुत्रादिककी प्राप्तिके लिए मिथ्या देवोंकी भी उपासना करता है, छोटे-छोटे कर्म भी कर डालता है। जैसे अनेक जगह कथानकों में भी आया है कि पुत्र प्राप्तिके लिए दूसरेके बच्चेकी बलि दे दी। तो बताओ यह खोटा काम है कि नहीं ? अरे पुत्र उत्पन्न हो या न हो, कोई इसके आधीन बात तो नहीं। खोटे खोटे देवोंकी उपासना, तुच्छसे तुच्छ लोगोंकी सेवा, नाना खोटे कार्य यह जीव मोहमें कर डालता है।

अत्यन्त पृथक् अन्य आत्माओंसे व समस्त अनात्माओंसे संबंध माननेका कुपरिणाम—भैया, जरा देखिये यह कि इस मेरे आत्माका किसी आत्मासे कोई रिश्ता सम्बन्ध भी है क्या ? जीवका जो स्वरूप है उस नातेसे किसी अन्य जीवके साथ कोई सम्बन्ध है क्या ? सबका अपना-अपना स्वरूप-किला न्यारा-न्यारा है, सब पदार्थ अपने-अपने स्वरूपमें रहते हैं,

पर यह क्या पागलपन आ गया, मोह उन्मत्तता आ गई कि जगतके इन अनन्त जीवोंमें से दो एक जीवोंको इसने अपना मान लिया और समझ लिया कि इसीसे मेरे आत्माका पूरा पड़ेगा। अरे पूरा क्या पड़ेगा? सारा जीवन दुःख ही दुःखमें व्यतीत होगा। पुत्र अगर कुपूत निकला तो सारा जीवन दुःखमें जायगा और पुत्र अगर सुपूत निकला तो सारा जीवन दुःख में जायगा। खूब अच्छी तरह विचार लो, पुत्र अगर कुपूत हुआ तो उससे उतना अधिक दुःख नहीं होता जितना कि सुपूतसे दुःख होता है। वह कैसे, सो देख लो पुत्र कुपूत हुआ, खोटा निकल गया तो उसे अलग कर दो, ढिंढोरा करा दो कि इससे मेरा कुछ प्रयोजन नहीं, लो बहुत-सी इल्लतोंसे बच गए और अगर सुपूत हुआ तो पिताके मनमें यह आता कि मैं इसे खूब सुखी कर दूँ, खूब धन जोड़कर रख दूँ ताकि जिन्दगी भर आरामसे रहे। तो आत्माके नातेसे देखें तो सही कि सुपूतसे इसको क्या मिला? मिला कष्ट, मोह। आत्माकी बेसुधीमें इसे कष्ट ही कष्ट मिलता है। इस आत्माका कोई दूसरा रक्षक नहीं है, इस आत्माको तो अपने सही स्वरूपकी दृष्टि बने और उसमें अनुभव जगे कि मैं यह हूँ बस सारी तारीफ इस की है।

यथार्थ ज्ञानप्रकाशमें ही क्षणोंकी सफलता—इस मनुष्यजीवनमें अगर कोई प्रशंसनीय महान सर्वोत्कृष्ट कार्य कहा जाय तो वह है सम्यक्त्वका होना। सही आशय चित्तमें आ जाय सब पदार्थ स्वतंत्र स्वतंत्र दिखने लगें, सबकी जिम्मेदारी उनकी उनमें है, मेरे पर मेरी ही जिम्मेदारी है, मैं अपने ही परिणामको कर सकूंगा, ऐसा अपने आपका विचार शुद्ध आशय बने तो इस जीवको कष्टसे मुक्ति हो जाय। मोहसे कष्ट होता और कोई कष्ट नहीं। जब क्षुधा लगी तो उसका उपाय बन जाता, कोई जरासा शारीरिक कष्ट हुआ तो उसका उपाय बन जाता लौकिक दृष्टिसे, मगर इसको कष्ट तो मोहमें आता है। मोह हुआ धनसे, वैभवसे, इतना बढ़ जाय, इतना यह हो जाय, इससे अपनेको महान समझें। भीतरमें जो अपना मलिन आशय है यह ही कष्टस्वरूप है। मलिन आशय क्या? दो का एक मानना, अपनी सुख ही भूल जाना, बाहरको अपना मानना और अपनी सत्ताकी सुख ही न रहना, इससे बड़ी विपत्ति और कोई नहीं इस जीव पर। लोग आँखों दिखी कुछ बातोंमें सुविधा-सी समझ लेते हैं तो यह कौन-सी सुविधा है? आत्माका पूरा इन बाहरकी सुविधाओंसे, बाहरकी बातोंसे नहीं पड़ने का, इसका तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र्यसे ही पूरा पड़ेगा। रत्नत्रयको छोड़कर बाकी और किसी विधिसे आत्माका पूरा नहीं पड़ सकता। तो मिथ्या आशयमें इस जीवकी कैसी कल्पनायें बढ़ गई, धन पानेके लिए, पुत्रादिक पानेके लिए बड़े बड़े मिथ्याकर्म भी कर डालते हैं। कोई ऐसा सोच ले कि मेरेमें मेरी दुनिया मेरा स्वरूप है, मेरा परभव मेरा स्वरूप है, मेरा सर्वस्व मेरा स्वरूप है, मैं ज्ञानमात्र हूँ ज्ञान परिणाम, बस यह ही मेरा कर्तापिन है,

ज्ञानका अनुभवन बनना यह ही मेरा भोलापन है। ज्ञानके रिवाय कुछ मैं भोगता नहीं, ज्ञानसिवाय कुछ मैं करता नहीं, ज्ञानसिवाय मेरा कुछ जगतमें है नहीं। मैं ज्ञानमात्र हूँ, ऐसा अपने आपके स्वरूपसे कोई चिपके तो सही, किसीका उपयोग उस पर जमे तो सही, बस उसने सर्वस्व पाया। जिसने अपने स्वरूपकी सुध नहीं पायी उसने कुछ नहीं पाया। भव-भवमें बड़े-बड़े राजा हुए, आज्ञाकारी बने, बड़े-बड़े धनिक भी हुए उससे पूरा क्या पड़ा? एक भव छोड़ा दूसरे भवमें आये और कीड़ा मकौड़ा किसी भी भवमें पहुँच सकते।

स्वरूपपरिचयमें आत्महित—जीवका तित अपने आपके निरपेक्ष सही स्वरूपके परिचयमें है, उससे रिश्ता लेनेमें है, उसकी धुन बनानेमें है और अपनी उस और प्रतीति अधिकाधिक रहे, इससे अपने जीवनकी सफलता है। एक स्वरूपदृष्टिके सिवाय बाकी जितनी परमें लगनेकी बातें हैं वे सब जीवके लिए अहितरूप है। तो जब अपने स्वरूपकी सुध नहीं है किसीको तो इसके अनेक विचार बनते हैं—परिवार मेरा भरा पूरा हो तो मैं बड़े सुखमें रहूँगा और उसीसे ही मेरा बड़प्पन है, महत्त्व है, बस दुःख। ये सब उन्मत्त चेष्टायें हैं। पहले तो यह ही बतायें इस लोकमें आप अपना बड़प्पन जतानेके लिए विकल्पोंकी कमर क्यों कैसे हुए हैं? दुनियामें जो दिखने वाले लोग हैं उनमें प्रायः सभी, कुछ हो बिरलोंको छोड़कर सभी मोही हैं, मूढ़ हैं, आत्माकी सुधसे रहित हैं, स्वयं बड़े कष्टमें हैं, मलिन हैं। इनमें मैं अपना महत्त्व चाहूँ और इतनोंके पीछे मैं अपने इस सहज परमात्मतत्त्वकी सुध छोड़ दूँ, तो समझ लीजिए कि कितना एक निकृष्ट काम है? मगर जब तक यह विवेक नहीं करता जीव और अपने आपके स्वरूपकी रुचि नहीं बनाता तब तक बाहर हो बाहर उपयोग डोलता है और बाहरी पदार्थोंके सम्बन्धसे अपना महत्त्व मानता है। ऐसी दशामें यह जीव धन धान्य, पुत्रादिकके समागमके लिए क्या क्या खोटे कर्म नहीं करता? अब देखो कहने सुननेमें कहो भला न लगे, पर यह तो बतलावो कि पुत्रादिककी प्राप्तिकी कामनासे भगवानको पूजना, क्षेत्रपर जाना, बोली बोलना आदिक बातें हैं—बोलो यह कुत्सित कर्म है कि नहीं। जहाँ खोटा आशय है कि मेरेको पुत्र उत्पन्न हो, इससे ही मेरा बड़प्पन है, इसके बिना मेरा कोई जीवन नहीं, यह ही मेरा सर्वस्व है... उसकी दृष्टिमें भगवानके स्वरूपको पवित्रता नहीं आ सकती है। वह तो अपनी धुनपर है, और इस धुनपर प्रभुमूर्तिकी पूजा आदिक करना यह भी कोई भला कार्य नहीं है, क्योंकि आशय खोटा पड़ा हुआ है। पहले आशयको पवित्र बनावें। मेरे को कुछ न चाहिए, सिर्फ आत्माका जो शुद्ध सहजस्वरूप है उसमें यह अनुभव बना रहे कि मैं तो यह हूँ, बस यह चाहिए, इस स्थितिमें ये सारे संकट दूर हो जायेंगे।

सिद्धमेतन्नु ते भावाः प्रोक्ता येऽपि गतिच्छलात् ।

अर्थादौदयिकास्तेऽपि मोहद्वैतोदयात् परम् ॥१०५४॥

मोहके बलपर अन्य औदयिक भावोंकी उद्धतता—कहनेके लिए ऐसे बहुतसे प्रकरण

हैं, वहुतसी बातें हैं जिन्हें हम छोटा बंध करने वाली बोल सकते हैं, मगर ये सबके सब केवल एक मिथ्यात्व राजाके आधार पर ही जीवित हैं। जहाँ मिथ्यात्व नष्ट हुआ वहाँ जितने भी औदयिक भाव हैं, जितने भी अन्य कर्म हैं वे सब मुरझा जाते हैं एक दर्शनमोहको जड़ कट जानेसे। औदयिक भाव बहुतसे बतलाये हैं—जैसे नरकगति, तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति और देवगति। कहते हैं ना लोग? तो गतियोंमें गमन जन्ममरण करना और इन देहोंके सहारे सारे कष्ट बने हुए हैं। ये चारों ही गतियां दुःखमय हैं। वर्णन ही आता है—चतुर्गति दुःख स्वरूप हैं। किन्तु यह सब एक प्रासंगिक वर्णन है। मिथ्यात्व ही दुःख स्वरूप है, गतियां नहीं। गतियोंमें जो दुःखरूपता आयी है और ये गति जो हमारे दुःखके स्थान बन गए हैं। वह सब इस मिथ्यात्वपर ही आधारित है।

मोहके निर्बल होनेपर अन्य कर्मोंके उदयमें निर्बलता—मिथ्यात्व न रहेगा तो ये गतियां कब तक चलेंगी और मिथ्यात्व न रहे तो गतियां चलनेपर भी कष्ट नहीं महसूस हो रहा। तब ही तो कहते हैं कि नरकोंमें बड़े कठिन दुःख भोगता है यह सम्यग्दृष्टि ज्ञानी, फिर भी कर्मोंकी निर्जरा वहाँ भी चलती रहती है, भीतरमें निराकुलता वहाँ भी बनी रहती है। देवगतिमें सैकड़ों देवियोंके बीच बड़ा सुख महसूस करने वाला देव अनेक जगह क्रीड़ा मात्रमें बिहार करके अपनी लीलावोंमें खुश रहने वाला देव, सारे जीवनभर इस तरहकी मौज मानने वाला देव भीतरमें दुःखी है, क्योंकि तृष्णा उत्पन्न हो रही है, मन स्थिर नहीं है। जहाँ जहाँ बाहरमें उपयोग लगा है, भीतरके स्वरूपकी सुध छोड़ दिया है तो बाहरमें जहाँ लग्न है वहाँ दुःख ही है। बाह्यपदार्थोंमें उपयोगका फँसना ही दुःख है। अब आप देखो, हम आप लोग रात दिन दुःखकी करतूत कितनी किया करते हैं? जहाँ सहज आत्मस्वरूपपर दृष्टि न रही, पर-पदार्थ, परभावमें ही लगन लगा कर रह गए वहाँ सारा कष्ट ही कष्ट है, व्यग्रता है। वहाँ भले ही कुछ हँसें, मजाक करे, मौज माने, मगर भीतरमें तो तृष्णाकी चोट है, उसका हंसना एक सनीमाके चित्रकी तरह है। कोई सुख नहीं बसा। संसारका सुख हो वह भी दुःख है, संसारका दुःख हो वह भी दुःख है। यह बात अगर कोई अभी नहीं मान सकता तो कुछ वर्षोंमें मानेगा कि हाय मैंने सुख क्या भोगा, जिन्दगी यों ही गुजार दी, वह सुख भी दुःख हो था, वह कोई आनन्दकी बात न थी। पीछे पता पड़ जायगा, मगर जो ज्ञानी जीव है, जिसने वस्तुस्वरूपका सही निर्णय बनाया है वह तो सही ज्ञान बनाये हुए है। सुख और दुःख में कोई भेद नहीं है। संसारका सुख और संसारका दुःख दोनों ही मलिन अवस्थायें हैं। दोनोंमें ही तृष्णाका रोग बसा हुआ है, दोनोंमें ही असंतोष पड़ा हुआ है, व्यग्रता रहती है, इसलिए संसारकी कोई भी स्थिति न चाहिए। मेरे स्वल्पाका दर्शन रहे, मेरे ध्यानमें मेरे उपयोगमें, यह बात दृढ़तापूर्वक रहे कि मैं हूँ यह सहज चैतन्य प्रकाशमात्र और कुछ नहीं और ऐसा ही मैं दृष्टिमें रहूँ, बस इस ही परिणाममें मेरी भलाई है।

सहज अन्तस्तत्त्वकी सुधे हटनेपर कष्टोंके अनुभवन—सहज स्वभावकी धुनसे चिगे, बाह्य पदार्थोंमें अपना मन फंसाया तो वहाँ कष्ट ही कष्ट है। अब इस कुञ्जीके आधारपर अपनी-अपनी परीक्षाये करें। बहुत अच्छी तरह घरमें रह रहे, बड़े अच्छे साधन हैं, मगर आत्माका तो उद्धार नहीं हो रहा। आत्मा तो शान्ति और आनन्दमें नहीं आ पा रहा। इसकी व्यग्रता है और इतने से ही तो छुट्टी नहीं मिल गई, जो कर्मबंध हो रहा है उसका उदय होगा। आज तो इस मनुष्यभवमें हैं, यहांसे मरण होते ही दूसरे समयमें जैसी करनी है वैसी बात बन जाती है। कोड़ा मकौड़ा आदि किसी भी भवमें जन्म हो जाता है। तो इससे विवेक बनायें कि मेरे आत्माकी भलाई किसमें है? कुछ क्षण तो अपने आपके सही धाममें आना चाहिए। अन्तस्तत्त्वमें मैं यह हूं ऐसा परिचय कुछ समय होना चाहिए, मगर आत्मपरिचय, आत्मश्रद्धा, आत्मस्पर्श अपने स्वरूपमें आत्माका अनुभव करें, कभी यह बात नहीं बनती तो बस वह डोलने वाला जीव है। कोई जीव मरा, कहीं पैदा हुआ, कहीं रहा, वह कष्ट ही कष्ट है। इन गतियोंके रूपसे जो और भाव कहे गए हैं वे सब भी औदयिक तो हैं मगर दशन मोहनीय और चारित्र मोहनीयके उदयसे ही उनमें यह बात पड़ी हुई है। मनुष्य शरीर है, पुद्गल शरीर है, यह क्या बाधा दे रहा? मान लो इसमें कोई फोड़ा, फुंसी हो गया, सड़ गया तो वह क्या कष्ट देगा जीवको? मगर जीवमें जो यह भाव लगा हुआ है कि मेरा यह कष्ट...। विपत्ति बाहर कहीं नहीं है, विपत्ति अपने अन्दर है और वह विपत्ति कर्मके कारण नहीं है, शरीरके कारण नहीं है, अपने विकल्पके कारण है। यद्यपि ये विकल्प नैमित्तिक हैं, कर्मविपाकका निमित्त पाये बिना नहीं होते, मगर कर्मकी सब बात कर्ममें ही तो है उसका सन्निधान पाकर जो विचार विकल्प बनते हैं—ये दुःखकर हैं। अब मुझे नहीं मानना है अपने को भिन्न-भिन्न रूप, मैं आत्मा तो एक सहज चैतन्यप्रकाशमात्र हूं और मुझे इससे नहीं चिगना है, मैं ऐसा ही अपनेको निरखकर यहां ही बसूंगा। ऐसा यदि कोई अपने में भला आग्रह करले तो क्या किया नहीं जा सकता? यह आग्रह भी किया जा सकता। ऐसे पवित्र आशयमें तो इस जीवका कल्याण है, बाकी बाहरी ममता मोह ये विकल्प ही तो हैं, बैठे बैठे ख्याल ही बना रहे हैं। इन ख्यालातीसे जीवका कुछ भी भला नहीं है।

यत्र कुत्रापि वान्यत्र रागांशो बुद्धिपूर्वकः।

स स्याद् द्वैविध्यमोहस्य पाकाद्वान्यतमोदयात् ॥१०५५॥

विकट कष्टरूप बुद्धिपूर्वक रागांशके अभ्युदयका निमित्त मोहोदय—जहाँ कहीं भी बुद्धिपूर्वक रागांश उठ रहा है याने अपनी समझ बना बनाकर, अपने अटपट ख्यालात करके जितने भी राग द्वेषादिक भाव उठ रहे हैं ऐसे बुद्धिपूर्वक राग ये दो प्रकारके मोहनीय कर्मके उदयसे होते हैं। देखो अन्य लोगोंने बताया है प्रकृति और पुरुष। पुरुष मायने आत्मा और

प्रकृति है जड़ प्रधान । करने वाली प्रकृति है, भोगने वाला पुरुष है, यह उनके सिद्धान्त की बात बतला रहे हैं और एक मिलान करते जावो कि किस दृष्टिसे देखें तो यह बात सत्य उतरती है । क्या कहते हैं वे कि करने वाली प्रकृति है और भोगने वाला पुरुष है । उनकी दृष्टि यह है कि रागद्वेष मोहादिक जितने जो कुछ होते हैं वे सब प्रकृतिके विकार हैं और चूंकि ये प्रकृतिके विकार इस पुरुषके क्षेत्रमें हो रहे हैं तो चेतन तो पुरुष है इसलिए मुक्तिकी प्राप्त चेतनपर ही आती है । अब इस बातका नयत्रिभागपूर्वक जैनसिद्धान्तसे मिलावें । जीवमें जितने भी रागादिक भाव उत्पन्न होते हैं वे सब हैं क्या ? रागद्वेष जो प्रकृति हैं, कर्म है, १४८ कर्मप्रकृतियाँ हैं, उनमें जो रागद्वेषकी प्रकृतियाँ हैं उनका ऊधम है, उनका विपाक फूटा है और उन प्रकृतियोंमें ही वे सब विकार बन गए हैं, मगर वे आत्माके एक क्षेत्रावगाह में ही तो हैं और आत्मा ऐसा अशुद्ध उपदान है कि वह सब प्रकृतियोंका ऊधम इसके उपयोगमें प्रतिबिम्बित हुआ, सो यह आत्मा चेतन है, इसका भूट उपयोग बदला और उस मलिनतामें लद गया । इस दृष्टिसे देखें तो उनके कथनमें और जैनसिद्धान्तके कथनमें बहुत कुछ समानता है, पर अन्तर क्या आता है ? अन्तरआत्मा भोगता किस तरह है, बस इसके विश्लेषणमें अन्तर है । कुछ दार्शनिकोंका कहना यह है कि आत्मा तो अपरिणामी है, जरा भी बदलना नहीं है । कोई परिणति करता नहीं है, तिस पर भी भोगता है, जब कि जैनसिद्धान्त यह कहता है कि आत्मामें परिणमन हुए बिना भोगना आ ही नहीं सकता । कुछ तो परिणाम हुआ, ज्ञानका विकल्प हुआ, इस तरहका ज्ञान बन गया । ऐसा हुए बिना विपरिणाम नहीं बन सकता । थोड़ा अन्तर है, मगर मूल बात यह देखें कि आत्मा तो अपने स्वरूपसे निरपराध है, एक चेतनेको करने वाला, मगर उदयांश जो यहाँ झलका, ऐसी जो एक छाया का प्रतिफलन आया उसमें उलझ गया और यह दुःख पा रहा । तो जितने और बाहरी साधन हैं असाताका उदय, गतिका उदय, शरीरका मिलना जितने भी और और बाहरी प्रसंग हैं ये समस्त प्रसंग भी मोहके कारण दुःखरूप बनते हैं, मोहके बिना दुःखरूप नहीं बनते ।

दर्शनमोह व चारित्रमोहसे हटकर अपनेमें उपयुक्त होनेमें आत्महित — मोह दो प्रकार का है—(१) दर्शनमोह, (२) चारित्रमोह । याने ऐसा विकट मोह कि आत्माकी दृष्टिको ही उलट दे, अपने स्वरूपको न पहिचान सके, बाहरी-बाहरी बातोंमें यह अपना स्वरूप मानने लगे, यह तो है दर्शनमोहका विपाक और चारित्रमोहका विपाक है विषयोंमें प्रवृत्ति करना । विषयोंमें प्रवृत्ति करना दर्शनमोहके बिना भी हो सकता और दर्शनमोहके सद्भावमें भी हो सकता । जहाँ मिथ्यात्वका उदय नहीं है वहाँ चारित्रके, मोहके उदय होनेसे राग तो होता, मगर संसारपरम्परा बढ़ाने वाला राग नहीं है । तो वह राग किसीके बुद्धिपूर्वक है, किसीके अबुद्धिपूर्वक है । एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय आदिकका यह राग, यह मिथ्यात्व यह अबुद्धिपूर्वक चल

रहा है, सर्वथा अबुद्धिपूर्वक नहीं। ज्ञान उनमें भो है, विकल्प वहाँ भी बनते हैं, और ऊँचे गुणस्थान (७वाँ, ८वाँ, ९वाँ, १०वाँ गुणस्थान) में भी राग चल रहा है, किन्तु अबुद्धिपूर्वक चल रहा है। जहाँ समझ-समझकर राग बने और अपनी बुद्धिमें अनुभूत होवे वह तो है बुद्धिपूर्वक राग और न हो ऐसा तो अबुद्धिपूर्वक राग है, मगर सब रागोंका फल चोट है। बुद्धिपूर्वक रागमें व्यग्रता मुख्य है, अबुद्धिपूर्वक रागमें व्यक्त व्यग्रताकी मुख्यता नहीं है। तो सबसे महान् बैरी हम आप जीवोंका है तो मिथ्यादर्शन, मिथ्यात्व बैरी, यह अपने स्वरूपकी सुध नहीं लेने देता। यह जीव भीतर कुछ विचार ही नहीं करता, निरखता ही नहीं, इन चमड़ेकी आँखोंसे बाहर जो-जो कुछ दिख रहे उनमें ही अच्छा-बुरा इस प्रकारका द्वैत भाव करता है। इन चर्म-चक्षुओंको बंदकर भीतरमें ज्ञानचक्षुका बल बनाकर कुछ तो अपने हितके लिए विचार करना चाहिए कि मेरेको इस दुर्लभ जीवनमें करनेका क्या काम पड़ा है? आत्मा की उपासना। मैं आत्मा सहज अपने आप किस स्वरूपमें हूँ? केवल एक चैतन्यप्रकाश। जिसमें कोई रागद्वेष नहीं, आशा विकल्प नहीं, केवल चैतन्य प्रकाश मैं अपनेको अनुभवूँ कि मैं तो यह हूँ, अन्य विकल्प न सतायें, ऐसा अपना अनुभव जगाये तो इस जीवका कल्याण है। मिथ्यात्वके उदयमें इस जीवको आत्मकल्याणका मार्ग नहीं मिलता। रागरंगमें, विषय कषायोंमें, इन वासनाओंमें यह सारा जीवन लगा दिया जाता। चूँकि मिथ्यात्वका उदय है, इसलिए अनन्त जीवोंमें से दो-चार जीवोंमें यह छाँट कर लिया कि ये मेरे हैं, बस इन्हींके लिए मेरा तन, मन, धन, वचन सब कुछ अर्पण है, मेरा और धरा क्या, ऐसा अपने आपको रोता समझ लिया, जिसका फल व्यग्रता है, कर्मबन्ध है, आगामी कालमें कष्ट भोगेगा। इस सबका मूल कारण है मिथ्यात्व। सब जीवोंका स्वरूप परस्पर एक दूसरेसे भिन्न है, स्वलक्षण-स्वरूप है, अपनेमें याने एक चैतन्यमात्र है। मगर सत्ता जुदी-जुदी है, मेरा सब कुछ मेरेसे ही होता है, मेरा कुछ परिणामन दूसरेसे नहीं होता, दूसरेमें मैं कुछ कर नहीं सकता। मैं अपने को जानूँ, अपनेको समझूँ और अपनेमें मग्न होऊँ, यह ही एक विधि है जिससे कि हम अपने को शान्त बना सकते हैं।

एवमौदयिका भावाश्चत्वारो गतिसंश्रिताः ।

केवलं बन्धकर्तारो मोहकर्मोदयात्मिकाः ॥१०५६॥

मंगलमय आत्माका मोहकर्मोदयमें बन्धन—यह जीव अपने स्वरूपसे मंगलरूप है, भगवानके समान स्वरूप वाला है, आनन्दमय है, पवित्र है, सर्व द्रव्योंका राजा है, किन्तु अनादिसे ही कर्मसम्बन्ध होनेके कारण आज तक इसकी बड़ी बिगड़ी दशा चली आयी है। निगोदमें रहा अनन्त काल, मुश्किलसे निकला, अन्य स्थावरोंमें आया, विकलत्रयोंमें आया, पञ्चेन्द्रियमें आया घूमते-घूमते अनेक कष्ट उठाये हैं। आज सुयोगसे मनुष्यपर्यायमें आये,

लेकिन इस भवमें भी यह जीव अपनी शान, इज्जत सब कुछ पर्यायमें समझता है। यह शरीर है, यह एक पर्याय है, इसका आत्मासे कुछ सम्बंध नहीं। संयोग सम्बंध तो है, मगर अनित्य है, छूट जायगा सम्बंध। इस शरीरसे आत्माका कोई पूरा नहीं पड़ेगा। शरीर छोड़कर जायगा, दूसरा शरीर मिलेगा, ऐसी तो स्थिति है मगर यह मोही जीव यहाँके मिले हुए वैभवोंमें इतना लिप्त है कि उसीकी धुनमें रात-दिनके चौबीसों घंटे इसके व्यतीत होते हैं। अपनेमें बसे हुए सहज परमात्मस्वरूपका यह ध्यान नहीं कर पाता। संसारमें अब तक जितना भी समय गया वह सब व्यर्थमें ही तो गया, क्योंकि औदयिक भावोंमें रहा। कर्मके उदयका निमित्त पाकर आत्मामें जो-जो गंदगियाँ हुईं उनमें यह लिप्त रहा। पहले नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव—इन चार गतियोंकी बात कही जा रही है। यह जीव शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, याने केवल चेतना यह ही जिसका स्वरूप है, स्वभाव है, आकाशकी तरह अमूर्त है, चैतन्यविशेष इसका लक्षण है, मगर यह आत्मा किस दशामें पड़ गया, राग, द्वेष, मोह जगते। यहाँ किसी पदार्थका किसी दूसरे पदार्थसे सम्बंध कुछ नहीं, सभी पदार्थ अपनी-अपनी सत्ता लिए हुए हैं, लेकिन इसको मोह ऐसा लगा है कि दूसरोंके संगसे अपनेको बड़ा मानता है, परिवारसे, धन वैभवसे अपनी शोभा मानता है, अपनेको महान् समझता है, इस तरहका मिथ्या आशय बना हुआ है कि यह जीवन भी धर्मरहित बीता जा रहा है और आगे भी न जाने क्या दशा होगी ?

मोहके फलमें गतियोंकी बिडम्बना—मोह प्रधान औदयिक भाव है, इसके फलमें कीड़ा-मकौड़ा, पशु-पक्षी आदिक जन्म पाते रहते हैं प्राणी। देखो इन जीवोंपर कौन दया करता है ? अभी कोई चूहा निकल आये तो लोग कुत्तेसे पकड़वा देते या उसकी पूँछ बाँधकर अग्नि के पास उसे ले जाते। कौन दया करता है इन जीवोंपर ? इन कुत्ता, बिल्ली, घोड़ा, गधा, भेड़, बकरी आदिककी क्या दशा है, सो आप सब जानते ही हैं। ये सब कर्मके उदयसे होने वाली दशायें हैं। मनुष्य हुए तो मनुष्योंकी बात देख लो—भिखारी, दीन, गरीब, अंधे, लंगड़े लूले मनुष्योंकी दशायें देख लो, उनपर क्या गुजर रही है, और कोई बड़ा भी हो, वैभववान भी हो तो वहाँ क्या वह शान्तिका अनुभव करता है ? और आत्माके स्वभावसे अलग हटकर बाह्यपदार्थोंमें उपयोग दिए हुए है, उसे क्या चैन है ? वह तो कितना कठिन विपत्तिमें है ? देवगतिमें गये, खोटे देव हुए तो वहाँ भी व्यर्थका जीवन, अच्छे भी हुए तो भी आखिर वह संसारी जीव ही तो है। यों ये चारों ही गतियाँ दुःखरूप हैं, ये औदयिक भाव ही तो है और इनके होते कर्मबन्ध भी चल रहा है, मगर यहाँकी अवस्थाओंमें जो कर्मबन्ध हो रहा है सो मोहकर्मके कारण हो रहा है। जीवमें मोहभाव होता है, रागद्वेष होता है, उसके कारण बंध चल रहा है। कहीं शरीरके कारण बंध नहीं, मगर ये सब राग द्वेष मोहके उत्पन्न करने में सहायक हैं, आलम्बनमात्र हैं, इस कारण ये कर्मके बन्धन बताये गए हैं।

कषायाश्चापि चत्वारो जीवस्यौदयिकाः स्मृताः ।

क्रोधो मानोऽथ माया च लोभश्चेति चतुष्टयम् ॥१०५॥

कुदृष्टिकी क्रोध मानमें मग्नता—जीवके उन मलिनभावोंका वर्णन चल रहा है जिन मलिनताओंके कारण यह जीव दुःखी है । दुःख क्या है, यह समझे बिना दुःखसे अलग न हो सकेंगे । जिसको दुःखका परिचय ही नहीं वह दुःखको सुख मानकर रह रहा है, वह अब दुःखसे क्यों हटेगा ? देखो संसारके जीव क्रोध करके क्रोधमें ही तृप्त हो रहे, गुस्सा आती तो उस समय भी यह मानता कि मैं बहुत अच्छा काम कर रहा हूं, मेरे लायक यह ही काम है, मैं बड़ा हूं, ये छोटे लोग हैं, ये क्यों नहीं मेरी आज्ञामें चलते ? उसे मान अभिमान सुहा रहा है । जब चाह है कि मैं दुनियाके सब मनुष्योंसे बड़ा कहलाऊँ, वह मानमें खुश है, और देखो दुःख है मानमें । जब इस पर्यायको देखकर अपनेको सबसे बड़ा मान रहा तो आप देखो उसे भीतरमें कष्ट हो रहा कि नहीं । अपने परमात्मस्वरूपकी सुध छोड़कर किसी भी बाहरी पदार्थ में अपना ख्याल जमायें तो वहाँ नियमसे कष्ट है, अकल्याण है, कर्मबंध है । तो कैसा मोह सवार है कि जो चीज दुःखरूप है उसीमें यह मग्न हो रहा है ।

कुदृष्टिकी मायाचारमें मग्नता—माया कषाय छल कपट बहुत गंदा भाव है । जो छली कपटी पुरुष है वह अपने परमात्मस्वरूपका स्पर्श नहीं कर सकता । किसीसे कुछ कहा, किसीसे कुछ भिड़ाया, इस तरह मायाचार सब लिपट गया व्यवहारमें । माया करने वाले पुरुषको टेढ़की उपमा दी जाती है । माया कषायके जो चार भाव हैं, उनकी उपमा टेढ़से की गई है । टेढ़में धर्म नहीं । जैसे मालाका दाना होता है, मालामें काँचकी मणिके बीचमें छेद रहता है, जिसमेंसे सूत पिरोया जाता है, उन १०८ मणियोंको माला बना ली जाती है । अगर किसी मणिमें छेद बिल्कुल टेढ़ा हो गया, सीधा छेद नहीं है तो क्या उसमें सूत पिरोया जा सकता है ? नहीं पिरोया जा सकता, वह तो बेकार है, फेंकनेके काबिल है । तो जैसे टेढ़े छेद वाली मणिमें सूतका प्रवेश नहीं होता इसी तरह मायाचार वाले हृदयमें धर्मका रंच भी प्रवेश नहीं हो सकता, क्योंकि उसका चित्त अस्थिर है । किसीसे कुछ कहा, किसीसे कुछ, इस तरह नाना प्रकारके शल्य पड़े हुए हैं, मगर यह जीव मायाचार करने वाला मायामें ही खुश हो रहा है । किसीकी बात किसीसे भिड़ाया । थोड़े समयके लिए कोई लौकिक वस्तु पा लिया तो उससे वह अपनेको बड़ा महान् समझता है । देखो यह मायाचार कष्टरूप है, संसारमें रूलाने वाला है, मगर इस मायाचारमें ही इस मोही जीवको आनन्द मिल रहा है । उसीमें ही मौज मान रहा है । तो ये कषायें दुःखरूप हैं और उन्हींसे यह सुख मानता है । देखो शास्त्रके उपदेश केवल मुननेके लिए नहीं हुआ करते, किन्तु जो बात कही जा रही है उसको अपने आपमें घटानेके लिए है उपदेश । यह बात मुझमें पायी जाती है या नहीं ? पायी जाती है तो यह

चाहिए नहीं, इसको हटाना है, कोई उपाय बनाना है कि इस दुनियावी अंधकारसे हटकर मैं सच्चे प्रकाशमें रहूँ। देखो कषाय जब होती है जीवके तो कितना कष्ट होता है और उस कषाय में यह मोही मौज मानता है।

कुट्टिष्ठीकी लोभकषायमें मग्नता—लोभकषायको बताया है कि लोभ पापका बाप बखाना, याने समस्त पापोंका प्रधान है लोभ, तृष्णा। बाह्यपदार्थ चाहे चेतन हो, अचेतन हो, कोई भी वस्तु हो, धन वैभव हो उस वस्तुका लोभ आता—यह मेरे पास आये, मैं इससे महान् बनूंगा, इस प्रकारका जो तृष्णाका रंग लगा है यह जीवको बड़ा कष्ट दे रहा है, मगर यह जीव रात-दिन इस तृष्णामें ही प्रसन्न है। देखो यह चीज जोड़ी, वह चीज जोड़ी, अच्छे कपड़े पहिन लिया, अच्छे आभूषण पहिन लिया, और-और भी आरामके साधन जोड़ लिया, यह सब कुछ करके मनमें कुछ ऐसी बात आती है कि लोग मुझे धनिक समझें, तो बताओ यह तृष्णाका रंग है या नहीं? है। तो जहाँ तृष्णाका रंग चढ़ा है वहाँ इस जीवको कष्ट हो कष्ट है। वहाँ आनन्दका लेश भी नहीं, मगर देखो लोभको छोड़ना नहीं चाहते। वृद्ध हो गए, लड़के लोगोंने सब काम-काज सम्हाल लिया, फिर भी ये मोही जीव इस तृष्णाको छोड़ नहीं पाते। आयु तो छूट जायगी मगर तृष्णा नहीं छूट पाती, क्योंकि तृष्णामें इतना मुग्ध हो गया यह जीव कि उससे अपनेको सुखी मान रहा। अरे एक क्षणको भी तृष्णाका रंग छूट जाय और अपनेमें बसा हुआ जो शुद्ध सहज चैतन्यस्वरूप है उसका अनुभव जगे, परमविश्राम मिले तो इस जीवका नियमसे भला होता है।

प्रभुदर्शनमें प्रभुवत् अपने सहज स्वरूपके दर्शनकी महिमा—हम भगवानके दर्शन करने क्यों आते? एक आदतसी बन गई, एक व्यसनसा बन गया कि लोगोंको दर्शन किए बिना चैनसा नहीं पड़ता और लगता कि आज मैंने कुछ नहीं किया, इस प्रकार मानो दर्शन करनेकी प्रक्रिया तो चल रही है, मगर दर्शन करना किसलिए था और उसका फायदा हम उसी समय उठायें, इस कलाका प्रयोग नहीं है तो हम धर्ममार्गमें प्रगति तो नहीं कर सकते। किसलिए धर्म करना? यह सारा संसार, यह रात-दिनके चौबीसों घंटोंका वातावरण, गृहस्थी का प्रसंग, लोगोंका संग यह केवल एक आकुलताका ही करने वाला है, इसमें हम आकुलित होते आये हैं, इस आकुलतासे बचे हैं भगवान् अरहन्त सिद्ध प्रभु। इनको रंच भी आकुलता नहीं। कौनसी कला इन्होंने पायी जिससे ये भगवान् बने, और इनको रंच भी आकुलता नहीं है? हैं तो वह भगवान् हमारी ही जातिके। जैसे हम जीव हैं वैसे ही वह जीव हैं, वह कोई अजीव तो नहीं हैं। जो स्वरूप मेरा है वही स्वरूप उनका है। क्या फर्क हो गया कि वह तो शान्त हैं, पूज्य हैं, बड़े-बड़े लोग उनकी आराधना करते हैं और यहाँ हम आा संसारकी यातनायें सह रहे हैं। कौनसा कारण है? वह कारण है यह कि प्रभुने अपने जीवकी सम्हाल

कर लिया था याने समस्त बाह्य पदार्थोंसे तृष्णा हटा ली थी । किसीमें उनको मोह नहीं रहा, सबका विकल्प छोड़ा और अपने आत्माके उस चैतन्यस्वरूपमें ही अपना उपयोग लगाया । उसका फल यह हुआ कि कर्मोंको निर्जरा हुई, केवलज्ञान हो गया, समस्त दुःख दूर हो गए, १८ प्रकारके दोष खत्म हो गए, निर्मल पवित्र आत्मा हो गए । अब एकदम आनन्दमय हैं । है हमारा ही यह जीव । जैसे कोई अपने घरका आदमी मुनि हो गया तो लोग कह बैठते कि यह हमारे ही घरके तो हैं मुनि हो गए, ऐसे ही यह भगवान हमारे घरके ही तो हैं, हमारे ही समूहके तो हैं । जो मैं जीवस्वरूप हूं, ऐसे ही वह जीवस्वरूप हैं । पर क्या अन्तर आ गया कि वह सदाके लिए संकटोंसे मुक्त हो गए और यहाँ हम आपको दुःखी होना पड़ रहा है । यह अन्तर आया अपने स्वरूपकी सम्हालसे, सम्यग्दर्शनसे । गाते तो रोज हैं — सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रको नमस्कार हो, पर यह केवल मुखसे गाने भरकी बात है, इस तरह से काम न चलेगा । अपना उपयोग ऐसा बने कि यह सम्यग्दर्शन मेरी ही तो चीज है, मेरेमें आयगी और मेरेसे भला होगा और मेरे लिए बड़ा सुगम है सम्यक्त्व पाना । बाह्य पदार्थोंसे मुख मोड़े, अपने आत्मस्वरूपकी ओर दृष्टि करें तो आत्मामें एक अद्भुत आराम मिलेगा, सम्यग्दर्शन उत्पन्न होगा । मेरा स्वरूप है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, जिसकी हम जाप करते हैं वह मेरा ही तो स्वरूप है । स्वरूपको सम्हालें और सब संकटोंसे पार हो जावें ।

स्वरूपकी भूलसे ही कष्टोंका आक्रमण—भैया ! अब तक जो दुःख पाये हैं वह स्वरूप भूलकर ही पाये हैं । बताते हैं कि हिरणकी नाभिमें कस्तूरी बसी रहती है जो बड़ी सुगंधित होती है । उसकी सुगंध हवाके साथ-साथ बहती है । उम सुगंधको पानेकी इच्छासे हिरण चारों ओर यत्र-तत्र दौड़ लगाता है । दौड़ लगाते-लगाते वह तेज हाँफने भी लगता है अथवा शिकारी लोग उसे मार भी डालते हैं । तो देखो एक कस्तूरीका परिचय न होनेसे हिरणकी क्या दशा हुई ? कस्तूरी बसी थी हिरणकी नाभिमें ही, मगर उसका पता न होनेसे वह जंगलमें चारों ओर उसे ढूँढ़ता फिरा, अन्तमें मरणको भी प्राप्त हो गया । इसी तरह यह परमात्मस्वरूप यह अनन्त आनन्द परमपवित्रता मेरे ही स्वरूपमें है, मगर इसका परिचय नहीं है तो बाहरमें अपनी दृष्टि गड़ाये है, मुझे यहाँसे सुख मिलेगा, यहाँसे ज्ञान मिलेगा...यों वह सब तरफकी दौड़ लगा-लगाकर कष्ट पाता है । भले ही कुछ साधन हैं मगर धर्म तो न मिलेगा बाहरसे, आनन्द तो न मिलेगा बाहरसे । मंदिरमें जाकर आप अपने विचार बनायेंगे और अपने स्वरूपका सहारा लेंगे तो धर्म मिलेगा, नहीं तो मंदिरमें कहीं धर्म नहीं मिल जाता । आप दर्शन करें, विचार बनायें, प्रभुका सहारा लें तो धर्म मिल जायगा । तो यह आनन्द शान्ति, धर्म सब कुछ अपने आपके अन्दरमें है, मगर इसका परिचय नहीं है

सो बाहर ही बाहर डोलता रहता है। देखो ये चारों ही कषाय मलिन हैं, दुःखदायी हैं, कर्म के उदयसे होने वाली हैं, एकसे एक बढ़कर हैं। जब गुस्सा आता है तो सब गुण भस्म हो जाते हैं। किसीका आपने कितना ही उपकार किया हों और उसे ऐहसान मानना चाहिए और एक बार आप उसपर तेज गुस्सा हो जायें तो वह आपकी सारी बातें भुला देता है। क्रोध, मान, माया, लोभ ये चारों ही कषायें इस जीवको कठिन कष्टमें डालती हैं। ये कर्मके उदयसे होते हैं, इसलिए कर्ममें और आने आत्मानें भेद समझें, कर्मसे चित्त हटावें और आत्मानें चित्त लगावें तो शान्तिका मार्ग मिलेगा।

ते चात्मोत्तरभेदैश्च नामतोऽप्यत्र षोडश।

पञ्चविंशतिकाश्चापि लोकासंख्यातमात्रकाः ॥१०५८॥

अनन्तानुबन्धी कषायमें महान् उपद्रव—कषायोंकी बात चल रही है। ये कषायें मूल में चार प्रकारकी हैं—क्रोध, मान, माया, लोभ, और इनके भेद अनन्तानुबन्धी आदिक भेदसे चार-चार बनावें तो १६ हो गए। यह कषायकी बात चल रही है जो जीवको दुःख दे रही है, अपने आत्मस्वरूपकी पहिचान नहीं है सो कषायोंमें लग रहे हैं और दुःखी हो रहे हैं। अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ ऐसी कषायें जगीं कि जिनमें आत्माके स्वरूपकी सुध न रही, उसे कहते हैं अनन्तानुबन्धी। जिसके अनन्तानुबन्धी कषाय है वह संसारमें जन्ममरण करता ही रहेगा। उसकी परम्परा बढ़ती ही चली जायगी। जब तक अनन्तानुबन्धी है तब तक जीवके सुबुद्धि नहीं जग सकती, सम्यक्त्व नहीं जग सकता। भैया ! अनन्तानुबन्धी कषाय से दूर होवें, किसी जीवके प्रति बैरभाव मत लावें। सब जीव मेरे समान हैं। किसका मैं बिगाड़ करूँ ? कोई मेरा विरोधी नहीं है। सब जीव मेरी ही तरह ज्ञानानन्दस्वरूप वाले हैं। आप जिसे आज विरोधी मानते हैं वह अनेक बार आपका कुटुम्बी बना है, जिसको आज कुटुम्बी मानते वह अनेक बार आपका शत्रु बना है। बाहरमें न कोई किसीका शत्रु है, न कोई मित्र। केवल ख्यालभर बनाते तो शत्रु अथवा मित्र जंचने लगते। यहाँ तेरा बिगाड़ करने वाला कुछ नहीं है। तेरा बिगाड़ करने वाला तेरे ही भीतर रहने वाली कषाय है, तेरा सुधार करने वाला भी बाहरमें कोई नहीं है। अपने स्वरूपका ज्ञान करें, और उसमें मग्न रहें, इससे सुधार होगा। क्या मग्नता आप जानते नहीं ? जिसको आप समझते कि यह मेरा सब कुछ है उसमें आप मग्न हो जाते कि नहीं ? स्त्रीको आप समझते कि यही मेरा सब कुछ है तो आप उसमें मग्न हो गये कि नहीं ? मगर वह स्त्री आपसे भिन्न है, उसके कर्म अलग हैं, आपके कर्म अलग हैं, मगर जब तक संयोग है, जब तक राग लगा है तब तक सद्बुद्धि कहाँ आती ? यहाँ थोड़ेसे धन-वैभवको पाकर लोग उसमें मग्न हो जाते, मगर उसमें मग्न होनेसे लाभ क्या ? आपकी यह फैक्टरी, आपका यह सारा धन-वैभव आपके साथ जायगा

क्या ? लोग सोचते हैं कि साथ तो न जायगा मगर मेरे बेटोंके वाम तो आयगा ।... अच्छा तो ये बेटे मरकर आपके साथ जायेंगे क्या अथवा ये बेटे आपकी कुछ मदद कर देंगे क्या ? ...ये बेटे आपके कुछ नहीं हैं, मगर मोहका ऐसा अंधकार पड़ा है कि जिसके कारण यह जीव इस वैभवके खातिर अन्याय करता है, अनेक जीवोंको कष्ट पहुंचाता है । आज देशमें जो इतना भ्रष्टाचार फैला है उसका कारण क्या है ? बस एक मिथ्याज्ञान । देखो छोटेसे लेकर बड़े-बड़े अधिकारी तक सब कोई इस रिश्वतखोरीमें मग्न हैं, सरकारके काम भी बिगड़ रहे हैं और परेशान भी सब हो रहे हैं, मगर मोह ऐसा कठिन छाया है कि किसीके कुछ सुबुद्धि नहीं जगती । आत्मन्, अपना हित चाहते हो तो एक सच्चा ज्ञान जगायें, इस मिथ्याज्ञानको दूर हटायें । किसीके साथ जरा भी अन्याय न करें । हाँ जीवन चलाना है तो धर्मसे अपनेको ओत-प्रोत करें । धर्मपालन ही जीवनका एक सार काम है, ऐसा भाव यदि जग जाय तो आज देखो देश खुशहाल हो जायगा । देशमें कोई आपत्ति नहीं, मगर तृष्णाका रंग ऐसा चढ़ा है कि आज एक भी व्यक्ति सुखी नहीं है ।

अनन्तानुबन्धी कषायमें बरबादीका नृत्य — अनन्तानुबन्धी कषाय, अनन्तानुबन्धी क्रोध, ऐसा क्रोध कि मैं दूसरेको बरबाद करके ही रहूंगा, ऐसा संकल्प ठान लिया, इस भवमें बदला न चुका सके तो अगले भवमें बदल लेंगे । यह अनन्तानुबन्धी क्रोध, अनन्तानुबन्धी मान— अपने आपको इतना मान चाहते कि जगतके सब जीवोंको तुच्छ समझते, ये जीव कुछ नहीं हैं, बस जो कुछ हूं सो मैं हूं । मेरा ही प्रभाव है, मैं ही समझदार हूं, इस प्रकारका जब मान जग रहा तो यही है अनन्तानुबन्धी मान । इस जगतमें विषयोंकी प्राप्तिके लिए मायाचारी करना, चाहे इसमें कोई दुःखी हो, किसीकी मौत हो, किसीका कोई हाल हो, पर अपनेको विषयसामग्री पाना है । इस तरहकी मायाचारी यह अनन्तानुबन्धी माया है । अनन्तानुबन्धी लोभ—मर जायेंगे, मगर लोभ न छोड़ेंगे । तुम्हारे इस पंजाबका ही एक किस्सा सुना है कि कोई किसान दो गाड़ी अनाज (१०००) रु० में बेचकर आया । जाड़ेके दिन थे, सो गाँवोंमें ऐसा होता है न कि कोई एक गड्ढासा खोदकर उसमें आग जलाकर उसके पास बैठकर तापा करते हैं, सो उसके घरके सभी लोग जाड़ेके दिनोंमें उस भट्टीके पास बैठे ताप रहे थे । आपस में गर्वों मार रहे थे । वहाँ उस किसानका कोई दो सालका बच्चा भी खेल रहा था । किसी तरहसे खेल-खेलमें वे (१०००) रु० के नोट बच्चेके हाथमें आ गए । उस बच्चेको समझ तो कुछ थी नहीं सो आगमें डाल दिया । आगमें पड़ते ही सारे नोट जल गए । वहाँ (१०००) रु० के नोट बिगड़ोपर उस किसानको बच्चेपर इतना क्रोध आया कि बच्चेको उस जलती भट्टीमें पटक दिया, बच्चा उसीमें जलकर मर गया । तो देखो यह इस लोभ कषायका ही तो कारण है । यह लोभ कषाय बड़ी अनर्थकारी है, बड़ी बुरी चोज है । समाचार-पत्रोंमें अनेक हत्याओं

के समाचार प्रतिदिन मिलते हैं। घरोंमें भी हत्याये हो जाती हैं। यह सब क्या है ? यह है परिणामोंकी मलिनता। ऐसे मलिन परिणाममें रहकर इस मनुष्यभवको अगर गुजार दिया तो बताओ कोई लाभ उठा पाया क्या ?

कषायसे हटकर ज्ञानस्वरूपमें उपयुक्त होनेका सहत्व—अरे इस मनुष्यभवकी सफलता तो इसमें है कि अध्ययन करें, स्वाध्याय करें, तत्त्वचिन्तन करें, सत्संग करें, प्रभुभक्ति करें, पर गृहस्थ हो तो गृहस्थी चलानेके खातिर ५-७ घंटा नियत समयपर रोजिगार करें। यह जीवन विषयसाधनोंके लिए नहीं है। इस जीवनका सदुपयोग मोक्षमार्ग बनानेमें है, अन्यथा जैसे कीड़ा-मकौड़ा या खोटे मनुष्य अनन्त बार होते चले आये हैं उसी तरह ही यह जीवन भी समझ लीजिए। कोई लाभकी बात तो नहीं आयी। मोक्षमार्ग बने तो इस जीवको लाभ है अन्यथा जीवन बेकार है। इस तरह अपनी शान्ति चाहो, आनन्द चाहो, निराकुलता चाहो, उसीको पसंद करो, कषायोंको पसंद मत करो। ये तो सब औद्यिक भाव हैं। ऐसे ही और भी कषाय हैं जो अनन्तानुबंधीसे कुछ कम दुःख देने वाली हैं। आखिर हैं सब दुःखमयी चीजें। उन कषायोंसे हटना और अपने आत्मस्वरूपमें लगना, इसीसे इस जीवनकी सफलता है।

अनन्तानुबंधी क्रोध मान का संताप—कषाय शब्दका अर्थ है जो आत्माको कसे अर्थात् दुःख देवे। सो देख लो—जब क्रोध, मान, माया, लोभ कोईसी भी कषाय उमड़ती है तो यह जीव बेचैन हो जाता है और उसमें भी चार-चार जातिके हैं—अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ जो मिथ्यात्वका बन्धन कराये, ऐसी कषाय, बड़ा प्रचंड क्रोधो होना, बैरको न छोड़ना, दुष्ट स्वभावका होना, दया धर्म रंज भी चित्तमें न रहना, परिग्रहके प्रति ममता रखना याने ये सब मेरेको मिलें और दूसरोंकी कुछ पराह न होना, ऐसी जो भीतरमें खुदगर्जी है अथवा तीव्र कषाय है वह अनन्तानुबंधी कषाय है। जहाँ अनन्तानुबंधी कषाय है वहाँ सम्यग्दर्शन नहीं। भला सोचो तो सही, इस कषायसे हम आपका कोई भला है क्या ? अगर नहीं है भला तो फिर जो कषाय उपजती है उसे यह छोड़ना क्यों नहीं चाहता ? उसे अपनाता क्यों है ? इसकी बुद्धि बिगड़ गई है। अपने आपके सत्य पवित्र प्रभुवत् आनन्दमय स्वरूपकी सुध नहीं है इसलिए यह बाहर भटकता है। अनन्तानुबंधी मान—इतना तेज घमंड कि सारे जीवोंको तुच्छ समझ लिया। ये कुछ नहीं हैं, जो कुछ हूं सो मैं हूं।

स्वरूपदृष्टि हुए बिना सब जीवोंको यथार्थतया समान मान सकनेकी असंभवता—भला बतलावो—जितने जीव हैं उन सब जीवोंका स्वरूप एक समान है या उनमें घट-बढ़ है ? कर्मका उदय है, इसलिए घट-बढ़ आता है। कोई धनी है, कोई निर्धन है, कोई राजा है, कोई रंक है, ऐसी बातें आ गई हैं, पर यह जीवस्वरूप तो प्रभुवत् है, जो अरहंतका स्वरूप, जो सिद्धका स्वरूप सो हम आपका स्वरूप। देखा बड़े-बड़े वैभव भी आप पा लें, लेकिन उससे

शान्ति न मिलेगी और एक अपने अपना सही स्वरूप आपकी दृष्टिमें आ जाय कि मैं तो केवल चैतन्यप्रकाशमात्र हूं, इसमें जो गड़बड़ी है वह सब कर्मकी भांकी है। मैं तो स्वयं शुद्ध हूं, कर्म की भांकीसे मैं अशुद्ध बन रहा हूं। अपने सही स्वरूपकी सुध आ जाय तो उसमें शान्तिका मार्ग मिलेगा अन्यथा बड़े राजा महाराजा भी बनें, बड़े धनसम्पन्न भी बनें, फिर भी शान्ति रंच नहीं आ सकती। शान्ति तो अपने आत्माका स्वरूप है, अपने आत्माके ज्ञानसे शान्ति उत्पन्न होती है। जहाँ परवस्तुके प्रति ममता है, तुष्टता है, अज्ञान है, एक मान रहे हैं परको और अपनेको वहाँ तो बेहोशी है, इसको शान्ति कहाँसे आये ? सच-सच जानें। हम भगवान को पूजते हैं तो किस कारण ? कौनसी खासियत है भगवानमें ? तो प्रथम खासियत यह है भगवानम वीतरागता और सर्वज्ञता है। रागद्वेष जन्म जरा मरण आदिक कोई दोष नहीं रहे, इसलिए पवित्र हो गए, और उनका ज्ञान इतना पूर्ण विकसित है कि तीनों लोकालोक सब एक साथ ज्ञानमें आ रहे हैं, इतना उच्च आत्मा वह है भगवान। वही हमारा स्वरूप है। जरा ममता त्यागकर देख तो लें, अपना सही आनन्द चख तो लें कि अपनेमें क्या समृद्धि भरी पड़ी है ? कषायोंसे प्रीति न करें, ये कषायें तो दुःखके लिए ही आयी हैं, ये मेरे स्वरूप नहीं हैं। कोई भी पर्याय मिली हो, कोई भी स्थिति मिली हो उससे अपने आपको बड़ा मत समझें, और मान लो कि इस दुनियामें हम बड़े भी हो गए, फिर भी इन छोटोंके बीच उनको समान मानते हुए अगर उनके बीच रहे तो कितना आनन्द प्राप्त होगा। और जहाँ यह दुविधा मिली कि ये कुछ नहीं हैं, मैं हूं सब कुछ, वहाँ मित्रता बिगड़ गई, अब आराम न रहेगा, कुछ कष्ट आयगा, इस नाते मान कषाय इस जीवको कठिन क्लेश पैदा करती है।

अनन्तानुबंधी माया व लोभकी कल्मषात्मकता—माया लोभ यह तो बहुत बड़ा रंग है, इसमें लिपटा हुआ प्राणी तो बड़ा कलंकित है, उसे शान्ति कहाँसे आयगी ? तो अनन्तानुबंधी कषाय यह संसारकी परिपाटी बढ़ा रही है।

अनन्तानुबंधीका अभाव होनेपर अप्रत्याख्यानावरणके उदयसे होने वाली त्रुटियां—जिन जीवोंको सम्यग्दर्शन हो गया, आत्माका और परका सच्चा स्वरूप जिनके ज्ञानमें आ गया उनके अनन्तानुबंधी कषाय नहीं रहती, फिर भी अगर वे कोई व्रत नहीं कर सकते, कोई त्याग नहीं कर सकते, सच्चा तो ज्ञान कर लिया, मगर त्यागमें नहीं बढ़ सकते तो उनके हैं अप्रत्याख्यानावरण कषाय याने श्रावकका व्रत भी नहीं ग्रहण कर सकते, इतनी कमजोरी है। वैराग्य प्रतिमा, सच्चा ज्ञान जगनेपर भी अभी ज्ञानमें निर्बलता है। भला बतलावो इस जीवको किसी भी बाहरी पदार्थका संग शान्ति दे सकता है क्या ? मकान हो, परिवार हो, मित्र हो, कोई भी हो, अपना शरीर भी जब तक शरीरका सम्बन्ध है तब तक इस जीवको शान्ति मिलती है क्या ? यह तो कल्याणकी बात है कि भूख लगी, दुःख हुआ

और थोड़ा शमन कर लिया, उसमें मौज मान लिया, मगर भूखें सदाके लिए मिट गई क्या ? अब भूख रोज रोज न लगेगी क्या ? रोज वही भूख, वही शमन, वही कष्ट । किसी भी पर-पदार्थका संग इस जीवके लिए शान्तिदायक नहीं है । तो क्या करना ? इन सबसे विरक्त होना, उपेक्षा करना, और अपने आपका जो सहजस्वरूप है केवल ज्ञान जाननमात्र, जिसमें रागद्वेषका प्रसंग नहीं, ऐसा शुद्ध जानन, यह स्थिति बने तो उसे शान्ति प्राप्त हो । हाँ तो अप्रत्याख्यानावरण कषाय जिसमें संयमासंयम नहीं हो पाता, फिर भी यथार्थ ज्ञान है स्व और परका इसलिए भीतरमें व्यग्र नहीं होता ।

अनन्तानुबन्धी व अप्रत्याख्यानावरणका अभाव होनेपर भी प्रत्याख्यानावरणके उदयसे होने वाली त्रुटियाँ—जो जीव ज्ञानबलमें बढ़ गया और वैराग्य उत्पन्न हो गया उसके फिर अप्रत्याख्यानावरण कषाय नहीं है । श्रावक बन गया, शुद्ध प्रवृत्तिसे रहने लगा, फिर भी पूर्ण संयम ग्रहण नहीं कर सकता । देखो गृहस्थ भी अगर सही ढंगसे गृहस्थीमें रहे तो उसका जीवन सफल है । पहली बात तो यह है कि जो कुछ समागम मिला है उसके प्रति यह भाव रखे कि यह पुण्यफलसे मिला है, यह तो गुजारेके लिए है, यह मेरा कुछ नहीं है, इन सबका उपयोग गुजारेके लिए है । मुझे किसलिए गुजारा करना ? जिन्दा रहनेके लिए । क्यों जिन्दा रहना ? धर्मपालनके लिए । अगर धर्मपालनका प्रवर्तन नहीं है तो जिन्दा रहना भी बेकार । वहाँ मरण और जीवन दोनों एक समान हैं ? क्या ऐसे अनेक जीवन नीत नहीं चुके जिनमें खूब ममता बसायी, विरोध किया, अपने आपके स्वरूपको भूले रहे । वह जीवन क्या जीवन था ? वह मरण था याने आत्माका जो चैतन्यस्वरूप है वह तो निरन्तर मर रहा है, क्योंकि इसका उपयोग विषयोंमें, कषायोंमें, अज्ञानमें जा रहा है । तो धर्मके लिए जीवो याने सहज ज्ञानस्वरूप की आराधनाके लिए जीवन है और उस जीवनका साधन है यह ही जो गृहस्थीमें कर रहे । तो गुजारा मात्र चलानेके लिए ये सब परिवार है । अगर यह अज्ञान आया कि ये ही मेरे सब कुछ हैं, इन्हींसे मैं बड़ा हूँ तो जीवनकी सफलता नहीं है । बड़े बनकर नम्र रहें, सबको समान समझें, सबका आदर भाव रखें तो एक तो प्रसन्नता बढ़ेगी और जो दुनियासे न्यारा ऊँचे चढ़-चढ़कर रहेगा उसे तो साक्षात् क्लेश है । तो ये कषायें जैसे-जैसे ज्ञान बढ़ता है कम होती जाती हैं और यह जीव कुछ शान्तिके मार्गमें बढ़ता है ।

अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यानावरण व प्रत्याख्यानावरणका अभाव होनेपर भी संज्वलन कषायके उदयसे होने वाली त्रुटियाँ—ज्ञानबलसे बढ़ा तो इसके अन्य कषायें नहीं रहें, मात्र संज्वलन कषाय रहती है । मुनि हो गए, तो मुनि होनेका अर्थ क्या ? याने केवल आत्मा आत्माकी ही धुन बनाये रखनेका काम रहे उसे कहते हैं मुनि । जो समाजमें बैठकर गप्प करे, खेले, मौज माने, और-और बड़ी-बड़ी बातें करे वहाँ मुनिपना नहीं है । मुनिपनाका अर्थ है

कि आने उस ज्ञानस्वरूप आत्मा की धारा-धामें धुन लग गई तब ही तो उसे घरसे क्या बाम रहा ? घर छूट गया, बस्त्रोंकी भी पिक्र नहीं रहती, कहाँ धरना उठाना ? यह भी उसे बोझ दिखता, क्योंकि अपने परमात्मस्वरूपकी भक्तिकी इतनी बड़ी धुन लगी है कि उसे तो कपड़ेका बोझ लग रहा, हटा दिये कपड़े । खाये कैसे ? अगर खानेका कुछ साधन खुद बनायेगा तो वही चिन्ता, वही शल्य रहेगी, फिर तो आत्माकी धुन खतम हो जायगी, इसलिए जब भूख लगी तो चर्याको निकल गए । कहीं भक्तिपूर्वक किसीने निर्दोष आहार दे दिया तो भुधा मेट लिया और आकर फिर धर्मसाधनामें लग गए । इसे कहते हैं मुनिपद । निर्दोष वृत्ति होनेपर मुनि संज्वलन कषायके उदयसे अपनेमें स्थिरता नहीं पाता । वह मुनि तत्त्वज्ञानमें बढ़े, श्रेणीमें पहुंचे तो वहाँ कर्मनिर्जरा होती, और श्रेणियोंमें बढ़े तो वहाँ निर्वाण प्राप्त होता ।

सकल संकटोंसे मुक्त होनेकी कुञ्जी अन्तःसहजपरमात्मतत्त्वका परिचय—इस जीव का भला अपने आपके सहजस्वरूपके परिचयसे है । दूसरा और कोई उदय नहीं है कि इस जीवका कल्याण हो सके । दुनियावी दृष्टिसे जिसके बड़ा-बड़ा वैभव है उसे देखकर निर्धन लोग समझते हैं कि यह तो बहुत सुखी है, मगर जरा उसके हृदयको टटोलकर तो देखो, वह बड़ा दुःखी है । उसे रात-दिन चैन नहीं पड़ता । तो धन वैभवका समागम उस जीवके लिए शान्ति का कारण नहीं, शान्तिका कारण है आत्माके सहजस्वरूपका यथार्थ ज्ञान । एक जरासा ही तो नुक्ता है, कुञ्जी है संकट मेटने और सुखी होनेकी । यह कुञ्जी जिसने पा ली उसका जीवन सकल है । वह क्या कुञ्जी है ? वह कुञ्जी यही है कि अपने आपके बारेमें विचार करें कि मैं आत्मा सहज अपने आप स्वयं किस स्वरूपमें हूँ ? शरीरका, कर्मका सम्बंध होनेसे जो बन रहा वह मैं नहीं । मैं अपने आप जो हूँ सो ही मैं हूँ । इस शरीरमें लिपटकर, बँधकर जो हाल हो रहा यह मैं नहीं, यह तो परिस्थिति मजबूर करा रही, पर मैं यह नहीं हूँ । मैं अपने आप अपनेमें अपने ही अकेलेमें क्या हूँ—उस स्वरूपकी जिसने दृष्टि बना ली और फिर जब चाहे बस वहीं दृष्टि रखे कि मैं यह हूँ, उसे सम्यक्त्व जग जायगा । देखिये सब परकी उपेक्षा करके आत्म-स्वरूपकी धुन बनाकर कोई जीवन निभाये तो यह शक न करना कि उसका जीवन कैसे निभेगा ? अरे इसके इतना तीव्र पुण्यकर्मका बन्ध होता है कि उसके जीवननिर्वाहकी सब सामग्री स्वयमेव प्राप्त होती है । यहाँ कोई कमाने वाला है क्या ? एक भ्रम लगा रखा है कि मैं दूकानमें बैठकर इतना धन कमा डालता हूँ ? अरे नहीं, यह हाथ-पैर चलाने भरसे कहीं कमायी नहीं हो जाती, किन्तु जिन-जिन जीवोंके काममें, उपभोगमें यह सम्पदा आती है उन सबके भाग्यसे (पुण्योदयसे) यह कमायी चल रही है । आपको तो यह ध्यान रखना चाहिए कि जिनके पुण्योदयसे यह कमायी चल रही है, मैं तो उनका सेवक हूँ, मैं कमाने वाला नहीं, मैं तो ज्ञाता हूँ, जाननहार हूँ । बस ज्ञाता रहना, जानना, अनुभवना भर का काम है । इससे

बाहर मेरा काम नहीं है तो जिन जीवोंको अपने स्वरूपकी सुध हुई है वे जीव धन्य हैं, महाभाग्यवान हैं, पुण्यवान हैं, धर्मात्मा हैं, उनकी तो मनुष्य क्या, देव भी पूजा करते हैं। जिसने अपने स्वरूपकी सुध ली वहाँ कषायें नहीं ठहरती। जहाँ कषायें न रहीं वहाँ इस जीवको आनन्द है।

कषायकी विविध वृत्तियाँ—ये कषायें जो चार प्रकारकी बतायी थीं, जातिभेदसे १६ तरह की हुई और प्रवृत्तिकी बातें और मिलायें तो वे २५ प्रकारकी हो जाती हैं। हँसना, मजाक करना यह भी तो कषाय है, किसीके प्रति प्रीति उपजना यह भी कषाय है, किसीके प्रति घृणा उपजना, यह भी कषाय है, किसी बातपर रंज आये शोक आये, क्या करें ? बड़ा नुक्सान हुआ, बड़ा गजब हुआ, वह भीत गिर गई, उस धनमें टोटा पड़ गया, उसके पीछे शोक करना यह भी तो कषायकी बात है। किसी बातका भय (डर) उत्पन्न होना—हाय अब क्या होगा ? पता नहीं सरकार कैसे कानून बना दे, कहो सारा धन जिन्दामें ही छिन जाय या मरने पर सारा धन छूट जायगा... आदि अनेक बातें सोच सोचकर भय करना, यह भी कषाय है। देखो इन बाहरी चीजोंसे मतलब तो कुछ नहीं इस जीवका, पर तृष्णाका रंग ऐसा लगा है कि यह जीव बड़ा परेशान हो रहा है। इस तृष्णाके सम्बन्धमें एक घटना आयी है कि कोई किसान एक रुपया कलदार सिक्का अपनी मुठ्ठीमें बाँधकर एक अनेका आटा खरीदने दुकान गया। गर्मीके दिन थे सो वह रुपया पसीनेसे भीग गया। खैर, आटा तो ले लिया पर जब वह रुपया देने लगा सो देखा कि रुपया तो रो रहा है, सो कहा—ऐ नोट तू रो मत हम मर जैहें पर तुझे न भजै हैं। यह तो एक किसीकी घटनाकी बात कही, पर यह तृष्णाकी बात तो घर घरमें हैं। जहाँ तृष्णा है वहाँ कल्याणका मार्ग नहीं मिल सकता। तो यह भय होना भी एक कषाय है। ग्लानि होना भी एक कषाय है। जैसे खुदके लड़केके नाक निकल पड़े तो लोग अपने कपड़ेसे पोछ देनेमें ग्लानि नहीं करते, पर किसी दूसरेका लड़का हो तो उसकी नाक बहते देखकर लोग बहुत नाक भौं सिकोड़ते हैं, बड़ी ग्लानि करते हैं। यों ही हर एक बातमें, जरा जरासी बातमें ग्लानि करना यह भी एक कषाय है। इसके फलमें बड़ा विकट कर्मबन्ध होता ? वेद-काम विकार, विषय वासना का चित्तमें बना रहना यह भी एक कषाय है। देखो यह शरीर महादुर्गन्धित चीजोंसे भरा हुआ है फिर भी कामवासनाके वशीभूत हुए प्राणियोंको यह शरीर बड़ा रम्य लगता। तो यह कामवासना भी एक कषाय है, तो ऐसी ६ नो कषायें हो जानेसे ये २५ कषायें होती हैं, और २५ ही क्या, उनके भेद और किए जायें, उनका तारतम्य देखा जाय तो लोकके असंख्याते लोक प्रमाण कषायें हैं। जितने लोकमें प्रदेश हैं उससे असंख्याते लोक हों, उनके प्रदेश हों, उतनी तरहकी कषायें होती हैं। यह जीव इन कषायोंसे बच ले और एक यही धुन

बना ले कि मेरेको सम्यग्दर्शन मिले तो वह अपने हितका मार्ग पा जायगा, सुखी हो जायगा । सम्यग्दर्शन क्या ? अपने आत्माके बारेमें यह दृष्टि जग जाय कि मैं तो मात्र चैतन्यप्रकाश हूँ, रागद्वेष विकल्प विचार सुख दुःख यह तो कर्मलीलाकी झलक है, इनमें मैं क्यों लगूँ ? ये मेरे स्वरूप नहीं, मेरा स्वरूप केवल ज्ञानमात्र है । ऐसी दृष्टि जगे तो उसके सम्यग्दर्शन होगा ।

अथवा शक्तितोऽनन्ताः कषायाः कल्मषात्मका ।

तस्मादेकैकमालापं प्रत्यनन्ताश्च शक्तयः ॥१०५०॥

शक्त्यपक्षेया कषायोंकी अनन्तता—कषाय औदयिक भाव हैं, कर्मके उदयसे ये विकार हुआ करते हैं, उनका यह जिक्र चल रहा है कि ये कष्ट दिया करते हैं । इन कषायोंको अब तक ४, १६, २५ और असंख्यात लोक प्रमाण इतनी तरहसे समझा गया । अब कहते हैं कि इतना ही नहीं, इनको शक्तिकी अपेक्षा देखा जाय तो कषायें अनन्त हैं । इनको अनुभाग फलशक्ति उसकी दृष्टिसे देखें, तो अनन्त प्रकारकी कषायें हैं । अब देखो आप एक हैं और कषायें लदी हैं अनन्त तो कितना अपनेको एक अरक्षित समझा जाय ? और उसपर भी दुनियाकी चीजोंको निरख-निरखकर हर्ष मानें—सब कुछ मिला, अहा तो जब तक मिथ्यात्वका विष है तब तक यह जीव कैसे सुखपूर्वक रह सकता ? ये कषायें अनन्त हैं, ये सारी कषायें कल्मष हैं, मलिन हैं, जिनका अंधकार जैसा रूप है । जब कभी किसीके क्रोध जग रहा तो उसमें अनन्त अनुभाग हैं । मान, माया, लोभ जग रहा तो उसमें अनन्त अनुभाग हैं, इस तरह ये कषायें अनन्तरूप हैं ।

मैं हूँ के निर्णयका महत्त्व—हम एक हैं और हमपर बोझ इतना विकट लदा है, लेकिन एक कला ऐसी है हम आपमें कि जिस कलाका प्रयोग करें तो यह सारा भव-भवका बाँधा हुआ कर्म बोझ क्षणभरमें जलाया जा सकता है, हटाया जा सकता है । वह कला क्या है ?... अपने स्वरूपकी पकड़, मैं यह हूँ । देखो ये जो विकट दशायें हो रही हैं—नरक, तिगोद, मनुष्य, तिर्यञ्च आदिककी, इनमें जो पर्याय प्राप्त हुई उसको यह जीव मानता है कि मैं यह हूँ । जीवकी इस मिथ्या मान्यतासे ही ये सब दशायें हो रही हैं, और इस जीवकी यदि ऐसी मान्यता हो जाय कि यह मैं आत्मा अमूर्त निर्लेप ज्ञानमात्र हूँ, इसमें किसी परपदार्थका रंभ भी प्रवेश नहीं, तो उसकी इस मान्यतासे ही संसारकी सारी भटकना खतम हो जायगी, संसारसे पार हो जायगा । जीवकी मिथ्या और सच्ची मान्यतापर ही उसका पतन और उत्थान है । तो अपना एक यह निर्णय बनायें कि मुझे तो अपने आत्माको समझकर ही रहना है और अपना उपयोग इस परमात्मस्वरूपकी ओर ही अधिकतर रखना है ।

अस्ति जीवस्य चारित्रं गुणः शुद्धत्वशक्तिमान् ।

वैकृतोऽस्ति स चारित्रमोहकर्मोदयादिह ॥१०६०॥

विश्वास, जानन व रमणकी जीवप्रकृति—जीवमें क्या समृद्धि नहीं ? फिर क्यों बाहर दूक-दूककर रोया जा सकता है—हाय ! मेरे पास कुछ नहीं । अरे अपने स्वरूपको तो देख, उसमें बहुत बड़ी समृद्धि पड़ी हुई है । स्वरूप ही आनन्दमय है, स्वरूप चैतन्यप्रकाश रूप है । क्या है समृद्धि उसमें ? सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, दर्शन, ज्ञान, चारित्र ये तीन पुरुषार्थ इस जीवमें स्वभावसे पड़े हुए हैं । किसी न किसी जगह विश्वास, आश्वासन बनाये रखना, पहला गुण जीवमें यह है । किसी भी जीवमें देख लो, कोई घरमें विश्वास बनाये है कि यह घर हितरूप है, कोई कुटुम्बमें विश्वास बनाये हुए है, कोई जड़ धनमें विश्वास बनाये हुए है । तो ज्ञानी जीव अपने आपके सहज चैतन्यस्वरूपमें विश्वास बनाये है कि यह ही हितरूप है । जीवमें यह स्वभाव पड़ा हुआ है कि कहीं न कहीं विश्वास बनाये रखना । अब अपनी-अपनी यह छाँट है कि कहाँ विश्वास बनायें कि अपनेको धोखा न हो, अपने आपकी आराधनामें धोखा न हो । बाहरमें कोई कितना ही सगा हो, कहा नहीं जा सकता कि यहाँसे धोखा न मिलेगा, पर अपने आपके स्वरूपकी आराधनामें धोखेका काम नहीं । विकास ही विकास बढ़ता चला जाता है । इस जीवमें दूसरी आदत यह है कि सही-सही ज्ञान बने । झूठा ज्ञान बनानेके लिए कोई जीव राजी न होगा । भले ही कोई मिथ्यादृष्टि है, पर वह भी अपनी बुद्धिके अनुसार सही ज्ञानमें ही प्रीति रखता है । जब जान लेता कि यह तो झूठा ज्ञान है तो उसमें यह प्रीति नहीं रखता । चाहे झूठको भी सच समझ ले, यह अलग बात है, पर जिसे झूठ समझ ले उसमें वह प्रेम नहीं रखता । तो सच्चे ज्ञानसे प्रीति रखनेकी आदत इस जीवकी है । तीसरी आदत जीवकी यह है कि कहीं न कहीं रम जाना, मग्न हो जाना । चाहे पशु हो, पक्षी हो, कीड़ा-मकौड़ा हो, ज्ञानी हो, अज्ञानी हो, सभीकी आदत है कि किसी न किसी बातमें रम जाना । देखो कोई घरमें रम रहा, कोई स्त्रीमें रम रहा, कोई पार्टीमें रम रहा, कोई अपना किसी तरहसे नाम समझकर उसमें रम रहा, कोई विषयोंमें रम रहा, कोई खानेमें रम रहा, और ज्ञानियोंको देखो तो वे अपने आत्माके सहज विशुद्ध स्वरूपको निरखकर उसमें रम रहे ।

रम्य आधारके विवेकका महत्त्व—देखो यह विवेककी बात है कि हम कहाँ रमें कि हमको सदाके लिए शान्ति मिल जाय ? वह स्थान है अपना आत्मदर्शन, चैतन्यप्रकाश, उसमें रमें । तो इसको कहते हैं चारित्र । रमनेका नाम है चारित्र । तो प्रत्येक जीवमें चारित्र नाम का गुण है । जिसकी दृष्टि विशुद्ध है वह सही काम करेगा और अगर चारित्रमोहनीय वर्मका उदय आया है तो वही गुण विकृत बन गया, मायने रमना तो चाहिए था आत्माके सत्य स्वरूपमें, किन्तु रमने लगा यह विषयकषायोंमें, ऊल-जलूल घटनाओंमें । तो यह सब कर्मका आक्रमण है, कर्मकी झलक है, मेरा स्वरूप नहीं है । मेरा स्वरूप तो विशुद्ध चैतन्यमात्र है ।

मैं अपने इस चैतन्यस्वरूपमें ही आत्मसात करूँगा। इन कषायोंसे मैं दूर होता हूँ। ये कषायों मेरे लिए बरबादीकी चीज हैं, मैं अपने स्वरूपका आदर करूँगा, भगवानके दर्शन करूँगा, उनके स्वरूपको निरख-निरखकर अपने स्वरूपका स्पर्श करूँगा और इस निज परमात्मतत्त्वकी आराधनामें अपना ज्ञान लगाऊँगा, ऐसा ज्ञानी जन किया करते हैं, यह ही हम आपको करना है तब शान्ति प्राप्त हो सकती है।

तस्माच्चारित्रमोहश्च तद्भेदाद् द्विविधो भवेत् ।

पुद्गलो द्रव्यरूपोऽस्ति भावरूपोऽस्ति चिन्मयः ॥१०६१॥

द्रव्यमोह और भावमोहके परिचयका प्रसङ्ग—इससे पहले श्लोकमें यह बताया था कि जीवके चारित्र नामका गुण है जिसकी शुद्ध प्रकृति, शुद्ध शक्ति अपने आत्मामें रमण करने की है, किन्तु चारित्रमोहनीय कर्मके बन्धकसे यह चारित्र गुण विकृत हो गया है, जब यह बात पायी गई याने चारित्रमोहनीय कर्मका उदय हुआ और यहाँ आत्माका चारित्र गुण विकृत हुआ तो इसमें यह समझा जा रहा है कि चारित्रमोह दो प्रकारका है—एक पुद्गलरूप चारित्रमोह और एक चैतन्यमय चारित्रमोह। एक द्रव्यरूप चारित्रमोह, एक भावरूप चारित्रमोह।

द्रव्यमोह और भावमोहका मूलपरिचयपूर्वक वर्णन—बात कुछ प्रारम्भसे समझें कि जितने हम आप जीव हैं उन सब जीवोंमें तीन प्रकारकी आदत है। कहीं न कहीं विश्वास जमाना और किसी न किसीका हितरूपसे ज्ञान करना और कहीं न कहीं रम जाना, ये तीन बातें हर एक जीवमें मिलेंगी। ज्ञानी है उसमें भी ये तीन बातें हैं। अज्ञानी जीवका शरीरमें विश्वास है—यह मैं हूँ, इसके अच्छे रहनेसे मैं अच्छा हूँ, और इस ही विषयक ज्ञान चलता है, कैसे शरीरका पोषण हो, कैसे शरीर आनन्दमें रहे, ज्ञान भी चलता है और शरीरमें रमता है, विषयसाधनोंमें रमता है। उसके ये तीन बातें हैं। तो जो ज्ञानी जीव हुआ, जिसने आत्मा के सहज स्वभावका परिचय पाया उसमें ये तीन इस तरह हैं कि आत्माका जो सहज स्वरूप है, अपने ही सत्त्वके कारण जो अपनेमें अना स्वभाव है बस यह ही मैं हूँ, इस तरहका विश्वास रहता है। मैं मैं की धुन सबमें लगी हुई है। मैं हूँ मैं हूँ—इस तरहकी प्रतीति हर एक रखता है, पर क्या हूँ मैं उसके निर्णयमें सारे भेद पड़े हुए हैं। मैं हूँ का सबको विश्वास है। जो आत्माका निषेध कर रहा कि जीव कुछ नहीं है, वह भी अपनेमें मैं का अनुभव कर रहा मैं जो बोल रहा हूँ वह बिल्कुल ठीक है कि आत्मा नहीं है। जीवके बारेमें व्यर्थ पोथना रचा है, ऐसा जो मैं सोच रहा हूँ तो ऐसा सोचने वाला मैं बहुत होशियार हूँ। किसी भी रूपसे मैं का निर्णय बना हुआ है, पर मिथ्या रूपमें मैं हूँ का निर्णय रहे उससे जीवका लाभ नहीं, यथार्थ रूपमें निर्णय सने कि मैं वास्तवमें क्या हूँ, परमार्थतः क्या हूँ और यह बात जब जल्दी समझमें आयी, कुछ ऐसा सोच लेवें कि मैं जो हूँ सो हूँ, इसका दूसरेसे मतलब नहीं। कोई

भी चीज, परवस्तु इनका सम्बंध मैं नहीं हूं, इनकी उपाधि मैं नहीं हूं, और अपने आप इसका जो एक चैतन्यमात्र स्वभाव रहता है वह मैं हूं, ऐसा विश्वास जानीको होता है। फिर उस ही मैं के हित-प्रसंगमें उसका ज्ञान चलता रहता है और इस ही आत्मस्वरूपमें वह रम जाता है। तो यह विश्वास ज्ञान, और चारित्र्य ये तीन बातें सबमें पायी जाती हैं। शुद्ध विश्वास तो आत्माके सहज स्वरूपमें है, ये तीनों गुण अब विकृत हो गए तो ये निरपेक्षतया अपने आप विकृत नहीं हुए। देखो बहुत सम्हलकर जाननेकी चीज है। हुआ तो यह अकेला ही विकृत। जीवमें जो रागद्वेष आया सो अकेले ही उस प्रकारके ज्ञानविकल्प रूप बन रहा है, मगर जीव स्वयं ही अपने आपके इस विकारमें निमित्त हो जैसा कि उपादान बन रहा, ऐसा नहीं है अर्थात् विकारमें यह जीव खुद निमित्त नहीं है। क्योंकि ये परभाव हैं, नैमित्तिक हैं, अध्रुव हैं, स्वभावस बाहरकी बातें हैं, ये तो पर प्रसंग पाकर हुए हैं। तो जिसका सामना पाकर ये रागादिक विकल्प जगे हैं एक तो वह पदार्थ पुद्गल कार्माणवर्गणा और एक जो यह मैं उस विकल्पमें आया हूं एक मैं वह पदार्थ। तो दो चीजें हो गईं ना? एक तो है कर्म और एक है जीव। जो कर्म है वह तो द्रव्यरूप कहलाया और जो जीव है वह भावरूप कहलाया। तब नाम रखें द्रव्यमोह और भावमोह।

भावकर्मकी परभावताके तथ्यके परिचयका उदाहरण—देखो यह विश्वास बड़ा ही लाभ देगा जैसे कि है भी। अपनेमें यह विचारें कि मेरेमें जो गंदगी भावोंकी आती है, खोटे विचार, खोटे भाव जो कुछ होते हैं, स्वभावके विरुद्ध रागद्वेष परिणाम जगते हैं, सो यह सब कर्मविपाकका छाया है, प्रतिफलन है, उसमें मलिन बन रहा हूं। ये विकार मेरी गाँठकी, स्वभावकी चीज नहीं हैं। ऐसा विश्वास जमा सकें तो इस अभ्यासके बलसे आत्मामें पवित्रता जगती है। हाँ तो जब ऐसी घटनायें हैं कि जीव तो स्वयं विशुद्ध है, केवल स्वरूप मात्र है और यहाँ घट रहा है यह सारा रागद्वेष मोह भाव। तो यह सब इस ढंगसे हुआ है। द्रव्यमोहका उदय आया, उसकी भाँकी उपयोगमें हुई। भाँकीसे ही मलिन बन गया और जब यह भाँकीको अपनाता है कि मैं तो यह हूं सो यह और अधिक मलिन बन जाता है। तो यहाँ दो बातें समझना—(१) जीवमोह और (२) अजीवमोह। ऐसा समझे बिना विकारकी उत्पत्तिका रहस्य समझमें न आयेगा। जैसे दर्पण रखा है और उसके सामने मानो कोई मुकुट रखा है तो मुकुटका सामना पाकर दर्पणमें मुकुटका प्रतिबिम्ब हुआ। यह तो अब अपने सामने रखकर निर्णय कर लें। अब आपको वह मुकुट दो जगह दिख रहा है—एक तो वह चीज जो चाँदी सोना आदिक धातुओंसे बना है और एक दर्पणमें पड़ने वाला फोटो। तो अब मुकुट दो तरहके हो गए—(१) दर्पणका मुकुट और (२) सोना चाँदी आदिक धातुओंका मुकुट। अब यहाँ विचार करें कि दर्पणमें जो मुकुट प्रतिबिम्ब आया है सो यह कंस आ

गया ? दर्पणमें योग्यता थी कचनेकी सो आ गया, मगर सदा क्यों नहीं रहता ? जब तक उस सोना चांदी वाले मुकुटका सन्निधान नहीं मिलता जब तक प्रतिबिम्ब नहीं होता, और इसको और स्पष्ट करनेके लिए उस मुकुटको आप हटा लें, फिर रख दें, हटा लें, फिर रख दें, जल्दी-जल्दी हटायें रखें और दर्पणमें प्रभाव देखते जायें, प्रतिबिम्ब आया, नहीं आया, यह बात देखकर बहुत जल्दी समझमें आयगी कि दर्पणमें जो प्रतिबिम्ब आया है वह नैमित्तिक है, परभाव है, दर्पणकी परिणति होनेपर भी दर्पणके स्वभावसे बाहरकी चीज है ।

परभावको हटानेकी विधि—दर्पणका मुकुट परभाव है, दर्पणके स्वभावसे बाहरकी चीज है, फिर भी फोटो रूप मलिनता वह सोना चांदीके मुकुटकी नहीं है, दर्पणकी है । ऐसा जानने वाला जब यह चाहे कि दर्पणमें यह प्रतिबिम्ब न रहे तो उपाय बना लेता है, मुकुटको हटा लिया तो दर्पण साफ हो गया । तो यहाँ यह प्रयोग बना लें, मगर आत्मामें ऐसा प्रयोग कैसे बन सकेगा कि उस द्रव्यकर्मको, चारित्रमोहनीय कर्मको हटा दें और खुद बड़े शान्त बैठ जावें । ये कर्म हटानेसे हटेंगे क्या ? अड़ते हैं क्या ? कैसे फेंके जायेंगे ? तो उसका उपाय केवल आत्माके विशुद्ध स्वभावमें यह मैं हूँ, ऐसी प्रतीति रखना, बस यह ही उसका उपाय है । तो यहाँ यह समझना कि दो प्रकारके चारित्रमोह हैं—एक द्रव्यरूप, जो कि पुद्गल कर्म है और एक चिन्मय भावरूप, जो कि जीवकी परिणति है । इन दोनोंको समझना यों जरूरी है कि ऐसा ठीक समझे बिना भेदविज्ञान नहीं होता । बाहरी पदार्थोंमें लौकिक ढंगका भेद करने से पूरा न पड़ेगा, उसे शान्तिका मार्ग न मिलेगा । भेदविज्ञान इस आत्मभूमिमें करना होगा । मेरेमें क्या गड़बड़ी है और यह गड़बड़ी क्यों आयी है और यह गड़बड़ा और मेरा स्वरूप इन दोनोंमें क्या अन्तर है ? यहाँका भेदविज्ञान जगे तो इस जीवको विषयसाधनोंसे प्रीति हटे, बाहरी पदार्थोंके विकल्प दूर हों, अपने आपमें विश्राम पायगा और अपनेमें शान्त होगा । उसके लिए भेदविज्ञान दृढ़ करनेके लिए यह जानना आवश्यक है कि इस आत्मक्षेत्रमें दो चीजें पायी जा रही हैं—(१) द्रव्यकर्म और भावकर्म । पौद्गलिक कर्म और विभाव गड़बड़ी । और ये हो रहे हैं इस निमित्तनैमित्तिक विविसे, तो उसमें साहस जगेगा कि नैमित्तिक भाव मेरा स्वरूप नहीं है, मैं इनमें क्यों रुचि लूँ, मैं इनको क्यों मानूँ ? उपेक्षा करने योग्य हैं अथवा कहो, इनसे विमुख होना योग्य है । ता यह बात सब ज्ञात होगी दो प्रकारके मोहको जाननेसे कि एक तो है कर्मगत मोह और एक है जीवगतमोह । इस समयमें है जीवका विकार, जब ऐसा योग है ।

अस्त्येकं मूर्तिमद् द्रव्यं नाम्ना ख्यातः स पुद्गलः ।

वैकृतः सोऽस्ति चारित्रमोहरूपेण संश्रितः ॥१०६२॥

विकारमें उभयत्र विपरिणमन—अब उक्त प्रकरणत यह जान लेंगे कि अपने आत्मा

में आत्मा तो है ही जैसा भी बन रहा, पर मूर्तिमान द्रव्य पुद्गल कर्म भी इसके एक क्षेत्राव-
गाहमें हैं। देखो पदार्थ दो हैं, तो दो की परिणतियाँ जुदी जुदी हैं, कर्मका काम कर्ममें हो
रहा है और जीवका काम जीवमें हो रहा है। विकारपरिणमन जीवमें चल रहा है और
कर्मविपाक कर्ममें चल रहा है तो ऐसा निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है कि उस कर्मविपाकका
निमित्त पाकर जीवके ज्ञानविकल्प हुआ और चीजें दो हैं अलग-अलग। जैसे सनीमामें दो
चीजें हैं। हॉलमें एक सफेद पर्दा टंगा हुआ है और उसके सामने १००-५० हाथ दूरपर
एक कमरेमें फिल्म मशीन चलाने वाला बैठा है। अब उस मशीन वाले कमरेमें तो फिल्म
टेप मशीनके मुखपर आती है लाइट फेंकती हुई और वहाँ पर्देपर वह चित्रण हो जाता है।
अब यह बतलावो कि पर्देपर जो चित्रण है वह तो पर्देमें ही है, वह फिल्ममें नहीं है और
फिल्ममें जैसा चित्रण है छोटा-छोटा उस रीलमें, वह उसका है, मगर निमित्तनैमित्तिक योग
देखिये कि यहाँ उस रीलमें फिल्म चल रही है तो उसका सन्निधान पाकर उस पर्देपर वे चित्र
आ रहे हैं। आते हैं, चले जाते हैं। जैसे जैसे वहाँ फिल्ममें वह सारा चित्रण चल रहा है
वैसे ही उस पर्देपर भी चल रहा है, मगर उस समय पर्देका जो विकार है वह पर्देमें है,
फिल्ममें जो रंग है वह फिल्ममें है। ऐसे ही उस फिल्मकी तरह तो कर्म हैं, इनका उदय
आता है। और पर्दाकी तरह उपयोगभूमिका है। उन उदयोंका, विपाकोंका, उन क्रोधादिक
अवतन भावोंका इस उपयोगमें अक्स पड़ता है, प्रतिबिम्ब होता, प्रतिफलन होता और यह
जीव अपने उपयोगमें सही स्वभावमें शुद्ध दृष्टि न रखकर उस रूप दृष्टि बना लेगा। मैं यह
हूँ। यहाँ भीतरमें यह गड़बड़ी है जिसके कारण जीव संसारमें खलता रहा। तो यह मूर्तिमान
द्रव्य जो इस जीवके साथ लगा है यह विकृत है, क्योंकि चारित्रमोहनीय कर्मरूपसे स्थित है।
और यहाँ जीव विकृत है, क्योंकि यहाँ ज्ञानविकल्प चल रहा है।

विकारकी नैमित्तिकताका दृष्टान्तपूर्वक स्पष्टीकरण—जहाँ विकार है वहाँ दो बातें
समझ लें—पानी गर्म हो रहा तो आगका सन्निधान पाकर बटलोहीमें भरा हुआ पानी गरम
हो रहा है तो वह पानीकी गरमायी औपाधिक है, नैमित्तिक है, आगका सन्निधान पाकर
गरम हो रहा है, लेकिन यह समझो कि आग उस पानीको गरम नहीं कर रहा, किन्तु वह
पानी खुद अपनी शीत पर्यायको छोड़कर उष्ण पर्यायमें आ गया है। तो अपने परिणामनमें
स्वतंत्र है वह आग भी और वह पानी भी, पर एक निमित्तनैमित्तिक योग है ऐसा कि ऐसी
परिस्थितिमें पानी गरम हो जाता है। ऐसे ही जीवको तो समझिये पानीके स्थानपर और
कर्मको समझिये अग्निके स्थान पर। जैसे अग्निमें गर्मी है, संताप है, गड़बड़ी है, भावना-
पन है ऐसे ही कर्ममें अचेतनमें जो कर्मरूप बन गए उन पुद्गल वर्गशास्त्रोंमें विपाक है, भया-
दनापन है, गड़बड़ी है, क्योंकि उसमें अनुभाग बंध पहले हो चुका था वह ही तो सामने आया

है, उस स्थितिका सामना पाकर उद्योगमें वही झलका और यह जीव उस रूप अपनेको मान बैठता है तो यह पुद्गल द्रव्यकर्म यह निमित्तभूत है। इन कर्मोंसे हटनेका उपाय इन पर नाराज होना नहीं, इनको गाली देना नहीं कि ये कर्म खोटे हैं, दुःखदायी हैं, बैरी हैं, इन्हें हटावो। अरे वे तो अपना काम कर रहे जैसा उनका योग है। यहाँ यह जीव भ्रम कर रहा है कि ऐसा मैं ही करता हूँ। तो कर्तव्य है वहाँ कि यह तथ्य समझ जायें कि जो जीवमें क्रोधादिक विकार हुए, ज्ञान विकल्प हुए वे जीवके स्वभावसे नहीं हुए, जीवके मात्र सत्त्वसे नहीं हुए। हुए जीवमें परिणमन जीवके मगर कर्मोदयका सामना पाकर हुए। फिर इस प्रकार का एक यह पुद्गल कर्म है सो उसकी क्या स्थिति है, अब यह बतलाते हैं—

पृथ्वी पिण्डसमानः स्यान्मोहः पौद्गलिकोऽखिलः।

पुद्गलः स स्वयं नात्मा मिथोबन्धो द्वयोरपि ॥१०६३॥

द्रव्यकर्मकी पृथ्वीपिण्डसमानताका चित्रण—जैसे यहाँ यह चटाई पड़ी, तखत पड़ा, यह चीज पड़ी है, ये क्या चीजें हैं? ये तो डेले हैं, डले हैं वनस्पतिके पृथ्वीके तो जैसे ये पड़े हुए हैं, कोई चीज है, अजीव है, अचेतन है, अपने स्वरूपमें पड़े हैं, ऐसे ही ये पौद्गलिक कर्म ये अपनेमें पृथ्वी पिण्डकी तरह पड़े हुए हैं याने मिट्टीकी तरह पड़े हुए हैं। मिट्टी पुद्गल, कर्म भी पुद्गल। मिट्टी अपने स्वरूपमें, स्वभावमें रह रही है, अपने ढंगसे अपनेमें परिणम रही तो ये कर्म भी अपने स्वरूपमें रह रहे, अपने ढंगसे परिणम रहे। ये पौद्गलिक कर्म जिनका उदय पाकर जीवके विकार जगता है ये पृथ्वी पिण्डके समान है। सारे ही पौद्गलिक हैं। वे पुद्गल ही हैं वे जीव नहीं हैं, पर इन दोनोंका परस्परमें बन्धन हो जाता है, भिन्न होकर भी बन्धन हो गया। जैसे पिता पुत्र दोनों भिन्न भिन्न जीव हैं मगर उनका परस्पर बंधन हो गया। रस्सीके गाँठकी तरह बंधन तो नहीं है मगर जहाँ परतंत्रतात्मकता है उसको ही तो बंधन कहते हैं। पुत्रको छोड़कर पिता कहीं भाग नहीं सकता और पिताको छोड़कर पुत्र कहीं भाग नहीं सकता। यह मोहो जनोकी बात कह रहे तो पिता और पुत्रमें ऐसा बंधन बन गया पर बाहर देखो तो दोनों जीव न्यारे न्यारे हैं, इनमें बन्धन कुछ दिख ही नहीं रहा। क्या बाप बेटेकी गाँठ लग गई है शरीरमें? नहीं। दोनों बिल्कुल जुदे जुदे हैं। उनका परिणमन जुदा जुदा, उनकी सत्ता न्यारी न्यारी, उनकी इच्छायें न्यारी-न्यारी, सारे काम उनके न्यारे न्यारे हो रहे हैं, मगर मोहवश वे दोनों बंधनमें पड़े हैं। तो उससे भी विचित्र बन्धन जीव और कर्मका है। कर्म पुद्गल हैं, अचेतन हैं, उनका उनमें ही सब कुछ है, जीव में कुछ नहीं है, जीवका जीवमें है, जीव भावके अनुसार है, मगर दोनोंमें परस्पर बंधन बन गया तो यह जीव भी अपने सही स्वरूपको व्यक्त नहीं रख सकता और यह कमी भी अपने सही स्वरूपको प्रकट नहीं कर पा रहा। वह कर्मरूप परिणम रहा, वह अनुभागसे वलुषित

हो रहा तो यहाँ बह जीव अपने विकल्पसे क्लुषित हो रहा है । तो इन दोनोंका परस्परमें बंध है ।

द्विविधस्यापि मोहस्य पौद्गलिकस्य कर्मणः ।

उदयादागतो भावो भावमोहः सः उच्यते ॥१०६४॥

शान्तिका उपाय स्वभावावलम्बन—अब देखो कि जीवमें जितना बिगाड़ हो रहा है, व्यग्रता हो रही है, आकुलता हो रही है, बिगाड़ तो ख्यालसे हो रहा, दूसरा कोई इसका बिगाड़ नहीं करता आँखों देख लो, दूसरेका तो जीवमें प्रवेश ही नहीं है । इसको कोई छू नहीं सकता, इसको कोई कुचल नहीं सकता । यह जीव तो अमूर्त है इसको कोई दूसरा क्या दुःखी करेगा ? मगर ऐसा ही अशुद्ध उपादान है कि घटनाओंको देखकर और अपने ख्यालके अनुसार अपनी भावना बनाकर यह दुःखी होता जा रहा है । दुःख दूर करना है तो बाहरमें कोई सुधार बिगाड़, निग्रह अनुग्रह न करें, शान्तिके लिये परके निग्रह अनुग्रहका काम नहीं करना पड़ता, किन्तु भीतरमें स्वभाव विभावका भाव करना और स्वभावपर दृष्टि करना यह काम पड़ा है । एक स्वभावदृष्टिका काम होते ही सब कुछ अपने आप हो जायगा । जो बड़े बड़े ग्रन्थोंमें बताया जाता कि श्रेणीमें यो चढ़ता, यों कर्म खिरते, एक एक क्षणकी बात बतायी जाती है । उनको नहीं जाना किसीने, लेकिन उसका स्वभावालम्बन बन गया तो उसके प्रयोग होता जायगा कि जो ग्रन्थोंमें लिखा है वह सब ठीक है और कोई पुरुष जो ग्रन्थोंमें लिखा है उसपर दृष्टि रखे, उसकी ही चर्चामें रहे, उसके ही विकल्पोंमें रहे—यह कैसे कहा, इस गुणस्थानमें ऐसा क्यों ? यह तो जाननेकी चीज थी ? जानना चाहिए, मगर वैसा ही विकल्प बनाये रखे, वैसी ही दृष्टि गड़ाये रखे तो वहाँ यह बात नहीं हो पाती और एक जानता ही नहीं है कि क्या क्या कर्ममें दशायें बन जाती हैं और एकस्वभाव दर्शनका उसे मजबूत ग्रहण उस दृष्टिमें चल रहा है तो वे सारे काम इसमें होते चले जायेंगे । कैसे संक्रमण, कैसे कर्मका खिरना ये सब बातें हो जायेंगी ।

चर्मचक्षुका माध्यम तजकर जानदृष्टिसे अंतः निहारनेका कर्तव्य—भैया ! कर्तव्य एक एक यह हैं कि अपने उपयोगको अपने भीतर ले जावें । उसके लिए पहला प्रतिबंध है कि इन चर्मचक्षुओंको बंद कर लो, बाहरमें कुछ न देखो । बाहरों देखनेसे तो अनेक प्रकारके विकल्प चलते हैं, अभी इसलिए इन आँखोंको बंद करें । भले ही नासाग्रदृष्टिका महत्त्व दिया है, प्रभु नासाग्रदृष्टि हैं, उसमें बातें दोनों आ गई अर्थात् परम उपेक्षाकी बात आयी, किसीका भी विकल्प न करना, किसीको न देखना, और सहज यह ही दृष्टि है, मगर जहाँ यह आदत बनी है कि जहाँ इस मनुष्यने किसी चीजको इन आँखोंसे देखा उसे ही यह अपना लेता है, उसके प्रति विकल्प करता है, उसमें ही चिन्तन बनाता है, तो उसके लिए तो यह औषधि है कि

इन आँखोंको बन्द करके अपने आत्मामें ध्यान बनावें। देखो अपने आप सारे बाहरी विकल्पों का त्याग एक इतने बलपर भी प्रारम्भ हो सकता कि जितने भी ये बाहरी पदार्थ हैं वे सब मुझमें भिन्न हैं, उनके बारेमें हम कुछ सोचें तो वह कर्मबन्ध करता है और तत्काल हम आकुलतामें पड़ जाते हैं। इस कारण किसी भी बाह्य पदार्थको नहीं सोचना है, ऐसे परम विश्रामसे आप अपनेमें स्थित हो जायें, भीतर निरखें एक चैतन्य ज्योति ज्ञानप्रकाश। उस ज्ञानप्रकाशको ही निरखते रहें और उसमें ही यह मैं हूँ ऐसा अनुभवन करनेका पौष्प बनायें तो यह वह पुरुषार्थ है कि जिसकी कीमतकी तुलना संसारके सारे वैभव भी सामने आ जायें तो भी नहीं कर सकते। इस आत्मानुभवसे बढ़ कर संसार कोई वैभव नहीं। वे वैभव आखिर पुद्गल ही तो हैं। कम हो गए तो क्या, अधिक हो गए तो क्या, उनसे आत्मामें कौनसा सुधार होता अथवा कौनसी शान्ति आती है? और एक आत्माके चैतन्य प्रकाशमें यह मैं हूँ ऐसा अनुभव बने तो अद्भुत आत्मीय आनन्दका अनुभव होता है और इस आनन्द के अनुभवमें ही यह सामर्थ्य है कि भव भवके बाँधे हुए कर्म क्षीण हो जाया करते हैं। तो ये दो बातें समझनी हैं कि ये दृश्यमान पदार्थ सब पुद्गल हैं, इनका सन्निधान पाकर इस जीवमें विकार हुए हैं। ये विकार परभाव हैं। मैं तो स्वभावतः विशुद्ध चैतन्यप्रकाश मात्र हूँ।

जले जंबालवन्नूनं स भावो मलिनो भवेत् ।

बन्धहेतुः स एव स्यादद्वैतश्चाष्टकर्मणाम् ॥१०६५॥

मलिनताके आक्रमणसे शान्तिका विघात—जीवको चाहिए सुख शान्ति। दूसरी और कोई माँग नहीं है। किसी भी जीवकी दूसरी कोई माँग नहीं है, एक ही माँग है कि सुख शान्ति मिले और जितनी और माँगें हैं, इच्छायें हैं वे सब इसीके लिए ही हैं कि हमको सुख शान्ति मिले। तो इस समय सुख शान्ति नहीं है, मगर सुख शान्तिका स्वरूप तो है हमारा। हमको सुख शान्ति मिल सकती। अगर सुख शान्तिका स्वरूप न हो तो कितने ही यत्न किए जायें, सुख शान्तिकी प्राप्ति नहीं हो सकती और इस समय अगर अशांति नहीं है तो शांति पानेकी जरूरत ही क्या? तो दोनों ही बातें समझिये। इस समय हम आपको अशांति है तो क्या कोई उपाय है ऐसा कि जिससे शांति प्राप्त हो सके? हाँ है। पहले तो अशांतिकी ही बात देखो कि क्यों अशांति है? जीव तो एक चैतन्यस्वरूप है, चेतना, प्रतिभासना, जानना यह ही उसकी शुद्ध वृत्ति है। चेत गये, जान गए, प्रतिभास हो गया तो इसमें क्या दुःख है? जीवके स्वरूपकी ओरसे देखो तो दुःखका कोई काम नहीं। दुःख तो बन रहा। क्या दुःख बन रहा? ख्यालात देखलो इन बाह्य पदार्थोंमें वासनायें जग रही और ख्यालात ऐसे जग रहे कि उनको छोड़ना भी नहीं चाहता। यह ही तो एक अज्ञान है कि जब किसी भी बाह्य

पदार्थका मेरे आत्माके साथ सम्बन्ध नहीं, मैं चेतन हूं, ये दृश्यमान सब पदार्थ अचेतन हैं, ये मेरे साथ नहीं आये, मेरे साथ जायेंगे नहीं, इनसे मेरा कुछ सुधार बिगाड़ नहीं। वे अपनेमें परिणमते, मैं अपनेमें परिणमता। दुःखका कोई काम नहीं है, मगर दुःख है। दुःख क्या है? ख्यालात, ज्ञानविकल्प दुःखके अनुरूप अपने विचार बनाना, सोचना, यह ही दुःख है, क्योंकि जीव सोचनेके सिवाय कुछ नहीं कर सकता। सोचेगा, जानेगा बस वही विचार किम रूप है तो दुःख है, किस रूप है तो सुख है। यह ही फर्क है। तो ऐसे विचार वासनायें, ख्यालात ये मलिनता है, अपवित्रता है। पवित्रता होती है—प्योरमें, केवलमें, एकमें। कोई भी चीज हो, अकेली हो, एक हो तो वह पवित्र होती है। जहाँ दूसरेका सम्बंध है वहाँ अपवित्रता है। अपवित्रता दूसरेके सम्बंधके बिना हो ही नहीं सकती। तो हम अभी अपवित्र हैं, अभी मलिन हैं, नाना तरहके ख्यालात करते हैं, ये सब मलिनतायें हैं, ये ही आत्माको दुःख देने वाली हैं।

उदाहरणपूर्वक कषायमालिन्यका परिचय—विकारोंकी यह मलिनता ऐसी छा गई है जैसे कि जलमें कायी। जल तो पवित्र हो होता है जैसा जल होता केवल स्वच्छ, मगर जलमें कायी पड़ी हो, सेवार पड़ा हो तो वह जल हरा हो जायगा, गंदा हो जायगा। तो जैसे जलमें कायी, सेवार आदिका सम्बंध हो जाता है तो जल मलिन हो जाता है, ऐसे ही मेरे इस उपयोगमें, आत्मामें, इस ज्ञानमें कर्मोंकी छाया आ गई है बस उससे यह मलिन है और अशुद्ध उपादान होनेसे कर्मछायामें इसने अपनी अपनायत बना ली, यह ही दुःख है। बेखो सदाके लिए जन्म मरणके संकटोंसे छूटनेका उपाय कितना सुगम है। मगर बुद्धि विपरीत हो तो उस उपायके लिए मन नहीं चलता, और सुगम कितना है? खुद है। खुदके निरपेक्ष स्वरूपको जान लें और वहीं अपना ज्ञानोपयोग बनाकर तृप्त रहा करें, संकट कटेंगे, कर्म कटेंगे, जन्ममरण मिटेंगे, सब बाधाएँ दूर हो जायेंगी। कितना सरल उपाय है, मगर कुटेब कुवासना भीतर ऐसी बनी है कि उन विषयोंसे प्रीति छोड़ ही नहीं सकता। कोई लाभ नहीं है। बादमें पछताता है, मगर कर्मयोग ऐसा है कि सही विधिसे नहीं अपनाते। तो यह है मलिनता कि पहले बाँधे हुए जो कर्म हैं उन कर्मोंका उदय हुआ और उस उदयका विपाकका इस आत्मामें प्रतिफलन हुआ, तो इतनी गंदगी तो तुरन्त आयी, मगर उपयोग उस ओर झुक गया, यह और बड़ी गंदगी बन जाती है, दुःखी होते जाते हैं। सोचते हैं कि कोई उपाय ऐसा मिले कि जिससे यह दुःख मिटे और फिर दुःख कभी न हो, मगर उसका वह उपाय जाननेमें नहीं आ रहा और जाननेमें आये तो भी कैसी वासना है ममताकी कि यह जीव अपनी पुरानो कुटेब छोड़ नहीं पाता। कितना उदार बनना है, कितना निष्पक्ष बनना है कि समस्त अन्य पदार्थोंसे अपने आपको अकेला निरखना है। मैं ज्ञानमात्र हूं, इसका अर्थ भी विचारते जावें,

भावना भी भरते जावें। ज्ञानमात्रका क्या अर्थ है? खालिस जानना, एक सामान्य चैतन्य-प्रकाश—बस इतना ही मैं हूँ, और कुछ मैं नहीं हूँ, ऐसी बात प्रतीतिमें आ जाय तो लौकिक संकोच सब मिट जायगा। तो यह जीव पानीमें कायीकी तरह मलिन बन रहा है, इसका परिणाम मलिन हैं और यह मलिनता, यह असमंजता, यह परजीवीकी ओर अपना झुकाव, परपदार्थोंमें ही सार निरखना यह सब कर्मबन्धका कारण है।

कुछ एक क्षण विभावपरताकी कुटेब छोड़कर ज्ञानमात्रानुभवनका आनन्द देखकर शान्तिमार्गका आश्वासन पानेकी सम्मति—अहो विभावकी कुटेब नहीं छोड़ी जा रही और बन्धन बन रहा तो यह उसकी मर्जी है। जो चाहे हो, मगर एक बार तो सही बात सोचकर कि मैं आत्मा केवल ज्ञान ज्ञानस्वरूप हूँ। ऐसी बार-बार भावना बनायें, मैं ज्ञानमात्र हूँ और कुछ नहीं हूँ, यह सारा लोक भी मेरे लिए कुछ नहीं है। किसी भी परपदार्थसे, किसी भी दूसरे जीवके कुछ भी कहनेसे, बहकानेसे या प्रशंसा निन्दासे मेरेमें कुछ बात नहीं बनती। मैं ही भीतरमें अपने विचार बनाता और सुखी दुःखी होता। तो वस्तुका सही स्वरूप जानें। यह जो वर्तमानमें मलिनता छापी है यह मेरे स्वरूपमें नहीं है। मैं तो प्रभुकी तरह चैतन्य-मात्र हूँ। यह सम्बंधकृत एक कलंक है, इसे मैं क्यों अपनाऊँ, इसमें मैं क्यों लगूँ? मैं तो इससे निराला अपनेको ज्ञानमात्र अनुभव करूँगा, ऐसी हड़ता रहे तो इस जीवको इन संकटों से छुटकारा मिल सकता है।

प्रपि यावदनर्थानां मूलमेकः स एव च ।

यस्मादनर्थमूलानां कर्मणामादिकारणम् ॥१०६६॥

मोहकी सर्वानर्थमूलता—जगतमें जितने भी अनर्थ हैं उन सब अनर्थोंका मूल कारण है मोह। हर जगह देख लो, छोटेसे लेकर बड़े तक। जब एक प्रधानमंत्रीपर भी संकट आ सकता है जिसके अधिकारमें सब कुछ है, कानूनसे वह भी परास्त। बड़ेसे बड़ेको देख लो, सबको कष्ट है, और वह कष्ट है मात्र मोहका। भला जब यह शरीर भी मैं नहीं, और देखते हैं कि शरीर यहीं पड़ा रह जाता है, जीव इस शरीरको छोड़कर चला जाता है। जब यह शरीर ही मैं नहीं तो फिर जगतमें मेरा और है क्या? कुछ भी तो नहीं है, मगर पापका उदय है। मोह पाप ही तो है। मोहको छोड़कर और पाप क्या है? मोह पापका उदय है कि विचित्र-विचित्र ख्यालात बनाते हैं और दुःखी होते हैं।

पवित्रात्मत्वकी श्रेयस्करता—बड़े-बड़े पुण्यवान जीव जो यहाँ बड़े धनी हैं, लोगोंमें एक मुख्य बने हैं, उनमें मोह है तो भी पाप वाले ही हैं, पुण्य वाले नहीं। पुण्यके उदय वाले तो हैं, मगर आत्मा पापी है जो मोह रखेगा। जो अज्ञान अंधकारमें है वह पापात्मा है। पापात्मा होना बुरा है, पापदयी होना बुरा नहीं। पापका उदय तो बड़े-बड़े मुनियोंके भी

आया। सुकुमाल, सुकौशल, राजकुमार आदिक मुनियोंपर जो उपसर्ग हुए तो क्या बिना पाप-कर्मके उदयके हुए? पापकर्मके उदय तो बड़ों-बड़ोंके आये। पापभाव वाला बनना बुरा है, पापात्मा बनना बुरा है, मगर पापोदयी बुरा नहीं। पुण्यत्मा है भला, पुण्योदयी भला नहीं। किसीके पुण्यका उदय है, अच्छा ठाठ है तो हम यह निर्णय नहीं दे सकते कि यह अच्छा जीव है। पुण्य तो नरक गतिके भेजनेमें भी सहायक बन जाता है। पुण्य है, वैभव सम्पदा है, उसमें इतरा गए, लोगोंपर अन्याय करने लगे, हत्यायें करने लगे, अत्याचार करने लगे, पापका बंध हुआ, उसके उदयमें कष्ट पायगा। तो कष्ट पाया पापभावके कारण। मगर ऐसा पापभाव उसके आ जाय तो उसके लिए पुण्यविभूति एक मददगार बन गई। तो जगत में सब कुछ तो मिला। गृहस्थी है, करना पड़ता है, मगर ध्यानमें निरन्तर यह रखें कि मैं आत्मा चैतन्यमात्र सबसे निराला अकेला स्वतंत्र हूं, यह प्रतीति मिल गई तो आपका भला है और जब तक यह दृष्टि नहीं मिलती तब तक सारे अनर्थ होंगे, विडम्बना बनेगी।

आत्मविडम्बना और उससे निवृत्त होनेका अबसर—संसारमें विडम्बना है? अपने भावोंमें परतंत्रता आये, परका आश्रयपनेका भाव आये, परतंत्रताकी बुद्धि जगे, बस वहीं अनर्थ है। तो जगतमें जितनी भी अवस्थायें हैं इन सब अवस्थाओंमें मूल एक यह ही मोह-भाव है। जैसे हम बाहर देखते हैं—दर्पणके सामने हाथ किया तो दर्पणमें फोटो बन गई तो वह फोटो हाथकी नहीं है, दर्पणकी नहीं है। हाथका निमित्त पाकर हुआ, इसलिए हाथका है और दर्पणमें वह परिणामन हुआ सो दर्पणका है। दोनोंका नहीं, दोनोंका है, और तथ्य क्या है? निमित्तनैमित्तिक भाव है, है किसीका नहीं। ऐसे ही जो मलिनता है, नाना तरहके विभाव जगते हैं सो यह कर्मकी छाया है, कर्मका प्रतिबिम्ब है इसलिए कर्ममें है और आत्माका ज्ञान विकल्परूप है। आत्मा ही के उपयोगसे ऐसा परिणामन है इसलिए जीवका है और यह कर्ममें नहीं है, इसलिए जीवका नहीं। तो ये रागद्वेष विभाव जिनको अज्ञान कर अज्ञानी संसारकी परम्परा बढ़ा रहा ये तो ऐसा अलग हैं, तुच्छ हैं, उन्हें मैं क्या अपनाऊँ? लेकिन जो अपनाते हैं और इस अन्तरंग अपनायतके कारण संसारके जितने बाह्य पदार्थ हैं इन पदार्थोंमें यह लगता है और दुःखी होता है। तो जितने भी अनर्थ हैं उन सबका यह मूल कारण है और अनर्थके कारणभूत कर्मोंका भी कारण है। मोह करेगा, कर्मबन्ध होगा। अब देखो एक सोचनेकी, जानने भरकी बात है, सही जाननेमें आ गया, लो संसारसे पार हो जायेंगे, झूठ जाननेमें आ गया तो संसारमें खलते रहेंगे। कितना कठिन है बतलावो मोक्षमार्ग? मोक्षमार्गका चलना कहाँ कठिन है? एक अपने भीतर सही ज्ञान बनानेकी बात है और वह बनायी जा सकती है। सही ज्ञान बने तो मोक्षमार्ग प्रारम्भ हो और ज्ञानमें मलिनता आये, उपयोग मलिन हो तो वह आगे भी अनर्थ, अब भी अनर्थ। तो सब अनर्थोंका मूल यह मोह-

भाव है जिस मोहको यह जीव रुच करके अपनाता फिरता है ।

अशुचिर्घातको रौद्रो दुःखो दुःखफलं च सः ।

किमत्र बहुनोवतेन सर्वासां विपदां पदम् ॥१०६७॥

मोहभावकी अशुचिता व घातकता—यह मोह, यह रागद्वेष भाव यह अपवित्र है । यह कोई पवित्रताकी बात नहीं है । सो यहीं देखो—कोई मनुष्य रागी द्वेषी है, पक्षपाती है तो लोगोंकी दृष्टिमें वह ऊँचा तो नहीं रह पाता । जो कदर निष्पक्षकी है लोगोंके मनमें वह कदर पक्षपातीकी, मोहोकी नहीं हो सकती । कोई अगर झगड़ा हो और उसको हल करना है तो वह उसीका ही नाम पेश होता है जो सबकी दृष्टिमें निष्पक्ष पुरुष है । तो पक्ष तो अपवित्रता हुई और निष्पक्ष पवित्र हुआ । ये रागद्वेष मोहभाव अपवित्र हैं और आत्माके प्राणके घातक हैं । आत्माके प्राण हैं ज्ञानदर्शन, ज्ञाता दृष्टा रहना । यह है आत्माका विलास, शृंगार । अब ज्ञातादृष्टा न रह सके और रागी द्वेषी बने, रागद्वेष इसपर छाये रहें तो वह अपने प्राणों का ही तो घात हुआ मायने हमारा ज्ञान सही ढंगमें न रह सका । हम दुःखी हो गए । तो ये जो मोहभाव हैं ये अपवित्र हैं और मेरा ही घात करने वाले हैं । जैसे वृक्षमें लाख लग जाती । छेवलेके पेड़में बहुत जल्दी लाख लग जाती है । तो जिस पेड़में लाख लग गई उसको आप देखते होंगे कि एक वर्षके अन्दर ही उसमें पत्ते नहीं रह पाते, वह पेड़ सूख जाता है । जैसे यहाँ किसीको टी. बी. का रोग लग जाता तो वह सूख जाता, ऐसे ही लाखका लगा हुआ वृक्ष जल्दी ही सूख जाता है । तो वह लाख वास्तवमें है क्या चीज ? क्या कहीं बाहरसे लायी गई ? अरे वह तो उस पेड़का ही एक रस है जो लाखरूपमें बन गया । तो जैसे पेड़की ही चीज लाख रूपमें बनकर उस पेड़को बरबाद कर देती है, ऐसे ही इस आत्माकी ही चीज ये ज्ञानविकल्प, ये रागद्वेष भाव इस जीवको ही बरबाद कर देते हैं । तो ये रागद्वेष मोहभाव इस आत्माको संकटोंमें डालनेके लिए ही उत्पन्न होते हैं । यहाँ आप लोग मन्दिरमें बैठे हैं तो यहाँ रागद्वेषकी कुछ सुब नहीं हो रही है, मन्दिरमें बैठे हैं, भक्ति भी चल रही है, आरामसे समय गुजर रहा है, लेकिन जहाँ ही कोई बात आयी, जहाँ कोई परपदार्थके लाभ-हानिका खयाल आया, बस ये रागद्वेष मोहभाव उमड़ पड़ते हैं, और उससे आप हैरान हो जाते हैं । ये रागद्वेष मोहादि भाव इस जीवके लिए अपवित्रताएँ हैं । इन भावोंमें रहता हुआ जीव धर्ममें नहीं लग सकता । तो ये रागद्वेष मोहभाव इस आत्माके प्राणोंका घात करने वाले हैं ।

मोहभावकी रौद्रता व दुःखरूपता व दुःखफलरूपता—मोहभाव रौद्र है, भयावना है । अभी कोई क्रोध कर रहा हो तो देखो उसका चेहरा कितना भयानक हो जाता है ? वह ऐसा चेहरा हो जाता कि उसका भली प्रकार चित्रण भी नहीं कर सकते । तो ये कषायें भयानक हैं । जब इन कषायोंके होनेपर शरीरकी मुद्रा भी भयानक बन जाती है तो स्वयं

कषायें कितनी भयानक हैं—इसका अनुमान बना लें। वह जीव सुखी है जो परद्रव्योंके मोहमें नहीं पड़ा है। राग भले ही है पर रागमें उतना कठिन अनर्थ नहीं है जितना कि मोहमें है, क्योंकि अपने स्वभावमें उसे रुचि ही नहीं है। तो ये कषायें, यह मोह, यह अज्ञान रौद्र है, भयावना है, दुःखरूप है। कषाय ही दुःखरूप है। यह जो कहते हैं कि कषायसे दुःख होता है तो यह केवल समझानेके लिए कहा जाता, कषाय हुई यहाँ और दुःख हुआ यहाँ और कषाय से दुःख निकला हो ऐसा नहीं है, किन्तु कषाय ही दुःखरूप है। जिस कालमें कषाय है उसी कालमें दुःख। जिस समय मोह कर रहे उस समय दुःख है। और मोह करनेका फल है तो आगे भी दुःख मिलेगा। मोह क्या चीज है सो सब लोग जानते हो हैं। दूसरे जीवको माना कि यह मेरा है बस इस परिणामके मायने हैं दुःख और ऐसा विकल्प जब आया उपयोगमें कि यह मेरी धन दौलत परिवार आदि संपदा है तो नियमसे दुःख है और आगे भी दुःख है।

ज्ञानीका उपयोगसंतुलन—देखो कितना संतुलन है ज्ञानीका जो घरमें रहकर राग भी करे और उसके अज्ञानकी प्रीति नहीं रहती ऐसा होता कि नहीं? मनमें कुछ है, ध्येय कुछ है, लक्ष्य कुछ है और प्रवृत्ति कुछ करनी पड़ रही है ऐसी परिस्थिति होती है। इसका दृष्टान्त सुख वाला दें तो भट समझमें नहीं आता और एक दृष्टान्त कोई वियोग वाला दें, किसीका बहुत प्यारा दादा बाबा जो प्रिय हो उसका वियोग हो गया और वियोग होनेसे उसका रात दिन उसीका ही ख्याल, उसीकी ही धुन, उसी की ही वेदना सब हो रही कि नहीं और भोजन करनेके समय वह भोजन भी करता, मगर उसकी धुन किस बातकी है? वियोग होनेके कारण उस ही आतंरौद्र ध्यानकी वह धुनि बनाता है। तो यह तो दुःखका दृष्टान्त है। अब सुखका दृष्टान्त दें तो यह बात भट समझमें न आयगी। भाव कुछ है, करना कुछ पड़ रहा। ज्ञानीकी बात देखो—ज्ञानीके भावमें बिल्कुल निपटारा है कि प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने स्वरूपसे सत् हैं, अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे हैं, कोई द्रव्य किसी दूसरे का कुछ परिणमन त्रिकाल भी कर नहीं सकता। तो उसे जब यह ज्ञान है तो परिस्थिति है कि भूख तो लगती है, कमाना पड़ता है, यह सब कर रहा है, पर उसको धुन चूँकि ज्ञानीकी और है इसलिए उसके निर्जरा चल रहा है तो यह मोह दुःखस्वरूप है और इसका दुःख फल है। पहली बात क्या कही? यह जो मलिनता है यह समस्त वित्तियोंका स्थान है, मलिन भाव है, तो वहाँ विपत्ति ही विपत्ति है, क्योंकि वैसी चेष्टा हो जाती है। भीतर क्रोध बसा है तो क्रोध भरी वाणी बोलेगा, भीतरमें घमंड पड़ा है तो मानकी क्रिया करेगा, भीतरमें लोभ लगा है तो वह मायाचार करेगा, लोभ करेगा, वह दूसरोंके खिलाफ घोलेंगा। तो मोह और कषायमें दुःख ही दुःख है। इसलिए दुःखसे दूर होना है तो भीतरन

भेदविज्ञान बनायें। इस कर्मसे, कर्मकी छायासे मैं निराला हूं, केवल ज्ञानज्योतिमात्र हूं, ऐसा अपने आपके ज्ञानस्वरूपका आदर बनावें। जीवनमें इसको कोई रोकने वाला नहीं, कोई बाधा नहीं दे सकता। हमारा ज्ञान है, हम भीतरमें ज्ञान बना रहे हैं। तो जो सम्यग्ज्ञान बनायेगा, सही श्रद्धा रखेगा वह नियमसे संसारके संकटोंसे पार हो जायगा।

कार्यकारणमप्येष मोहो भावसमाद्वयः।

सर्वबद्धानुवादेन प्रत्ययास्तवसंचयात् ॥१०६८॥

मोहभावकी सर्वक्लेशहेतुता—जगतके जीव हम आप जो भी दुःखी हो रहे हैं उसका कारण मोहभाव है। दूसरा कोई कारण नहीं। जैसे कि यों समझते हैं कि मेरे धन कम है, मकान टूटा है अथवा लड़के अच्छी तरह नहीं बोलते, और-और भी बातें जो-जो सोचते हैं उनसे सुख होता है यह बात गलत है। टूटा मकान हो उससे आत्माका क्या सम्बंध? आत्मा जुदा पदार्थ है, मकान जुदा पदार्थ है। उस जुदे पदार्थसे इसमें दुःख आ रहा क्या? लड़के बच्चे कैसे ही चलें उनकी प्रवृत्ति, उनकी आदत, उनकी कषाय उनमें है, वे अपना काम करते हैं, उनका इस आत्मामें क्या प्रवेश है? जिससे कि यह माना जाय कि इसके कारण दुःखी है। व्यापार कम चले अथवा नुकसान हो या और कुछ बातें हों, कोई भी पदार्थ इस जीवके दुःखका कारण नहीं। मुक्तिका कारण तो मोहभाव है। अगर बाहरी पदार्थ दुःखके कारण हों तो सबसे अधिक दुःख तो भगवानको होना चाहिए, क्योंकि उनके पास और धरा ही क्या है? केवल आत्मा, उसका ही स्वरूप, और सिद्ध भगवानके पास न शरीर, न कोई चीज अथवा मुनियोंको कहो—वे अकेले हैं, केवल शरीर है। कुछ दूसरी बात ही नहीं तो उनको तो दुःखी कहना चाहिए था, पर ऐसा तो नहीं है। बाहरी पदार्थोंके न होनेसे या किसी तरह का परिणाम होनेसे इस जीवको क्लेश नहीं। क्लेशका कारण है मोह। और यह मोह वर्तमानमें क्लेशका कारण है, साथ ही आगामी कालमें इस जीवको जो क्लेश पैदा होता उसका भी कारण है। वर्तमानमें भी क्लेश है और भविष्यकालमें भी यह क्लेशका कारण बन जायगा। उस मोहभावसे होता है विकट कर्मबन्ध। उसमें अनुभाग आया, उसका उदय आयगा। सो यह ही चक्की चल गई। तो जीवको दुःखका कारण केवल मोह है, अन्य कुछ बात नहीं। और जिसको यह भ्रम लगा हो कि मेरे सुखका कारण, मेरा अच्छा परिवार, मेरा धन वैभव या अन्य-अन्य बातें हैं, और दुःखका कारण है यहाँके संग प्रसंग कम रहना या इस तरह होना, जिनमें यह भ्रम लगा है उनका उपयोग अपने आत्माके स्वभावसे हटकर बाहरी बातोंमें लग गया है इसलिए वह तो अंधकारमें है, वह अपना भविष्य भला नहीं बना पाता। इस मोहभावको दूर करें, क्योंकि यह मोह कर्मबन्धका कारण है, दुःखका कारण है। यह मोह मेरे गाँठकी चीज नहीं, मेरे स्वभावका चीज नहीं, किन्तु पहल बाधे हुए कर्मका उदय

आया, उस कालमें यह एक छाया बनी, कर्लीला चल रही, यह मेरे स्वभावकी वस्तु नहीं। हो रही मुझमें मलिनता, विकल्प चल रहे, लेकिन मेरे स्वभावकी चीज नहीं है। यह मोह त्यागने योग्य है। देखो मोह दो तरहका होता है—(१) दर्शनमोह, (२) चारित्रमोह। दर्शनमोह मायने मिथ्यात्व, सही बात न समझ सकना और चारित्रमोह मायने अपना चारित्र न बन सकना। तो जिसको सम्यग्दर्शन हो गया, चारित्रमोह हो भी तो भी संसार-परम्परा नहीं बनती और जिसको दर्शनमोह है, मिथ्यात्व है उसके संसारपरम्परा बढ़ती है।

सम्यग्ज्ञानके बलसे आत्मसंकट दूर करनेका उपाय बना लेनेका संदेश—भैया ! क्या बात कही जा रही ? यहाँ किसी दूसरेकी चर्चा नहीं है, आत्माकी चर्चा है कि आत्माको दुःख किस कारणसे है ? भीतर देखो शरीरसे निराला है यह आत्मा, क्योंकि शरीर यहीं पड़ा रह जाता है, आत्मा निकलकर आगे चला जाता। तो यह शरीर जुदा है, आत्मा जुदा है। तो वर्तमानमें भी इस शरीरका घमंड छोड़ें, इसका भी ध्यान हटावें, आँखें बन्द करके केवल अपने आगे के ज्ञानस्वरूप आत्माको निहारते जावें, पता पड़ेगा कि मैं ज्ञानमात्र हूँ। जानन, जानना ही मेरा काम है। यह आत्मा निरन्तर जानता रहता है। तो हमारा काम जानना, हमारा भोग जानना, जाननको ही करते, जाननको ही भोगते, उसमें कष्टका कोई काम नहीं मगर कष्ट जो आ रहे हैं तो ये विकल्पसे भ्रमसे आ रहे हैं। यह भ्रम हटायें, इसीलिए तो हम आप भगवानकी भक्ति करते हैं। अपने आत्मामें रमण हो इसके लिए ही धर्मके सब साधना बने हैं। धर्मकी साधना करते हुए यह गंदा भाव न बने कि मेरा यह काम बन जाय, मेरी मुकुटमेमे विजय हो, मेरे अमुक कामकी सिद्धि हो, ऐसे संसारके कामोंकी बात चित्तमें कभी न सोचें भगवानकी भक्ति करके। उससे नुकसान है, फायदा नहीं। नुकसान क्या कि जो पुण्य आनेको था, इस मिथ्याभावके करनेसे वह पुण्य दूर हो गया कुछ कम मिलेगा। अब अर्भक जो विशेष लाभ होने को था धर्मके करनेसे तो उसमें से कमी हो जायगी। लोग यह सोचते हैं कि हमने भगवानकी पूजा भक्ति की तो उसके फलमें धन धान्य पुत्रादिककी प्राप्ति होगी। अरे यह तो पूर्वकृत पुण्यका उदय है जिससे ये सब चीजें प्राप्त होती हैं, भगवानकी पूजा भक्तिसे नहीं। अभी ये रसियन, अमेरिकन आदिक विदेशी लोगों को देख लो वे कहाँ मन्दिर में आकर भगवानका पूजा पाठ करते, फिर भी बहुत अधिक सम्पन्न देखे जाते। तो भगवान की पूजा भक्ति करके सांसारिक चीजोंके लाभकी बात न सोचो, किन्तु यह सोचो कि हे भगवान ! जैसा ज्ञानबल आपने प्रकट किया, समस्त कष्टोंको हँसकर टाला वैसा ही ज्ञानबल मुझे प्राप्त हो, मुझमें ऐसा ज्ञानबल बढ़े, मैं अपने आत्माके इस सहज स्वरूपको ऐसा अभ्यासमें लाऊँ कि मेरेमें कष्टसहिष्णुता आ जाय, सहनशक्तिता आ जाय, क्योंकि यह संसार विविध है। एक दुःख दूर करनेका आप प्रयत्न करते तो दूसरा दुःख आपके सामने आ जाता। इस

बातका अनुभव सभीको होगा। अब ये कष्ट कौन मिटाये, कैसे मिटाये? जैसे कोई पुरुष जिन्दे मेढक तौल नहीं सकता, एक मेढक तराजूपर रखा, दूसरा रखने लगेगा तो पहला मेढक उछल जायगा, तीसरा मेढक रखेगा तो दूसरा उछल जायगा, यों जिन्दे मेढक तौलना जैसे नहीं बन सकता, ऐसे ही संसारके दुःखोंको मन, वचन, कायकी चेष्टायें करके मेट नहीं सकते। संसार के दुःखोंको मेटनेकी कुञ्जी ही दूसरी है। वह कुञ्जी क्या है? आत्मरमण। आत्माके सहज स्वरूपका श्रद्धान हो, उसका ज्ञान हो और उस ही आत्मामें रमण हो, यह है दुःख मेटनेका मार्ग याने शान्ति पानेका मार्ग। दुःख जब भी खतम होगा तो इसी भेदविज्ञानसे होगा।

आत्मश्रद्धान आत्मज्ञान व आत्मरमणका उपाय बना लेनेमें दुर्लभ मानवजीवनकी सफलता—आत्मश्रद्धान, आत्मज्ञान और आत्मरमणके उपायसे ही दुःख दूर होगा। चाहे अभी दुःख दूर न हो तो आगे चलकर हो जायगा, मगर पाये हुए इस दावको यों ही व्यर्थ न खो देना चाहिए। यह मानवजीवन बड़ी दुर्लभतासे प्राप्त हुआ है। इस जीवनसे अगर हमने धर्मलाभ न लिया, आत्माके स्वरूपका परिचय न किया, अपने आत्मस्वरूपमें तृप्त होनेकी बात न बन सकी तो फिर अपने आपके आनन्दका हम इस जीवनमें अनुभव नहीं कर सकते। और अगर अपने आनन्दका अनुभव न कर सके तो फिर यह मानवजीवन पानेसे लाभ क्या पाया? एक बहुत बड़ी जिम्मेदारीका यह भव है। जब तक इस शरीरमें रोग न घेरे, बुढ़ापा न घेरे तब तक इस ज्ञानके संचयमें, ध्यान योगाभ्यासमें, धर्मसाधनामें अपना विशेष चित्त गावे। तो यह मोह, ये विभाव, ये रागद्वेष ये पहले बाँधे हुए कर्मके ही तो कार्य हैं। यह निमित्तदृष्टिसे कहा जा रहा है। उपादान दृष्टिसे तो आत्माकी ही ये परिणतियाँ हैं, मगर एक बात पहले जानें कि जो चीजें हेय हैं, जो विभाव हैं उन्हें हम तब छोड़ पायेंगे जब यह समझ में आ जाय कि ये तो परभाव हैं, ये मेरे स्वरूप नहीं हैं। तो परभाव समझनेका और कौन सा उपाय है? अरे यह ही उपाय है कि देखो कर्मका सन्निधान पाकर विभाव हुए न? हुए विभाव जीवमें। कर्मकी बात कर्ममें, जीवकी बात जीवमें। जैसे दर्पणमें दर्पणके सामने हाथ किया तो हाथका फोटो आया। हाथ हटाया तो फोटो न रहा। हाथ सामने किया तो फिर फोटो आ गया। यद्यपि हाथका काम हाथमें हो रहा और दर्पणका काम दर्पणमें हो रहा, मगर यह प्रकट जान सकते कि यह फोटो तो नैमित्तिक है, पर उस फोटोको हटा नहीं सकते। जान गए कि हाथका सन्निधान पाकर प्रतिबिम्ब हुआ, हम हाथको हटा दें तो प्रतिबिम्ब हट जायगा। यहाँ तो हाथको हटानेसे प्रतिबिम्ब हट गया, मगर आत्मासे कर्मको हटानेका कोई उपाय नहीं है। उसपर दृष्टि देकर कि इन कर्मोंको यहाँसे पकड़कर फेंक दें, मृट्टीमें दबोच दें, ऐसा तो नहीं किया जा सकता। यहाँ यह ही प्रकट है कि आत्माका जो सहजस्वरूप है उसका आलम्बन लें, उसमें यह मैं हूँ, ऐसा अनुभव करें तो ये कर्म दूर हो जायेंगे। तो यह

भाव पहले बांधे हुए कर्मका कार्य है निमित्तदृष्टिसे और नवीन कर्मबन्धका कारण है निमित्त-दृष्टिसे। हो ही रहा है ऐसा और यह इसी तरह भिन्न आखवका संचय बना रहा, सो कर्म क्या करें? अपने स्वरूपको सही समझ लें, एक ही काम करना है और संकट अनन्त दूर हो जायेंगे। भला बतलाओ कितनी अच्छी बात है कि काम तो एक करना है और संकट अनन्त दूर होना है, और फिर भी वह काम करना स्वाधीन है। हमारा ज्ञान हम आत्माको करना है। हम ज्ञानका मुख मोड़े रहे अपने आपके स्वरूप की ओर और और पक्का चित्त बना रहे, निर्णय बना रहे कि एक भी अजीब, एक भी परमाणु मेरा कुछ नहीं है और न करेंगे ऐसा ज्ञान तो दुःख कौन पायगा? यह ही तो खुद पायगा। जहाँ ऐसी कुटेब है कि मैं इस भवमें खूब धन वैभव पाऊँ, खूब मीजमें रहूँ...तो वहाँ दुःख कौन पायगा? दुःख तो खुदको ही भोगना पड़ेगा, दूसरा कोई दुःख भोगने न आयगा। हम चूके तो हम ही दुःखी होंगे। हम स्वभावमें आयें तो हम ही ज्ञान्त, आनन्दमग्न होंगे। इससे भावना भरें अपनेमें कि जब मैं यह आत्मा अकेला हूँ, अपने लिए जिम्मेदार केवल मैं ही हूँ, अनादिसे अब तक अकेला मैं ही तो जन्मा, मैं ही तो मरा। मैंने अपना यह प्राणघात तो किया, मेरा कोई दूसरा नहीं। मोहको त्यागें, पर सोचते होंगे कि मोहको त्याग दें, फिर घरमें कैसे रहेंगे? अरे मोहको त्यागकर घरमें रहो तो आपका बड़ा शृङ्गार बनेगा और मोहको रखकर घरमें रहें तो आपकी कोई इज्जत नहीं। जब परिवारके लोग यह जान जाते हैं कि यह ज्ञानी हैं, मोह इनको नहीं है तो वे परिवारके लोग उसका भय भी मानेंगे। कोई हमसे ऐसी चूक न बन जाय कि यह घरको छोड़कर ही चले जायें, सो वे सब लोग उसकी आज्ञामें रहेंगे, बड़ा शृङ्गार बनेगा, सुखी रहेगा। जैसे यहाँ कोई लड़का जब जानता है कि मेरा बाप तो बुद्धू है, वह तो हमपर मरा जा रहा है तो वह फिर स्वच्छन्द बनकर उस बापको बहुत तंग करता है और जब यह जान रहे कि यह तो बड़े ज्ञानवान पुरुष है, ये विरक्त भावसे रहते हैं तो वहाँ सोचते कि मुझे बहुत समझ-बूझकर काम करना चाहिए, कहीं कोई हमसे गलती न हो जाय कि ये घर छोड़कर चल दें...। तो इस तरहसे वह निर्मोह गृहस्थ भी ठीक रहता, और उसके परिजन भी ठीक रहते। अब घर में क्यों रह रहा है ज्ञानी कि उसमें इतनी शक्ति नहीं कि वह भूख-प्यासकी तीव्र वेदनायें सह सके और खूब तप, व्रत, संयम कर सके। तो राग किए बिना कोई घरमें रह सकता है क्या? नहीं रह सकता। राग करना उसे आवश्यक है। सो राग करता है, जानता है कि ऐसा किए बिना गुजारा नहीं, पर भीतरमें मोह उसके जरा भी नहीं है, तो ऐसा निर्मोह होकर घरमें रहनेकी बात बन रही है ज्ञानीकी।

साम्यभावके आदरका महत्त्व—एक बात और समझो कि बच्चे चेतें वह भी भला, नबालक चेतें वह भी भला, मगर जिसकी आयु विशेष है और जिसके बाल-बच्चे सब काम

करने योग्य हो गए हैं और सब काम करते हैं उनको तो विरक्तिकी ओर ही अधिक जाना चाहिए। सो भाई एक निर्णय बनावें कि मेरे दुःखका कारण मोहभाव है, विकार है, विभाव है, दूसरा कोई पदार्थ मेरेको दुःखी करने वाला नहीं है। इसी तरह यह भी चित्तमें आयेगा कि मेरा विरोधी दुनियामें कोई नहीं, कोई मेरा शत्रु नहीं। सब जीव अपनी-अपनी कषायके अनुसार अपनी इच्छायें बनाते हैं और कुछ कषायको शान्त करनेके लिए प्रयत्न करते हैं—कोई कैसा ही क्रोध करे, गाली दे, अपशब्द कहे तो उसपर मुझे क्रोध न जगे। उसने ऐसा ही करनेमें सुख समझा तो अपना सुख पानेके लिए उसने ऐसी चेष्टा की, मेरे विरोधसे उसने चेष्टा नहीं की। सब जगतके जीवोंपर उनके स्वभावकी दृष्टि रखकर समानताकी बुद्धि हो और सब सुखी हों, ऐसी भावना बने। आपके ऐसा सोचनेसे वे सुखी हो जायें सो तो बात नहीं, मगर जिसके कषाय है, जिसको स्वरूपपरिचय है, जिसकी उस तरहकी परिस्थिति है वह सर्व जीवोंके सुखी होनेकी भावना रखता है। हाँ तो यह बतलाया जा रहा है कि दुःखका कारण है मोह। और यह मोह पहले बाँधे हुए कर्मका तो कार्य है और अब बाँधने वाले कर्मका कारण है, सो बतलाते हैं।

यदोच्चैः पूर्वबद्धस्य द्रव्यमोहस्य कर्मणः।

पाकाल्लब्धात्मसर्वस्वः कार्यरूपस्ततो नयात् ॥१०६६॥

निमित्तनैमित्तिक भावका निर्विवाद सुपरिचय—जब पूर्व बद्ध द्रव्य मोहकर्मका उदय होता है उस उदयका निमित्त पाकर यह मोह जिसने अपना स्वरूप सर्वस्व पाया है यह कार्य रूप कहलाता है। पहले बाँधे कर्मके उदय आये, उस समय जीवमें जो विपरिणमन हुआ, मोह हुआ, विकार हुआ सो वे कर्मके कार्य कहलाते हैं। देखो गलती कोई नहीं और बात सही कही जाती है। जैसे महिलायें रोटी बनाती हैं तो लोग कहते हैं कि महिलाके हाथसे रोटी बनती है, मगर कोई यह नहीं सोचता कि जैसे मिट्टीका घड़ा बनता, आटेसे रोटी बनती, ऐसे ही हाथसे रोटी बनी। सबको सही-सही ज्ञान है कि ज्ञान निमित्तमात्र है, रोटी बनती आटेसे, ऐसे ही कर्मका उदय निमित्तमात्र है और गड़बड़ी हुई जीवमें, गड़बड़ो कर्ममें भी हुई। जैसे कि दर्पणके आगे हाथ रखा, छोटी-बड़ी अंगुली हैं तो जैसे यहाँ अंगुली है वैसे ही तो यहाँ फोटो है दर्पणमें और तरहका फोटो नहीं है, जैसा रंग है वैसा ही फोटो है, मगर हाथका रंग, हाथकी अंगुली छोटा-बड़ापन यह हाथमें ही है, दर्पणमें नहीं है। दर्पणमें एक नई बात आ गई जो स्वभावके विरुद्ध है, ऐसे ही जितनी भी कषायें जगती हैं—क्रोध, मान, माया, लोभ वे कर्मके ऊँधम हैं, कर्मके अनुभाग हैं, कर्मकी गड़बड़ी है, मगर जैसी वह गड़बड़ी है वैसी यहाँ झलक हुई है, और जैसी झलक हुई है वैसा ही यहाँ विकल्प कर रहा, दुःखी हो रहा। तो सीधीसी बात भेदविज्ञानके लिए इतना ज्ञान लें कि मैं आत्मा तो स्वरूपसे पवित्र

हूँ, शुद्ध चैतन्यमात्र हूँ, मैं बेकसूर हूँ। स्वभावकी दृष्टिसे देखा जाय तो मैं निरपराध हूँ, चेतनेका काम है, मगर अनादिसे ही ऐसे ही कर्मउपाधिका सम्बन्ध निमित्त पाकर ज्ञानविकल्प चल रहे हैं और हम अशुद्ध बनकर अपना दुर्लभ जीवन व्यर्थ खो रहे हैं।

असम्बद्ध आश्रयभूत पदार्थोंके आलम्बनमें व्यर्थ विडम्बना—एक मोटा दृष्टान्त निमित्त उपादानका तो नहीं, पर आश्रयभूत और निमित्तका कहते हैं। कोई देहाती पुरुषको किसी कारणसे कचहरी जाना पड़ा। वह कभी गया तो था नहीं सो वह जजके सामने पहुँचते ही काँपने लगा, पसीना बहने लगा, उसका दिल बहुत घबड़ाने लगा। अब भला बताओ उस देहाती पुरुषको यह दशा उस जजने कर दिया क्या? नहीं। अरे वह देहाती खुद ऐसे ही कमजोर ज्ञान वाला था, कम ज्ञान वाला था, सो अपने आपमें विकल्प मचा-मचाकर काँपने लगा, घबड़ाने लगा, “हाय अब क्या होगा, न जाने जज क्या कहेगा” यों अपना ही ख्याल बनाकर वह काँपता है, घबड़ाता है, जजने उसे दुःखी नहीं किया। ऐसे ही समझ लीजिए कि जगतके ये जिनने पदार्थ हैं ये कोई भी पदार्थ मुझको दुःखी नहीं करते, सुखी नहीं करते, कुछ भी नहीं करते, पदार्थ हैं, पड़े हैं, किन्तु ये मोहो जीव खुद ही विकल्प मचाकर पर-वस्तुओंका ख्याल कर-करके दुःखी सुखी होते हैं तो एक अपना अपनेमें सही निर्णय बनाओ।

निमित्तदृष्टिकी अनादेयता—देखो आप लोगोंने शेर देखा होगा। कहीं तो देखा ही होगा, चाहे कटघरेमें, अजायबघरमें देखा हो या फोटोमें देखा हो। और कुत्ता तो आप रोज-रोज देखते ही रहते हैं। तो जरा यह बताओ कि इन दोनोंमें आपके काममें आने वाला कुत्ता है या शेर? तो काममें तो कुत्ता ही आता न? वह आपके रोटीके एक टुकड़ेपर आपके घर की पहरेदारी करेगा, आपकी बड़ी विनय भी करेगा, आपकी रक्षा भी करेगा। बड़ा उपकारी होता है कुत्ता। अब शेरको देख लो, वह बड़ा अपकारी है, वह कहीं दिख जाय तो कितने ही लोगोंका हार्ट फेल हो सकता, टट्टी पेशाब तक हो सकता, वह बड़ा अनुपमकारी है, कोई काम मे नहां आता, तो बताओ कुत्ता और शेरमें आपके लिए अच्छा कौन रहा? कुत्ता। मगर किसी आदमोकी प्रशंसा कर दी जाय किसी सभामें कि भाई साहबका क्या कहना है, यह बड़े उपकारी हैं, इनकी प्रशंसा कहाँ तक करें, वह तो कुत्तेके समान हैं। तो यह सुनकर वह बुरा मान जायगा, और अगर कहें कि यह भाई तो शेरके समान हैं तो यह सुनकर वह बड़ा खुश होगा, फूला नहीं समायेगा। देखो शेर शब्द कहकर यद्यपि उसने गाली दे दी, क्योंकि शेर तो बड़ा क्रूर, अपकारी होता, और उसके समान कहा इसे तो यह तो प्रत्यक्ष गालीकी बात हुई, पर वह सुनकर खुश होता। तो बताओ यह अंतर किस बातका आया कि शेरकी उपमा सुनकर लोग खुश होते और कुत्तेकी उपमा सुनकर लोगोंको बुरा लगता। तो इसका अंतर सुनो। देखो कुत्तेमें सारे गुण हैं, मगर एक अवगुण ऐसा है कि जिसके कारण कुत्तेकी कोई उपमा

नहीं सुनना चाहता। और शेरमें सारे अवगुण हैं, मगर एक कला ऐसी है कि जिसकी वजहसे उसके सारे अवगुण ढक जाते हैं। कुत्तेमें क्या अवगुण है और शेरमें क्या गुण है सो देखो—अगर आप एक लाठीसे कुत्तेको मारें तो वह यह नहीं समझ पाता कि यह पुरुष मुझे कष्ट दे रहा, वह तो जानना कि लाठी कष्ट दे रही, सो वह लाठीको अपने मुखसे दबाता है, उसे यह अज्ञान है भ्रम है कि इस लाठीने मुझे दुःख पहुंचाया और शेरको इतनी समझ है कि अगर उसपर कोई लाठी, तलबार वगैरासे प्रहार करे तो उसे सच्ची समझ रही कि मुझे कष्ट देने वाला यह पुरुष है, ये औजार नहीं, सो वह सीधे उस पुरुषपर ही हमला कर बैठता है। तो इन दोनोंमें कुत्तेकी तो रही निमित्तदृष्टि, याने निमित्त तो होता है, पर निमित्तने मेरा काम किया, मुझे सुखी दुःखी किया, यह दृष्टि कहाँ है, जब कि शेरकी दृष्टि तथाकथित निमित्तपर नहीं है, सीधे उस व्यक्तिपर है जिसकी वजहसे दुःख हुआ। तो जो ज्ञान और अज्ञानकी बात यहाँ शेर और कुत्तेमें देखनेको मिली, ऐसी ही बात ज्ञानी और अज्ञानीमें मिलती है। ज्ञानी पुरुषको तो यह सुघ है कि मेरेको कोई दूसरा दुःखी नहीं करता, परिवारका क्या कसूर, धन दौलत होने न होनेका क्या कसूर? और मित्र, बंधु, स्त्री आदिक कोई भी हों, उनसे मेरेको क्या होता? मेरेमें जो मोह परिणाम है, मैं ही जो स्वरूपसे चिगकर बाहरी बातोंमें लगता हूँ वस वह मेरेको दुःख पहुंचा रहा है। दूसरा कोई मुझे दुःख नहीं पहुंचा रहा। जब कि अज्ञानी पुरुष यह जानता है कि अमुक पदार्थने हमें दुःखी किया, सो उस पदार्थपर दृष्टि रखता है। जो पदार्थ निमित्तपर यों दृष्टि रखता—इसने ही मेरी परिणति कर दी, वह तो कुत्तेके समान है और जिसने यह समझा कि मेरा ही विभाव मेरेको दुःखी करता... उसकी शेरकी जैसी वृत्ति है।

स्वातंत्र्य और नैमित्तिकताके परिचयका प्रभाव—तत्त्वनिर्णय बड़े संतुलनकी बात है। भावुकतामें आकर अगर कोई कह दे कि कुछ नहीं है निमित्त, सब अपने आप हो जाता है, तो देखो उनकी त्रुटि आ गई। अगर विभाव बिना निमित्तके हो जायें तो वे विभाव सदा होने चाहिएँ, विभाव कभी मिट ही नहीं सकते और अगर इस ओर बह जायें कि मेरा सब काम निमित्तने किया, यह जीव क्या करता... तो भी काम नहीं बनता। अरे निमित्त तो सन्निधानमें है, परिणाम तो बुरे रूप यह जीव। यह जान गया तो यह आग्रह करेगा कि मुझे खोटा नहीं परिणामना है, मैं तो ज्ञानादृष्टा रहूँगा, ज्ञानरूप ही परिणामूँगा। जो ऐसा सोचेगा उसका मोह दूर होगा, शान्तिपथमें आयगा, तुरन्त भी शान्त रहेगा, आगे भी शान्त रहेगा। तो ज्ञानकी बात तो यह है, मगर इसकी ओर तो दृष्टि न रहे और खूब भगवानके दर्शन करें, भक्ति करें, त्यागी साधु संत जनोंके सत्संगमें रहें, उनकी वाणी सुनें, इस साधनामें लगना होता गृहस्थ जनोंका, मगर साधनामें रहकर भी जानना यह ही है कि हमारी यह सब

साधना अपने आत्माका ज्ञान करनेके लिए है ।

निमित्तमात्रीकृत्योच्चैस्तमागच्छन्ति पुद्गलाः ।

ज्ञानावृत्यादिरूपस्य तस्माद् भावोऽस्ति कारणम् ॥१०७०॥

कर्मबन्धमें जीवविभावकी निमित्तरूपताका कथन—पूजन आदिकके समय जो कहा करते हैं कि अष्ट कर्मोंने दुःख दिया है इन कर्मोंका नाश करनेके लिए मैं धूप खेता हूं । जिन ८ कर्मोंकी बात आप कहा करते हैं वे ८ कर्म क्या हैं और किस तरह बनते हैं, यह बात इस छंदमें कही जायगी । जीवने रागद्वेष मोहभाव किया । रागद्वेष मोहभाव तो आप जानते ही हैं । किसी दूसरेके प्रति, धन वैभवके प्रति एक प्रेम जगना, उसे अपनाना, उसमें प्रीति आना यह ही तो राग है और जो हमारे विषयोंमें बाधा दे, कल्पनासे मानता है जीव, जिसको माना कि यह बाधक है उससे द्वेष हो जाता है । द्वेषमें भाव होता है कि यह कब टले, रागमें यह भाव आता है कि यह मेरे पास ही रहे । तो ऐसे रागद्वेष भाव होते हैं और मोहभाव ? मोह के मायने है अज्ञान । जैसे शरीरको मानना कि यह मैं हूं, यह मोह हुआ । तो रागद्वेष मोह भाव विकार जब जीवमें आते हैं उस समय उसका निमित्त पाकर जो कार्माणवर्णणार्थे भरी पड़ी हैं वे कर्मरूप बन जाती हैं, बस वे ही कर्म ८ प्रकारके बन गए । जैसे भोजन किया, अब भोजन करनेके बाद कुछ तो उसका खून बनता है, कुछ हड्डी बनती है, कुछ पसीना बनता है, कुछ मल-मूत्रादिक बन जाता है । तो जो भोजन किया, पेटमें गया तो वहाँ पड़ा-पड़ा उस भोजनका कितनी तरहका परिणमन होता है, उसे कौन करता ? आप तो नहीं करते, आपने तो भोजनभर कर लिया । तो जैसे उस खाये हुए अन्नका इस तरहका परिणमन हो जाता इसी तरह आत्माने तो किया भाव विकार, रागद्वेष और उस समय आत्मामें हुई गड़-बड़ो, उससे कार्माणवर्णणार्थे ग्रहण हुईं, अब अपने आप सब बंटवारा हो जाता है । अपने निमित्तके ढंगसे कि यह परमाणु ज्ञानावरण बनेगा, यह दर्शनावरण, यह वेदनीय, यह मोहनीय । याने ८ कर्मरूप वे कर्म बन गए, अब कर्म बँध गए । अब जो कर्म बँध गए वे उदय में आयेंगे, तो ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक योग है कि कर्म उदयमें आयेंगे तो जीव फल भोगेगा, नारकी, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव आदि बनेगा, तो ये जो कर्म बँधे हैं, जिन कर्मोंको हम पूजा-पाठ में बोला करते हैं कि ये कर्म टल जावें, इन्होंने हमको बरबाद किया आदिक जो बोलते हैं वे कर्म क्या चीज हैं ? यह जानना चाहिए, याने अपनेसे सम्बन्धित जो बात है, खुदमें है उसे न जाने तो कुछ भी बातोंको जानकर मोह करके यह क्या लाभ उठा सकता है ?

मोहनिद्राके विचित्र स्वप्न—जब शरीर ही अपना नहीं तो दुनियाकी कौनसी चीज अपनी है ? जब शरीर ही हमारे आत्मामें कुछ सुधार नहीं करता तो दुनियाकी कौनसी चीज सुधार करेगी ? सब बाहरी चीजें हैं, सब यों ही मिले हैं, यों ही नष्ट हो जायेंगे, उनसे इस

आत्माको लाभ कुछ नहीं है। वहाँ जो कुछ मिला है उसके प्रति केवल ख्याल बनाते हैं। जैसे नींद आनेपर स्वप्न आ जाय तो स्वप्न आनेपर जो कुछ नदी, पर्वत, समुद्र, शेर, बाघ आदि दिखते वह सब सच दिखता है। पर वहाँ है कुछ नहीं परमार्थ। ऐसे ही इस मोहकी नींदमें सोये हुए प्राणीको बाहरमें जो कुछ दिखता है वह सब सच लगता है। वह भी केवल एक ख्याल ही ख्याल है। वहाँ तो था आँखोंकी नींदका स्वप्न और यह है मोहकी नींदका स्वप्न। इसमें आँखें भी खुली हैं, मगर सब स्वप्न ही स्वप्न दिख रहा—यह मेरा घर है, मेरा परिवार है, मेरे लिए है यह सब स्वप्न जैसी बात है। सो रहना तो कुछ है नहीं, सब कुछ विघटेगा जरूर, और है भी कुछ नहीं। तो जो ख्याल बनाते हैं, विकार बनाते हैं उन भावों का निमित्त पाकर ये पुद्गलकर्म कर्मरूप बँध जाते हैं और ज्ञानावरण आदिक ८ रूपोंमें ये बँट जाते हैं।

कर्मोंके संक्षिप्त विवरणमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय व मोहनीय कर्मका वर्णन—देखो हम आपके एक क्षेत्रावगाहमें कर्म ८ तरहके मौजूद हैं, सुना भी होगा। ज्ञानावरण—जिसके उदयसे आत्माका ज्ञान प्रकट नहीं हो पाता, आत्मा ज्ञानस्वरूप है, मगर ज्ञानावरणका उदय छाया है सो है तो वह निमित्त मात्र, वह करता भी जीवमें कुछ नहीं, पर ऐसा ही योग है कि उसका निमित्त पाकर जीव अपना ज्ञानबल नहीं बढ़ा पाता। जैसे कोई पुरुष किसीपर जादू-टोना करे तो वह तो अपनेमें ही कुछ कर रहा, उस दूसरे व्यक्तिपर कुछ नहीं कर रहा, मगर वह अपने आप डर रहा, वैसी चेष्टा कर रहा, तो ऐसे ही प्रत्येक परद्रव्य वे खुद अपना ही करते हैं कुछ, दूसरेका नहीं करते। पर निमित्तनैमित्तिक है ऐसा योग कि निमित्तकी अनुपस्थितिमें विकार संभव नहीं। विकारी काम यों ही हुआ करते। तो यह जो मोहभाव है यह ज्ञानावरणादिक अष्ट कर्मोंके बंधका कारण है। एक दर्शनावरण कर्म है जिससे यह आत्मा अपने स्वरूपका दर्शन नहीं कर पाता। वेदनीयकर्म दो तरहके हैं—(१) सातावेदनीय, (२) असातावेदनीय। साता वेदनीयका उदय आता है तो यह जीव इन्द्रिय द्वारा सुख भोगता है व इष्टविषयका साधन प्राप्त करता है और असाता वेदनीयका उदय आता तो यह जीव इन्द्रिय द्वारा दुःखका अनुभव करता है व अनिष्ट संग प्राप्त करता है। यह मोहनीय कर्म सब कर्मोंमें प्रधान है। एक मोह मिट जाय तो थोड़े ही समयमें बाकी सब कर्म मिट जायेंगे। मोहके बलपर ही सब जिन्दा हैं। जैसे सेनामें सेनापतिके बलपर ही सारी सेना जिन्दा है। अगर सेनापति गुजर गया तो सेना तितर-बितर हो जायगी, ऐसे ही मोहनीय कर्म जब तक है तब तक ये सब कर्म उमड़े हुए हैं और मोहनीय कर्म मिटे तो सब कर्म मिट जाते हैं। तो मोह एक महापाप है—यह बात ध्यानमें लायें। और अगर अपने आत्मकी दया है, अपनेको अगर पवित्र रखना है, संसारके संकटोंसे बचाना है तो मोहभाव न लावें, अज्ञान

मत लावें। देखो जब तक गृहस्थीमें हैं तब तक सबके बीच रहें तो प्रेमसे, मगर भीतरमें ऐसा ज्ञानबल बनाये रहें कि मेरा तो मेरे आत्माके सिवाय और कुछ नहीं है। भीतरमें यह विश्वास रहना चाहिए, क्योंकि मोहभाव आये तो कोड़ाकोड़ी सागरों तकके कर्म बँध जाते हैं, फिर यह जीव उसी चक्करमें रहता है। मिथ्यात्व रहता है दर्शनमोहमें। चारित्र्यमोहमें संयम नहीं बनता।

कर्मोंके संक्षिप्त विवरणमें आयु, नाम, गोत्र व अन्तरायकर्मका वर्णन—आयु कर्म—इस समय मनुष्य आयु कर्मका उदय है तो यह जीव मनुष्य आदिके शरीरमें रुका पड़ा है। अब लोग तो तरसते हैं कि मैं जिन्दा रहूँ, पर जिन्दा मायने क्या? जीवका शरीरमें रुका रहना। यह रुके रहना मेरा काम नहीं है। शरीर ही न मिले और मैं अकेला आत्मा रहूँ और अपने आपमें मग्न रहूँ, यह चाहिए इस जीव को। यह ही तो सिद्ध भगवान करते हैं जिसकी हम आराधना करते हैं। तो जीव शरीरमें रुका है, यह आयुकर्मका उदय है। नामकर्म—इस नामकर्मके उदयमें नाना प्रकारके शरीर मिलते जाते हैं। देखो एक शरीर छोड़कर जीव गया तो शरीर तो यों पड़ा रह गया। जीव गया। अकेला। उस जीवके साथ सूक्ष्म शरीर भी है, तैजस शरीर, कार्माण शरीर। सूक्ष्मशरीर—जो भीतसे न रुके, पर्वतपर न अड़े, किसीसे न रुके ऐसा सूक्ष्म शरीर होता है। जब पैदा होनेको जगह गया तो वहाँ जो वर्णणायें हैं उनकी नाना रचनायें बन जाती हैं। मनुष्योंमें देखो—एककी शक्ल दूसरेसे नहीं मिलती। देखो सबकी नाक आँखके बीचसे और मुखपर निकली है, सबकी एकसी बनावट है, मगर एकका चेहरा दूसरेसे नहीं मिलता। बात एकसी है, मगर उसीमें कितनी भिन्नतायें आ गई हैं। ये भिन्नतायें कैसे आयीं कि उस-उस तरहके नामकर्मके उदय हैं और टेढ़े-मेढ़े शरीर मिल जाते हैं। देखो ऊँटोंका और तरहका शरीर, घोड़ोंका और तरहका, मेढक मछली वगैराके शरीर और-और तरहके। तो जिस नामकर्मका बंध हुआ उस उदयमें वैसा शरीर बन जाया करता है। तो शरीर नाना तरहके बन जाना यह नामकर्मका काम है। गोत्रकर्म—ऊँच-नीच कुलमें जन्म होना गोत्रकर्मके अनुसार होता है। पशु जितने हैं उनका नीच कुल है, देवोंका उच्च कुल है। मनुष्य जितने हैं वे कोई उच्च, कोई नीच कुलके हैं और नारकी जितने हैं वे सब नीच कुलके हैं। जिस जीवका जैसा उदय है उसके अनुसार उसे कुल मिला हुआ है। ऐसा कुल पाना भी जीवका स्वरूप नहीं है। जीवका स्वरूप तो अरहंत सिद्धकी तरह पवित्र रहना है। अन्तरायकर्म—जो अन्तराय डाले उसमें निमित्त पड़े, किसीके दान करनेके भाव हो रहे कि मैं दान करूँ, मगर उसमें अन्तराय ऐसा आता कि वह दान नहीं कर पाता। यह एक कर्मका ही तो उदय है। ऐसे लोग बहुतसे देखे गए कि जो चाहते हैं कि मैं दान करूँ। कोई तो लोगोसे कह भी देते कि भाई तुम्हें जो धन ले जाना हो वह जबरदस्ती ले जावो, हमें

अपने हाथोंसे देते नहीं बनता । याने इस तरहके भाव बनते कि दान देनेका भाव होते हुए भी वह अपने हाथोंसे दान नहीं दे सकता । कोई अधिक प्रेरणा करके उठा ले, पर वह अपने हाथसे नहीं दे सकता, तो आखिर इसमें उसके अंतरायकर्मका उदय ही तो है । लाभान्तराय—लाभ न हो पाना, लाभमें विघ्न हो जाना लाभान्तराय है । भोगान्तराय भोगनेकी सामर्थ्य न रहना । जैसे बहुतसे धनिक ऐसे देखे जाते कि भरा तो है लाखोंका धन पर कोई ऐसा रोग बन गया कि वे कुछ खा पी नहीं सकते । डाक्टरने मना कर रखा है कि मूंगकी दाल और दो रूखे सूखे टिक्कड़के सिवाय और कुछ नहीं ले सकते । तो आखिर यह भोगान्तराय ही तो है । उपभोगान्तराय—उपभोग सामग्री जैसे मोटर, मकान, वस्त्रादिककी प्राप्ति न हो पाना, उसकी प्राप्तिमें विघ्न आना यह जिसके उदयसे हो वह उपभोगान्तराय है । तो ये जो अष्टकर्मोंका बंध जीवके साथ हुआ वह जीवके भावोंका निमित्त पाकर हुआ । जैसे लोग कहते हैं कि क्या करें, कर्मका उदय ही है ऐसा । तो भला बतलावो वह कर्मका उदय आया क्यों ?....ऐसे ही कर्म बंधे ।....ऐसे कर्म बंधे क्यों ?....ऐसे भाव किया । तो जो भाव किया उसके अनुसार ही तो फल भोग रहा । जैसे भाव किया वैसा कर्मबंध हुआ । तो जीवने किया विकार, विभाव, मोह और ये कर्म बंध रहे, यह उनमें निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है ।

विशेषः कोऽप्ययं कार्यं केवलं मोहकर्मणः ।

मोहस्यास्यापि बाधस्य कारणं सर्वकर्मणाम् ॥१०७१॥

मोहभावका विचित्र कार्य—मोहनीय कर्मका कोई ऐसा ही एक विशेष कार्य है कि इसके ऐसे-ऐसे विकार भाव उत्पन्न होते हैं । देखो सम्प्रज्ञान ही इस जीवका सहाय है, दूसरा कुछ भी सहाय नहीं । पुराणोंमें भी सुना होगा, यहाँ भी देख लिया होगा, कोई किसी का मददगार बन सका क्या ? जीव जैसे भाव करता है वैसा ही फल भोगता है, इसका कोई दूसरा मददगार नहीं है । तो अब हम ही अपनेको शरण हैं । हम मायने ज्ञान, ज्ञानमात्र आत्मा ही भीतर ज्ञान है, जागरण है । ज्योति है, प्रकाश है, समझ है, चेतना है सो ही तो आत्मा है । तो हम कैसे चेतें, कैसे जानें कि हमको संकट न आयें, दुनिया कुछ कहे । यह ही बात समझ लो । जब शरीरका भी विकल्प छोड़कर, पञ्चेन्द्रियके व्यापारको रोककर भीतरमें निहारते हैं—यह तो हल्का, अमूर्त, ज्ञानमात्र आत्मा है, बस इसमें पूरी समृद्धि है । इसका स्वरूप पूरा बना हुआ है । इसमें कुछ अधूरापन नहीं है, आनन्दमय है, ऐसा स्वरूप को निरखें तो उसके भव-भवके बांधे हुए कर्म भी कट जाते हैं और इस स्वरूपको न देखें, बाहर-बाहरमें ही देखें—यह मेरा लड़का है, यह मेरी बच्ची है, यह मेरा अमुक है, यों मोह ही मोह बने तो वहाँ व्यग्रता होती है, कर्मबंधन होता है, संसारमें उसका रलना होता है । देखो इन समस्त कर्मोंका कारण बना है विकारभाव, मोहभाव । जहाँ मोह है वहाँ सारे कर्म

बन्धनको प्राप्त हो जाते हैं। तो ऐसे समस्त कर्मोंके बन्धका प्रयोजनभूत जो मोह है सो यह पहले मोह किया था उससे कर्मबन्ध है। उसका फल यहाँ आज मिल रहा। आज जिसको कोई दुःख या सुख होता है तो वह पहले बाँधे हुए कर्मोंके उदयमें हो रहा। ये करोड़ों वर्ष पहलेके बाँधे हुए कर्म आज उदयमें आ रहे, बहुत भवोंका भी उदयमें आ सकता, इस भवका भी उदयमें आ सकता, मगर प्रायः करके हजारों लाखों करोड़ों भवोंके बाँधे हुए कर्मोंका भी हिस्सा निकल रहा है उदयका और इसीलिए चूँकि एक समयका जो उदय है सो करोड़ों भवोंके बाँधे हुए कर्मोंका भी है, लाख भव पहले बाँधे हुए कर्मोंका भी है। उनका जब निषेक नम्बरमें आया उसका उदय है तो उस सबका जो अनुपात होता है, उसका कर्मविपाक होता है तो कर्मपर दृष्टि नहीं देना है, किन्तु अपने आत्माके स्वभावपर दृष्टि देना है। भूलसे ही तो यह घबड़ा गया है, भूलसे ही यह बंधन कर रहा है, दूसरेके वशमें पड़ा है।

भ्रमकी अंधेरी—अंधेरीके सम्बन्धमें एक कथानक है कि एक कुम्हारका गधा शाम को कहीं निकल गया। काफी अंधेरा हो गया घर न आया तो वह कुम्हार उस गधेको ढूँढ़ने के लिए घरसे निकल पड़ा और दूसरी जगह क्या घटना घटी कि किसान लोग फसल काट रहे थे, सूर्यास्त हो चुका था तो वहाँ एक किसान उन फसल काटने वालोंसे बोला—भाइयों जल्दी जल्दी फसल काट लो, अधिक देर न करो, नहीं तो अंधेरी आ जायगी। जितना डर मुझे शेरका भी नहीं उससे ज्यादा डर अंधेरीका है। (यहाँ अंधेरीका अर्थ अंधकारसे समझना) इस बातको सुन लिया एक शेरने। शेर सोचने लगा अरे अंधेरी भी कोई चीज है जो हमसे भी बलवान है। वह अंधेरीका भय मानकर एक जगह बैठ गया। अंधकार तो काफी था ही। उधर वह कुम्हार उस शेरके पास भी गधा ढूँढ़ते हुए पहुँचा, कुछ समझमें आया कि यहाँ कोई बैठा है, सो भट अपना ही गधा समझकर उसके कान पकड़ लिया और भट एक डंडा मारकर कहा—अरे तू यहाँ आकर बैठा है, मैं तुझे घंटोंसे ढूँढ़ता हुआ परेशान हो गया। यहाँ तो कुम्हारको गधेका भ्रम हुआ। उधर शेरको यह भ्रम हो गया कि जिस अंधेरीकी अभी बात कर रहे थे लो वह आ धमकी। सो अंधेरीके भयसे शेर भयभीत हो गया। कुम्हारने कान पकड़कर खींचते हुए गधेके बाड़ेमें ले जाकर बांध दिया। रात्रिभर वह शेर उन गधेके बीच बैठा हुआ अपनेको दुःखी अनुभव करता रहा, पर जब प्रातःकाल हुआ, अपनेको गधेके बीचमें बंधा हुआ पाया, अपने भ्रमपर पछतावा हुआ तो भट दहाड़ मारा और छलांग मारकर जंगल चला गया। तो यहां देखो कि जैसे भ्रममें आकर वह शेर कायर बन गया, दुःखी हुआ, ऐसे ही ये संसारी प्राणी भ्रममें आकर महाकायर बन रहे हैं, दुःखी हो रहे हैं। कभी किसीसे दब रहे, कभी किसीसे हैरान हो रहे, मोहमें, रागमें बड़े परेशान हो रहे। देखो अभी कल हम लोग जहाँसे आये वहाँ सबने क्या देखा कि पासमें

कोई तीन दुसाफिर बैठे थे—स्त्री, पुरुष और उसकी बहिन । क्या देखा कि वह पुरुष अपनी स्त्रीके रागमें आकर खूब उसके साथ हँसता बोलता हुआ मौज मान रहा था । पासमें बैठी हुई उस पुरुषकी बहिन बड़े भाईके नाते उससे कुछ बातें करना चाहती, पर उसकी ओर उसका ध्यान कहाँ, वह बेचारी कुछ उदास-सी रही । तो जिसके जहाँ राग बसा है उसका वहीं उपयोग है, और उसके ही आधीन है, उसके ही वश है । दुःखी होता रहता है । भ्रम लगा है ना, उसका फल है । मेरी महिमा बढ़ेगी ऐसा उसके भ्रम बना है तब परवस्तुओंके आधीन है । बड़ी अंधेरी छाई है वह अंधेरी क्या ? कर्मोदय । कर्म आये, अंधेरी आयी, आत्मामें छाया पड़ी, विकार हुआ, दुःखी हुआ । जहाँ यह ख्याल आया कि अरे मैं तो प्रभुके समान स्वरूप वाला हूँ और यह मैं इन जड़ पदार्थोंके साथ बंधनमें पड़ा हूँ, मेरा स्वरूप तो ज्ञानानन्दमय है । जहाँ वह अपने स्वरूपको संभाले, ज्ञानप्रकाश होगा तो सारे बंधनोंको तोड़ कर अपने आत्मामें विहार करने लगेगा ।

अपने स्वरूपदर्शनसे अपनी रक्षा कर लेनेका अनुरोध—भैया ! अपनेको अपना आत्मा ही रक्षक है, दूसरा कोई रक्षक नहीं । अपनेको देखें, अपनेको समझालें, अपने स्वरूपके दर्शन करें, यह ही एक सारभूत बात है, बाकी तो जितने दिनको यहाँ आये, मोह ममतामें लिपटे, अन्तमें निर्णय होगा कि शरीर छोड़कर जाना पड़ेगा, न जाने कौनसा भव मिलेगा ? इससे यह जीवन पाया है तो दुनियाकी ओर अधिक न देखें कि दुनिया क्या कर रही है, कहाँ-कहाँ क्या क्या हो रहा है ? आखिर दुनियाको भी तो देखना होता है, क्योंकि गृहस्थी है, गृहस्थीमें सब ओर ही बातें देखनी पड़ती हैं, मगर जहाँ दुनियाकी सब बातें करते वहाँ घंटा-दो घंटा अपने आत्माकी बात भी करो । आखिर अपना रक्षक यह ज्ञान ही है । दुनियाका यह संग प्रसंग इस जीवका रक्षक नहीं । तो जो अपना शरण है, प्रियतम है उसकी शरण गहो । अपना प्रियतम कौन ? प्रियतमका अर्थ है सबसे प्यारा । अच्छा अब आप देख लो, यहाँ आपको सर्वोत्कृष्ट प्रिय चीज कौनसी है ? सर्वोत्कृष्ट प्रिय चीज तो वही हो सकती जिसका प्यार कभी मिटे कहीं । जिन-जिनका प्यार मिटता जाये वे प्रियतम नहीं । तो सबसे अधिक प्रियतम कौन ? जिसका प्यार कभी बदले नहीं । अब दुनियामें कुछ भी चीज बताओ जिसका प्यार एकसा सदा रहता हो, कभी बदलता न हो ? शैशवमें माँ की गोद प्रिय, बादमें विद्या प्रिय, फिर परीक्षा आदि बदलते रहते । जब विवाह हो जाता तो स्त्री सर्वोत्कृष्ट प्रिय रहती, कुछ दिन बाद जब बच्चे हो जाते तो सबसे प्रिय लगते, स्त्री प्रिय नहीं लगता । मान लो लड़की बड़ी हुई, उसके विवाहकी फिक्र हुई तो अब बच्चे भी प्रिय नहीं रहते, सबसे प्रिय चीज उसके लिए हो जाती है धन । तो जिस परसे प्यार बदले उसे प्रियतम नहीं कह सकते । जो प्यार कभी बदले नहीं, प्रियतम तो वह है । मान लो कभी ऐसी घटना घट जाय कि उसके

घरमें आग लग जाय, कोई एक बच्चा घरसे न निकाल पाये, आग तेज बढ़ जाय तो वह पुरुष दूसरोसे कहता—भैया ! मेरा बच्चा निकाल दो, मैं तुम्हें ५० हजार रुपये दूंगा । देखो वहाँ उसे अब धन भी प्रिय न रहा, उसे प्रिय हो गई अपनी जान (प्राण) । मान लो उसी घटनामें उसको जग जाय वैराग्य, वह विरक्त हो जाय, अपने आत्मस्वरूपमें मग्न हो जाय, अब उसपर कोई शत्रु आकर उपसर्ग करे, उसके प्राणोंका घात करे तो भी वह कुछ परवाह नहीं करता, उसकी ओर ध्यान ही नहीं करता, वह तो अपने ज्ञानस्वरूपमें मग्न रहता है । तो यह ज्ञान ही एक ऐसी चीज है कि जिसकी कभी बदल नहीं होती । तो सर्वोत्कृष्ट प्रिय (प्रियतम) है ज्ञान । यह ज्ञान ही मेरा शरण है, सर्वस्व है, प्रियतम है । शुद्ध ज्ञानसे बढ़कर प्रियतम चीज जगतमें कुछ नहीं है, इसलिए उस सबसे अधिक प्रिय चीजसे प्रीति करें, उसमें ही रुचि करें तो उससे कुछ लाभ मिलेगा, और जिनके प्यार बदलते रहते हैं उनमें दिमाग लगानेसे फायदा कुछ न होगा, सारा जीवन यों ही व्यर्थ निकल जायगा । तो यह जीव मोही बना फिर रहा है । यह मोहभाव ही इस जीवके लिए दुःखकी खान है और यह ही समस्त प्रकारके कर्मबन्धनका कारण है ।

अस्ति सिद्धं ततोऽन्योऽन्यं जीवपुद्गलकर्मणोः ।

निमित्तनैमित्तिको भावो यथा कुम्भकुलालयोः ॥१०७२॥

कर्म और जीवमें निमित्तनैमित्तिक भाव—जैसे इस जमीनपर एक हाथ दूरसे ही हाथ करें तो उस जमीनपर हाथकी छाया आती है, तो बताओ वह छाया किसकी है ? हाथकी है या जमीनकी ? अगर कहो कि हाथकी है तो हाथकी जो चीज होगी वह हाथमें होगी या हाथ से बाहर ? हाथकी चीज हाथमें ही मिलेगी । तो फिर वह छाया जमीनसे कोई एक हाथ दूर है, फिर वह हाथकी छाया कैसे रही ? नहीं रही । तो क्या जमीनकी छाया है ? अगर जमीन की छाया बताओगे तब तो फिर वह छाया बराबर चौबीसों घंटे रहनी चाहिए, पर ऐसा तो नहीं है । फिर वह छाया जमीनकी भी न रही । और है छाया जरूर । सब लोग देखते ही हैं । तो ऐसे ही यह समझो कि इस आत्मामें जितनी विभावछाया है—क्रोध, मान, माया, लोभ, विकार, विचार, ख्याल, त आदिककी वह सब भी तो है, पर वह किसकी है ? कर्मकी छाया है या जीवकी । ऐसा एक प्रश्न है । अगर कोई कहे कि वह विभावछाया कर्मकी है तो फिर यह बताओ कि कर्मकी जो चीज होगी वह कर्ममें ही रहेगी या कर्मसे बाहर ? कर्ममें ही रहेगी । तब तो फिर ये रागद्वेषादिक विकारभाव कर्मके न रहे, और अगर कहो कि जीव के हैं तो फिर वहां यही प्रश्न खड़ा हो जायगा कि जीवकी जो चीज है वह जीवमें सदा रहेगी, फिर मिटेगी कैसे ? तो इस उत्तरसे ही स्पष्ट हो गया कि ये विभाव जीवके नहीं हैं । जीव तो सदा अनादि अनन्त है । यदि जीवके ये विभावभाव होते तब तो ये कभी मिट

ही न सकते, सदा रहते, पर ऐसा तो नहीं है। तो ये विभाव जीवके भी न रहे। मगर ये हो रहे जरूर। बस यह ही समस्या यहाँ है। जैसे जमीनपर जो छाया आयी वह जमीनका स्वभाव तो नहीं है, मगर हाथका सन्निधान पाकर वह छाया प्रकट हुई है इसलिए छाया निमित्त है, औपाधिक है और छायारूप परिणामी यह जमीन ही है। इसी तरह आत्मामें जो रागद्वेषादिक भाव आये वे कर्मका सन्निधान पाकर आये। हुए जीवमें ही हैं, मगर नैमित्तिक हैं, औपाधिक हैं। तो जैसे यहाँ जमीनमें पड़ने वाली छाया आप मेट सकते कि नहीं? ...मेट सकते। कैसे?... हाथको हटाया कि छाया खतम। तो इस छायाको तो यों मिटा लिया, मगर आत्मामें जो रागद्वेषकी छाया है, कर्मविपाककी भाँकी पड़ी है, कर्म रस पड़ा है उसे आप कैसे मिटायेंगे? वे कोई आँखों दिखते तो नहीं। वहाँ तो ज्ञान ही मिटायेगा, दूसरा कोई उपाय नहीं। ...कौनसा ज्ञान मिटायेगा?... स्वभावज्ञान। जहाँ यह समझमें आया कि मैं तो सहज चैतन्यमात्र हूँ, ज्ञानमात्र हूँ, जाननहारभर हूँ, इसमें और कुछ नहीं है और सब भ्रम है। तो जहाँ अपने स्वरूपका ज्ञान होगा वहाँ ये सब विकार दूर होने लगेंगे।

कर्मविपाकके ओटपाये—अब एक ही बात बतलाओ कि आपको जो कुछ वर्तमानमें समागम मिला है, स्त्री, पुत्र, मित्र, धन वैभव आदिकका, जिनके बीच रहकर आप बड़ा मौज मानते हैं, वे आपके पास सदा रहेंगे क्या? और फिर वैसा ही सदा रहना चाहते हैं क्या? हाँ कह दो न, क्या हर्ज है? यदि ऐसा रहना चाहते हैं तो देखो उसमें दो आफतें हैं। एक तो ऐसा कोई रह नहीं सकता। आप अपनी बीती हुई जिन्दगीसे ही यह अनुभव बता सकते कि कभी किसीके सदा एक्से दिन नहीं रहते, क्योंकि वह अपने हाथकी बात नहीं है। वह तो सब कर्मलीला है। होती है, मिटती है, और फिर दूसरी बात—ऐसा ही बना रहे तो कौनसा आनन्द मिला? अच्छा जितने दिन आप अपने सुखके मानते हैं उनमें एक भी दिन पूराका पूरा सुख ही सुखमें बीता हो तो बताओ? चौबीसों घंटेकी तो बात क्या कहें—दो चार छः घंटे भी लगाकर एक जैसी स्थिति नहीं रहती। लगातार तो दो घड़ी भी सुख नहीं है किसीको। मान लो आप किसी दो तीन सालके बच्चेको गोदमें लिए खिला रहे, खूब मौज मान रहे और उसने कर दिया आपके कोट पेन्टपर टट्टी, तो आप झट झुंझलाकर उसकी माँ को या अपनी बेटी, बहिन किसीको आवाज देकर बुलाते। अरे जल्दी आओ, देखो बच्चेने हमारे ऊपर टट्टी कर दिया। तो जरा ही देरमें देखो आपका वह मौज खतम हो गया। तो संसारका यह सारा समागम दुःखरूप है। और यह सब है क्या? जीव और पुद्गलके निमित्तनैमित्तिक सम्बंधसे यह सब काम हो रहा है। हो रहा पदार्थका खुदमें खुदका परिणामन, मगर जितने विकार हैं, विभाव हैं वे सब उपाधि सम्बंध बिना नहीं होते। जैसे कुम्हार ने घड़ा बनाया तो कहीं कुम्हार उस घड़े रूप नहीं बन गया, बना उस मिट्टीसे ही। वह

कुम्हार तो उस घड़ेके बननेमें निमित्त है। मिट्टी अपने आप परिणम रही है घड़ेके रूपमें, वह दृष्टि तो उपादानकी है, मगर कुम्हारके प्रयोग बिना मिट्टी कहीं अपने आप गीली हो जाय, उठ जाये, ऐसा तो नहीं है। तो जैसे घड़ेके बननेमें कुम्हार और मिट्टीका निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है इसी प्रकार रागादिक विभावोंके बननेमें जीव और कर्मका भी निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है। यह बात सुनकर कभी यह बुद्धि न करना कि कोई परपदार्थ इसको परिणामा देता है। कर्तृकर्मभावकी शंका न करना कि पुद्गल कर्म जीवको रागी बना देते हैं। वे कर्म तो अपने उदयमें आते हैं, उनकी गड़बड़ी उनमें होती है, यहाँ प्रतिफलन होता। जीव अपनी गड़बड़ी करता, मगर निमित्तनैमित्तिक सम्बंध अवश्य है। अगर निमित्तनैमित्तिक सम्बंध न होता तो रागद्वेषादिक कभी मिट नहीं सकते। अगर जीवमें अपने आप हो गए तो उनके मिटनेका फिर साधन क्या ?

अन्तर्दृष्ट्या कषायाणां कर्मणां च परस्परम् ।

निमित्तनैमित्तिको भावः स्यान्न स्याज्जीवकर्मणोः ॥१०७३॥

वस्तुतः जीव और कर्ममें निमित्तनैमित्तिक भाव न होकर कषाय और कर्ममें परस्पर निमित्तनैमित्तिक भावकी सिद्धि—और अन्तर्दृष्टिसे देखें—याने मोटे रूपमें, तो यह बतलाया कि जीव और पुद्गल कर्मका परस्पर निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है, मगर और गहरी दृष्टिसे देखें तो यह ही बात नहीं, किन्तु कषायोंका और कर्मोंका निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है। जीव तो सभी हैं। सिद्ध भगवान भी जीव हैं, मगर वहाँ तो कुछ गड़बड़ी नहीं होती है। जहाँ कषाय है वहाँ ही कर्म बँधते हैं। जहाँ कर्मके उदय हैं वहाँ कषाय बनती है, यह झगड़ा चल रहा है। देखो इस वर्णनसे कुछ अपने आपमें कुछ शिक्षा जरूर लेनी चाहिए। इस तरहके मौजसे धर्म न करें कि रूढ़िवश मंदिर भी आते, सारे क्रियाकाण्ड करते, मन्दिरमें बैठकर खूब गप्पें भी करते, शास्त्र भी सुनते जाते, बातें भी करते जाते, दिल बहलाते जाते और आप समझते कि हम तो बड़ा धर्म कर रहे, इस ढंगसे धर्म नहीं होता। देखो धार्मिक क्रियाकाण्ड करनेमें कष्ट तो सब करते, मगर उसकी ऐसी उत्तम विधि बना लो जिससे लाभ तो पा लो। खूब श्रम भी करो और लाभ न पावो तो वह श्रम किस कामका ? लाभ तो सम्यग्ज्ञान पानेमें है। अपने अंदरमें ज्ञान सही बनायें। और देखो कितना ही वैभव मिल जाय, पर उससे आत्मा में कुछ लाभ न होगा, बल्कि उसमें मोहभाव जगेगा जिससे जीवका बिगाड़ होगा। और अगर आत्माके ज्ञानका काम करें, सत्संगति, स्वाध्याय आदिकसे अपने आत्मस्वरूपकी उपासना करें तो इससे आपको अपना सर्वस्व मिल जायगा। अब आपकी रुचि किसमें है सो विचारो। आप मंदिर भी जाते, पूजा-पाठ भी करते, त्यागी ब्रतियोंके समागममें भी रहते, घर-गृहस्थीके अनेक काम करते, पर आपकी रुचि किसमें है ? तो आप जिस चीजको अपना सर्वस्व समझते,

जिसके लिए आप अपने तन, मन, धन, वचन, सर्वस्व न्याँछावर करनेको तैयार रहते, रुचि तो आपकी उसमें है। किसीकी रुचि धन वैभवकी ओर विशेष है, किसीकी रुचि बाल बच्चोंकी ओर विशेष है, किसीकी रुचि किसीमें विशेष है। तो ठीक है, यह भी आप लोगों का किसी परिस्थितिमें एक कर्तव्य है, मगर रुचिका चिन्ह बतला रहे कि अपने आत्माके ज्ञानके लिए मेरे आत्माका बोध हो, मुझे कोई मोक्षका रास्ता मिले, सच्चा मार्ग दिख जाय, इसके लिए आपके पास कितना समय है सो तो बतलावो ? अजी एक आध दिनकी बात हो तो घंटा भर लगा दें, पर रोज-रोज कोई त्यागी रहे तो रोज-रोज समय कहाँसे निकाला जाय ? तो अपने आपकी दयाके लिए अपने आत्माके ज्ञानके लिए या जगतमें सम्यग्ज्ञानके प्रसारके लिए आप अपना समय तन, मन, धन, वचन, कितना क्या कर सकते ? बस इस तुलनामें आप यह जान जायेंगे कि हमको वास्तवमें रुचि किस ओर है ? जिस ओर रुचि होती है उसके लिए अपना सर्वस्व सौंप देते हैं, परवाह नहीं करते, कुछ परवाह नहीं करते, होता है ऐसा। तो जैसे ही ऐसा आपका यह भाव बन जायगा कि मेरे आत्माका ज्ञान जगे, इसके लिए चाहे यह संग परिग्रह बिल्कुल चला जाय उसे भी कुछ न समझना, इतना साहस जब जगे तब समझो कि आपको अपने आत्मकल्याणकी गहरी रुचि प्रकट हुई। कषाय चल रहे हैं, कर्म चल रहे हैं, यह रेलगाड़ी खूब चल रही। कषाय भी चल रहे, विषयोंका उपभोग खूब घड़ाघड़ चल रहा, तो यह सब कषायका, मोहका प्रभाव चल रहा। द्रव्यसे देखो तो जीव और कर्म—ये परस्परमें निमित्त नहीं बनते हैं एक दूसरेके, मगर कर्मका विभाव और जीवका विभाव ये दोनों परस्पर निमित्तमात्र होते हैं। तो होनेको हो सो ठीक है, पर अपने आत्माका सही विवेक अवश्य होना चाहिए।

भेदविज्ञान व स्वरूपावबोध बिना शान्तिमार्गके पानेकी अशक्यता—आप लोगोंको प्रवचन शायद कुछ कठिन लग रहा होगा, क्योंकि कहानी किस्सा तो बोल नहीं रहे, मगर एक बात यह है कि ये राग रागिनीकी बातें या देश-विश्वकी बातें तो आप लोगोंको सुननेको अनेक ढंगोंसे मिल जाती हैं, जैसे रेडियोसे, अखबारसे, मगर आत्माके स्वरूपकी बात, ज्ञान, कर्म ये क्या अपनी स्थिति रखते हैं, भीतर क्या द्वन्द्व मच रहा है, क्या ढंग चल रहा है ? उस का चित्रण जब तक आपके परिचयमें न आयगा तब तक आपको मूलसे धर्मका, ज्ञानका प्रकाश नहीं मिल सकता। यहाँ चाहिए भेदविज्ञान। भेदविज्ञान यह भी धर्मका अंग है ना ? तो आप कहेंगे कि यह तो बहुत सरल बात है, गाँवोंमें भी जावो तो वहाँ छोटे-छोटे लोग ऐसी बात बोलते हुए मिलेंगे कि जीव न्यारा है, शरीर न्यारा है, यह जीव इस शरीरका छोड़कर चला जायगा, शरीर यही पड़ा रह जायगा पर इतना कहनेसे कहाँ वे ज्ञानी तो नहीं बन गएँ। अच्छी बात है, थोड़ा बहुत कहते तो हैं, मगर जिस ज्ञानसे पार होना है और

जिस ज्ञानके बाद फिर कोई सदेह नहीं रहता है, नियमसे आत्मतृप्ति होती है वह ज्ञान यह नहीं है। वह ज्ञान है अपने आत्माके स्वभावका ज्ञान करना और उसका विशुद्ध कार्य समझना। उसके अतिरिक्त जो अन्य बातें हों उनको विभाव, परभाव हेय समझना, यह बात जब परिचयमें आये तब समझिये कि हमको वह ज्ञान मिला है। जिस ज्ञानके कारण नियमसे संसारसंकटोंसे छूट जायेंगे। सम्यग्ज्ञान हो ग्रहण करें, बाकी तो कुछ रहना है नहीं, सब कुछ बिछुड़ेगा। बिछुड़ने दो आपका उसमें धरा क्या है? आखिर शोक करनेसे बिछुड़ना बंद नहीं होता बल्कि अनेक बार संयोग होकर बिछुड़नेकी नौबत आयगी। बिछुड़ने दो, इतनी हिम्मत ज्ञानप्रकाशमें आयगी कि सारा जहान कैसा ही परिणामे, कुछ भी स्थिति हो, मैंने तो परमात्मस्वरूपको पाया है और समझा है कि उस तत्त्वके अनुभवमें ही आनन्द है, बस मुझे तो सब कुछ मिल गया और मुझे कुछ न चाहिए।

दृश्यमान संग प्रसंगकी स्वप्नसमता—यहाँके दृश्यमान सर्वसमागम स्वप्नवत् असार हैं, उनसे आपको मिलना-जुलना कुछ नहीं है, बल्कि उनके समागमसे आपकी बरबादी है। स्वप्नवत् कैसे? एक कथानकमें बताते हैं कि कुछ घसियारे गर्मीके दिनोंमें कड़ाके की धूपमें घासका गट्टा लेकर जंगलसे चले। गाँव दूर था तो बोझसे थककर वे रास्तेमें एक पेड़के नीचे विश्राम करने लगे। थोड़ी ही देरमें उनको नींद आ गई। उनमें से एक घसियारेको ऐसा स्वप्न आया कि मैं बादशाह बन गया हूँ, बड़े बड़े राजा लोग व प्रजाजन सभी हमें नमस्कार कर रहे हैं, सभी लोग मेरी आज्ञामें हैं, मेरे पास बड़ा ठाठ है। अब देखो उस स्वप्नमें वह कितना मौज मान रहा होगा? स्वप्नमें तो उसे सब कुछ सच लगता था। पर था क्या सच, सच तो न था। आखिर हुआ क्या कि उस स्वप्न देखने वालेको किसी घसियारेने जगा दिया कि उठो, चलो, नहीं तो देर हो जायगी लो उसकी निद्रा भंग, उसका स्वप्न भंग, कहाँ राज्य रखा, कहाँ वह मौज रखा। अब वह झगड़ने लगा—अरे तूने मुझे क्यों जगा दिया, मेरा राज्य क्यों खतम कर दिया? अब भला बतलावो, वह उसकी मूर्खताभरी बात थी कि नहीं? थी। कहाँ था राज्य? वह तो एक स्वप्नकी बात थी, मिथ्या थी तो सच समझो कि यहां जो कुछ मिला है यह भी कोरा स्वप्नवत् है। अब जब सभीको स्वप्न आ रहा तो कौन बता सकता कि मुझे स्वप्न आ रहा।

मोहमत्ततामें सही समझकी असंभवता—जहां कहीं ५० आदमी हों और उन सवने शराब पी रखी हो, शराबके नशेमें पागल सरीखे बन कर अपनी चेष्टायें कर रहे हों तो वहां उनको कौन कहने वाला है कि यह पागल है, मदोन्मत्त या पागल जैसी बात वही कह सकता जो शराब न पिये हो। ऐसे ही ये संसारके सभी जीव मोहमें मस्त हैं। उनको तो सब कुछ सही-सही दिख रहा। कौन कहता है कि यह घर मेरा नहीं। नगरपालिकामें रजिस्ट्री की

हुई है या तहसीलमें रजिस्ट्री की है। कौन कहता है कि मेरा घर नहीं? सभी लोग ऐसा कहते, मगर जो मोहसे रहित हो, ज्ञानी हो वही तो कह सकेगा कि ये सब लोग परपदार्थको अपना रहे हैं। है इनका कहीं कुछ नहीं। मोह मदिरा पिये हैं। उसमें एक पागलपनसा छाया है तो परको अपना मान रहे। यह किसी दूसरेकी कथा नहीं, यह तो खुदकी बात है। खुदमें विवेक लायें, खुदमें प्रकाश लावें और सही-सही बातको समझ लें कि मेरे आत्माका कल्याण किस बातमें है? मोहमें कल्याण नहीं, लोग दुःखी होते हैं—हाथ मेरे पास धन कम है, मेरा धन घट गया... अरे इसमें दुःखी होनेकी क्या बात? पापका उदय आया सो घट गया, तो जितना धन घट गया उतने धनका और त्याग कर दो, आखिर घटना तो है ही, चलो और घट जाने दो। यों आपकी बुद्धि जगेगी तो आपके पुण्यका प्रवाह तो आयगा। गुरु जी (गणेशप्रसाद वर्णी जी) सुनाते थे कि किसी एक आदमीके एक बार १० हजार रुपये चोरीमें चले गए सो वह पुरुष खूब दुःखी मुद्रामें हमारे पास आया और बोला—पंडित जी बड़ा गजब हो गया, हमारे तो १० हजार रुपये चोरीमें चले गए... तो वहां गुरुजी बोले—भाई तुम दुःखी न होओ। आखिर पापका उदय आनेपर होना तो था ही ऐसा, इससे भी ज्यादा हो सकता था, सो अब तुम जान-बूझकर बड़ी उदारतासे १० हजार रुपयेका और दान कर दो, समझ लो कि यह भी उसी १० हजारके साथ चला गया। आखिर जा सकता था ना। उदारतामें आपका पुण्यरस बढ़ेगा और पापकर्मका क्षय होगा। सो उसने वैसा ही किया। कुछ ही दिनोंमें ऐसा देखनेको मिला कि किसी न किसी बहानेसे उसका टोटा पूरा हो गया।

तृष्णामें संतोषका अनवसर—देखो—प्रायः करके ऐसा देखा जाता है कि जब किसी की किसी प्रकारकी हानि हो जाती है तो उसकी दृष्टि उस हानिपर तो अधिक रहती है, पर वर्तमानमें जो पास रखा है उसपर दृष्टि नहीं रहती। जैसे कभी किसी सेठका मानो १ लाखमें से १ हजारका टोटा हो गया तो उसकी दृष्टि उस एक हजारपर अधिक रहती है। बाकी जो अभी ९९ हजार धरे हैं उनपर दृष्टि नहीं रहती। यही कारण है कि वह अधिक चिन्तित रहा करता। एक घटना है कि एक बुढ़िया मां के ७ बेटे थे, उनमें से एक मर गया तो वह बुढ़िया बहुत-बहुत रोती थी। सभी बालक समझाये—मां तुम रोओ मत, तुम्हारे रोनेसे अब होगा भी क्या? अभी तो हम ६ बेटे हैं, हमीको देखकर खुश रहो। तो वह बुढ़िया मां बोलती—बेटा क्या करें, जी (मन) नहीं मानता, हमारी तो दृष्टि उम एकपर ही अधिक रहती है। कुछ दिन बाद दूसरा बेटा मर गया तो फिर बुढ़ियाकी वही हालत। सभी लड़के समझाते—मां क्यों इतना अधिक रोती हो, अभी हम ५ बेटे तो हैं, हम लोगोंको देखकर खुश रहो। तो बुढ़ियाने

वहो उत्तर दिया—क्या कलूँ बेटा, मन तो नहीं मानता, रोये बिना नहीं रहा जाता । हमारी तो दृष्टि उन दो बेटोंपर ही अधिक रहती है । इसी तरहसे धीरे-धीरे चौथा, तीसरा, दूसरा, पहला, ये सभी बेटे मरते गए, वहां बुढ़ियाकी यही हालत रही कि जो बेटे मरते बस उनपर ही उसकी अधिक दृष्टि रहा करती थी । यही कारण था कि वह सदा रोते ही रोते अपनी जिन्दगी बिताती रही । तो मतलब क्या है कि हम आप अपना यह दुर्लभ मानव-जीवन इसलिए मत समझें कि हमको ऐसा मकान बनाकर लोगोंको दिखाना है, लोगोंको इतनी सम्पदा दिखाना है, इतना वैभव दिखाना है । यह तो पुण्यके उदयमें आपका नौकर होकर आयगा, दास बनकर आयगा पुण्योदय हो तो । यह बिल्कुल तथ्यकी बात है, पुण्योदय है तो सम्पदा आयगी, नहीं है पुण्योदय तो न आयगी, बल्कि पापोदय है तो जो कुछ पासमें है वह भी बिछुड़ जायगा । आप तो अपने धर्मसाधनके कर्तव्यसे न चूको ।

धर्मसाधनके प्रवर्तनसे ही मरभवकी सफलता—आपका कर्तव्य यही है कि आप अपना एक यह सही निर्णय बना लें कि मेरा जीवन तो धर्मसाधनाके लिए है, दूसरी बातके लिए मेरा जीवन नहीं है, क्योंकि आज हम हैं कलका क्या भरोसा ? वास्तविक धर्मपालन यही है कि अपने आत्माका जो सहज निरपेक्ष ज्ञानमात्र स्वरूप है उसे जानें कि यही मेरा सर्वस्व है, अन्य कुछ मेरा कहीं कुछ नहीं । ऐसा अनुभव बने, ऐसा ज्ञान चले तो वह है वास्तविक धर्मपालन । वह एक साधन मात्र है । वह इसलिए है कि हम इस तरहके पात्र तो हैं । उस समयमें हम अपनी सुध तो कर सकते हैं । कहीं यह न समझना कि हमने भगवानके सामने नेकसे चावल चढ़ा दिया, हाथ जोड़ दिया सो धर्मपालन हो गया । अरे वास्तविक धर्मपालन है प्रभुके स्वरूपमें लगन । जो आत्माका सहज ज्ञानस्वरूप है उसमें अनुभव बने कि मैं यह हूं, वह है धर्मपालन । फिर पूजा-पाठका भी कुछ प्रयोजन है कि नहीं ? हां है । उस समय ऐसी साधना बनायें कि हम घंटा-डेढ़ घंटा प्रभुकी स्तुतिमें तो रह सकें और उस बीचमें हम आत्मदृष्टिकी साधना बनाये रहें, इसका एक अवसर तो है, और किसी क्षण वह स्वरूपका अनुभव बने तो यही वास्तविक धर्म है, इसके लिए ही हमारा जीवन है, इसके लिए ऐसा एक निर्णय बना लीजिए कि बस धर्मके लिए ही मेरा जीवन है । फिर आप कहेंगे—तो फिर यह सब गृहस्थी बिगड़ जायगी । तो भाई गृहस्थी धर्मसे नहीं बिगाड़ती । गृहस्थी बिगड़ती है व्यसनसे, पापसे, धर्मसाधनासे । धर्मसाधनामें आप लगे, व्यसनोंसे दूर हों, पापोंसे दूर हों, भगवानकी भक्तिमें रह रहे तो वह भाव तो आपके पुण्योदयमें करण है । सत्य ज्ञानीको तो पुण्यकी चाह भी नहीं होती कि मेरा पुण्य बने और मेरेको ऐसी-ऐसी पुण्य-सम्पदा मिले, उसके तो चित्तमें यह चाह भी नहीं होती । तो यह सब अपने उपयोगकी बात है । चाहे संसारमें रुलते रहनेका प्रोग्राम बनाये रहे और चाहे सिद्ध भगवान बननेका प्रोग्राम बनाये रहे, सब

आपके हाथकी बात है। आपका उपयोग सब कुछ कर सकता है, बस विवेक कर लो। सार असारकी बात समझ लो कि मेरा हित किसमें है? सिद्ध भगवान बननेके प्रोग्राममें तो हित है और संसारमें रहनेका प्रोग्राम बनानेमें अपना अहित है। इस दुर्लभ मानवजीवनको पानेका लाभ यह है कि आत्माका ज्ञान बने और संसारसे एकदम पार हो जायें।

यतस्तेऽत्र स्वयं जीवे निमित्ते सति कर्मणाम्।

नित्या स्यात्कर्तृता चेति न्यायान्नोक्षो न कस्यचित् ॥१०७४॥

सुगम स्वपौरुषसे शान्तीलामकी संभवता—अपने सुख शान्तिके लिए कार्य क्या करना चाहिए? अपनी स्थिति क्या होनी चाहिए? किसीके प्रति राग न हो, द्वेष न हो, मोह न हो, अपने सहजस्वरूपका प्रतिबोध रहे, ऐसी स्थिति बने तो वहाँ कष्ट नहीं होता। अब यह बात ज्यादा घर क्यों नहीं कर पाती कि अनादिकालसे तो वासना लगी है विषयोंकी, बाह्य पदार्थोंमें भ्रमकी। अब एक समयमें, थोड़ी ही देरमें वे सब कैसे दूर होवें? उसके लिए बड़ी साधना चाहिए। मगर अधीर होनेकी बात नहीं। देखो कुएंके बाटपर जो पत्थर धरा रहता है, जिसपर रस्सी आती जाती है तो उस रस्सीकी रगड़से दो चार सालमें वह पत्थर काफी घिस जाता है। तो ऐसे ही अगर अपने स्वरूपकी दृष्टि करनेका अभ्यास बने, बारबार भावना बने तो अपने मोक्षमार्गकी बात भी अवश्य होकर रहेगी। इसके लिए चाहिए सत्संग और स्वाध्याय। सत्संग तो आपके हाथकी बात नहीं। संत जन मिलें या न भी मिल पायें, कब मिलें, कहाँ मिलें कुछ पता नहीं और आपकी ऐसी स्थिति नहीं है कि घर छोड़कर सत्संगमें रहे आयें, रहनेकी आपकी परिस्थिति नहीं तो स्वाध्याय तो स्वाधीन चीज है। स्वाध्यायमें भी सत्संग मिलता रहता है। जिस आचार्य महाराजका ग्रन्थ पढ़ रहे उसके प्रति यह रहता यह अमुक आचार्यके वचन हैं, तो यह ही सत्संग हो गया। सत्संगमें स्वाध्याय शामिल है और स्वाध्यायमें सत्संगका लाभ भी शामिल है। तो ये दो चीजें हैं जिसके कारण अभ्यास बनेगा। “करत करत अभ्यासके जड़मति होत मुजान। रस्सी आवत जात है, सिलपर परत निसान।” कोई सोचे कि हम जब बड़े होंगे तबसे अभ्यास करेंगे तो जो ऐसा सोचता है वह बुढ़ापामें भी कुछ नहीं कर सकता। तो कारण क्या है? क्यों नहीं कर पाता धर्म कि वह निकट बुढ़ापासे पहले ही अपने मनको अत्यन्त स्वच्छंद बना डालता है, खूब विषय साधनोंमें रह रहकर मौज मानता, उनकी तृष्णामें रहता, विषयवासनाका अभ्यास बनाय रहता, इस लिए बुढ़ापामें ज्ञानाभ्यासकी बात नहीं बन पाती। इसलिए जिसके जब सुबुद्धि जगे तभीसे धर्मालन करे। धर्मके लिए उलायत करना, और अन्य कामोंके लिए समय टालना। कोई लड़ाईका काम आता है, द्वेषका काम आता है उससे तो उलायत करना और जो अपने भले का काम है उसके लिए समय न टालना, तभी तो कहते हैं शुभस्य शीघ्रं याने जो शुभ कार्य हैं,

भले कार्य हैं उनको करनेके लिए समय न टालें कि अभी हमारी उम्र थोड़ी है। कुछ और बड़े होनेपर धर्म कर लिया जायगा और जिसको यहाँ ढील है उसे बड़ी उम्रमें भी ढील हो जायगी। तब बात क्या करना है सुखशान्तिके लिए कि इन रागद्वेषादि विकारोंसे अपनेको हटायें और अपना जो सहज चैतन्यप्रकाश है, उसमें अहंका अनुभव हो, मैं यह हूं।

विभावोपेक्षा और स्वभावग्रहसे प्रगति—आत्महितके लिये दो काम करना है। कौनसे काम ? एक तो असहयोग और दूसरा सत्याग्रह। देखिये जो भी देश स्वतंत्र होता है वह ये ही दो प्रयोग करता है, भारत देशको आजाद करानेके लिए भी दो प्रकारके काम किए गए थे—(१) असहयोग और (२) सत्याग्रह याने उस शासन करने वाले दूसरे देशका माल मंगाना, बंद कर देना सो असहयोग हुआ और अपने सत्यका आग्रह करना—ये दो बातें जैसे देशकी आजादीके लिए जरूरी हैं ऐसे ही आत्मामें असली स्वतंत्रता पानेके लिए, मुक्ति पाने के लिए इन दो बातोंकी आवश्यकता है—असहयोग और सत्याग्रह। असहयोग किसका करना ? विभावोंका और स्वभावका सत्याग्रह करना। विकारसे तो असहयोग, उपेक्षा, मुख मोड़ना और स्वभावमें सत्याग्रह—ये दो बातें करनेकी हैं। तो विभावोंसे विकारोंसे असहयोग कब बन सकता याने अपने जीवके उपयोगमें जो गड़बड़ी चल रही किसीसे प्रेम किया, किसी से द्वेष किया, किसीसे कैसा ही व्यवहार किया, ऐसी जो परपदार्थोंमें प्रीति चल रही है, लगाव चल रहा है इससे असहयोग करना है, याने यह बात न होनी चाहिए। तो उसका उपाय क्या है ? उसका उपाय है सत्यज्ञान। यह जान लें कि मेरे उपयोगमें जो रागद्वेषके विकल्प चलते हैं सो वे परभाव हैं, नैमित्तिक हैं, औपाधिक हैं, निरपेक्ष होकर मेरे स्वभावसे नहीं उठे अर्थात् विकारोंका मैं ही निमित्त होऊँ, मैं ही उपादान होऊँ, ऐसा नहीं है। उपादान तो हूँ विभावोंका, किन्तु निमित्त नहीं। विभाव नैमित्तिक हैं, परभाव हैं, भावना कीजिये—ये रागद्वेषादिक विभाव मेरेमें न आयें, तब ही तो इनसे उपेक्षा हो जायगी। तो युक्ति बतलाती है कि अगर मेरे रागद्वेष मोह अपने आप आ जायें, निमित्तकी बात नहीं है कुछ तो फिर खुद ही तो कारण बना निमित्त, खुद ही उपादान रहा। तो फिर सदा रागद्वेष करते ही रहेंगे, उनका कभी नाश किया नहीं जा सकता। इसलिए समझो कि विभाव नैमित्तिक है, और दूसरी बात विभावोंको करने वाले कर्म पुद्गल भी नहीं हैं, निमित्त भी नहीं है। अगर निमित्त अपनी परिणतिसे, अपनी ताकतसे, अपने बलसे जीवमें रागद्वेष कर दें तो फिर ये रागद्वेष कभी नहीं मिट सकते, क्योंकि ये कर्म रागद्वेषको करते ही रहेंगे तो सत्य यह मानना चाहिए कि कर्मका उदय निमित्त है और यह अशुद्ध उपादान है सो ये रागद्वेष होते रहते हैं, पर ये मैं नहीं हूँ, मैं तो विशुद्ध चैतन्य प्रकाशमात्र हूँ।

आत्मविश्रामकी प्रतीक्षा—जैसे लोग सोचते हैं ना जीवनमें एक यह आनन्द ले लें,

गरीब लोग भी ऐसा सोचते हैं। मान लो कहीं बड़े अच्छे पेड़े बनते हैं—खोवेको खूब कड़ाही में सेका और उसमें खोवासे आधी शक्कर डालकर अच्छी तरहसे बनाया तो बड़े स्वादिष्ट पेड़े बनते हैं। तो वहाँ गरीब व्यक्ति भी यह सोचता है कि चलो अधिक नहीं खरीद सकते तो छटाँक आधा पाव ही सही, पेड़े खरीद कर खायेंगे, सो वह थोड़ेसे ही पेड़े खरीदकर उनका स्वाद लेता है और कोई अमीर है तो वह किलो आधा किलो पेड़े लेकर छककर खाता है, पर स्वादकी दृष्टिसे देखो तो स्वाद दोनोंको एकसा मिला। तो इसी तरह यह भी तो ध्यान दो कि एक बार आत्मानुभवका आनन्द तो मिला जीवनमें। ये रागद्वेष मोह तो अहर्निश होते रहते हैं, मगर आचार्य महाराज इतना बताते हैं कि एक बार इस आत्माका आनन्द जगो जो ऐसा आनन्द होता कि उसकी तुलनाके लिए कोई भी पदार्थ नहीं है, अलौकिक आनन्द है। सदाके लिए अकलंक शुद्ध बन जाय, जन्ममरणके संकट मिट जायें इतना अद्भुत आनन्द आता है आत्मानुभवमें। तो यह बात सुनकर ऐसा तो मनमें साहस भरें कि सारी जिन्दगी तो रागद्वेष करते बीती और रागद्वेष करने पड़ेंगे, मगर अपने जीवनमें एक क्षण तो सारे विकल्प छोड़कर, सारे ख्यालात सारी वासनायें छोड़कर आत्माके सहजस्वरूपका दर्शन तो करें, उस अनुभवका आनन्द तो ले लें एक बार, और देखो एक क्षण भी अगर आत्माके विशुद्ध आनन्दका अनुभव बन जाय तो उसका फल है कि सदाके लिए संसार-संकट दूर हो जायें। उसके लिए प्रयास करना है, आत्मोत्थानके लिए प्रयास करना है। कब तक करना है? सारी जिन्दगी और एक जीवनभरकी ही बात क्या? जो दो-एक शेष जीवन हैं वे भी लग जायें आत्मसाधनाके काममें तो ठीक है। तो यह सिद्ध हुआ कि कर्मोंका निमित्त प्राप्त होनेपर जीवमें स्वयं विकार आते हैं, जीवकी परिणतिसे आते हैं। ऐसा है तो जीव अपने स्वरूपको सम्हाले और नैमित्तिक भावोंकी उपेक्षा करे कि ये निमित्त पाकर हुए, मेरी चीज नहीं तो इस जीवके ये रागद्वेष कितनी देर होंगे, और यह जीव शान्ति पा लेता है अन्यथा अगर निमित्त ही करने वाला है तो ये सदा बने रहेंगे, मात्र जीव ही करने वाला है ऐसा निरपेक्ष होकर, तो विकार सदा रहेंगे, वस्तुतः ऐसी बात है ही नहीं।

इत्येवं ते कषायाख्याश्चत्वारोऽप्यादयिकाः स्मृताः।

चारित्रस्य गुणस्यास्य पर्यायं वैकृतात्मनः ॥१०७५॥

चारित्रगुणकी विकृत पर्यायको बतानेके प्रसंगमें शक्ति और पर्यायका दिग्दर्शन—
यहाँ तक यह बात आयी कि चार प्रकारकी कषायें क्रोध, मान, माया, लोभ ये औदयिक हैं, कर्मके उदयसे हुई हैं। इस जीवका यह स्वरूप नहीं है। हुआ क्या है कि इस आत्मामें अनंत गुण हैं, उनमें जो चारित्र गुण है उसका विकार है यह कषाय। गुण मायने शक्ति। आत्मामें वैनसी शक्ति है, क्या-क्या स्वभाव है उन शक्तियोंका? तो यहाँ मुख्य ५ बातें देखिये—एक

तो जाननेकी शक्ति—आत्मामें जाननेका सामर्थ्य है, और इतना सामर्थ्य है कि यह अगर निरावरण हो जाय तो समस्त लोकके त्रिकालवर्ती पदार्थोंको व. अलोकको सबको एक साथ जान जाय, क्योंकि जाननेका ऐसा स्वभाव ही पड़ा है, इसी स्वभावविकल्पका ही नाम भगवान है। एक दर्शनकी शक्ति है याने आत्मा अपने आपके प्रतिभासमें रहता है। जैसे दर्पण है ना, तो दर्पणमें अपने आपकी झिलमिल और बाह्य पदार्थका फोटो मिलता है। दर्पणमें दो तरहके गुण हैं। अगर दर्पणमें झिलमिल न हो तो दूसरे पदार्थकी फोटो भी नहीं आ सकती। जैसे इस भीत (दीवार) में झिलमिल नहीं है तो यहाँ किसीकी फोटो भी नहीं है, ऐसे ही समझो कि आत्मामें खुदकी झिलमिल, खुदका प्रतिभास वह शक्ति है। उस ज्ञानशक्तिके कारण उसमें बाह्य पदार्थोंका जानन भी चल रहा है। तो आत्मामें दो शक्तियाँ हुई—(१) दर्शनकी शक्ति, दूसरी ज्ञानकी शक्ति। तीसरी शक्ति लो श्रद्धाकी याने इस आत्मामें कुछ आश्वासन, विश्वास होना, इसका सामर्थ्य बना हुआ है। अज्ञानी जीव बाह्य पदार्थोंमें विश्वास करता है। ज्ञानी जीव अपने आपके स्वरूपमें विश्वास करता है। चौथी बात—रमनेकी शक्ति—अज्ञानी जीव बाह्य पदार्थोंको विषय करके अपने विचारमें रमता है तो ज्ञानी जीव विकारोंसे उपेक्षा करके अपने स्वरूपमें रमता है। और ये सिद्ध भगवान अपने स्वरूपमें रम रहे हैं। तो रमना यह चारित्र्यगुण है। ५वीं बात—आनन्द। प्रत्येक जीव में आनन्दका सामर्थ्य है। अगर आनन्द का सामर्थ्य नहीं है तो जो विषयजन्य सुख दुःख है वह भी हो नहीं सकता। क्योंकि सुख दुःख क्या हैं? इस आनन्दगुणके ही विकारपरिणमन है। जैसे तिलमें तेल है तभी तो उनको कोल्हूमें पेला जाता तो तेल निका आता है और अगर रेत, कंकड़ आदिको कोल्हूमें पेला जाय तो तेल नहीं निकल सकता, क्योंकि उसमें तेल होता ही नहीं। इसी तरह आत्माको जो कुछ भी थोड़ा सुख मिलता है, संसारका ही सुख सही तो उससे ही यह सिद्ध है कि इस आत्मामें आनन्द भोगनेका सामर्थ्य है, आनन्द पानेका सामर्थ्य है तो आनन्द मिलता है। अब आनन्दकी बात यह है कि बाहरी पदार्थोंपर हम दृष्टि न गड़ाये तो हमको सही आनन्द मिले। और इन बाह्य पदार्थोंमें जब हम उपयोग लगाते हैं तो हमको विकृत आनन्द मिलता है। तो आत्मामें आनन्दगुणका सामर्थ्य है। आत्मामें एक चारित्र्यगुण भी है—आत्मामें जो ये राग द्वेष क्रोध, मान, माया, लोभादिक होते हैं वे इस आत्माके विकृत परिणमन हैं, हो रहे हैं। सो अपना स्वरूप सम्हालें तो अपने स्वभावका आनन्द मिल जायगा।

सम्यग्ज्ञानको धर्मपालनकी नैसर्गिकता—देखो—जिसको अपने भीतरके स्वरूपकी जानकारी है वह तो हर जगह धर्मपालन कर लेगा चाहे घरके अन्दर रसोईके काममें हो, चाहे अपने शौचालयके अन्दर हो, वहाँ भी आत्मदृष्टि करके धर्मपालन किया जा सकता है। ज्ञानी जीव चाहे दूकान धंधा व्यापारादिकके कर्मोंमें लगा हो, चाहे मंदिरादिक धर्मस्थानोंमें बैठा हो

सर्वत्र आत्मदृष्टिके बलसे धर्मपालन कर सकता है। हाँ, मंदिरके अन्दर चूँकि भगवानकी वीतराग मुद्राके दर्शन होते। अतः वहाँ धर्मपालन करनेकी विशेष सुविधा है। और अज्ञानी जीव को कहीं भी धर्मपालन नहीं है याने जिसने अपने आत्माके स्वरूपका परिचय नहीं किया। वह जानता ही नहीं कि मेरा स्वरूप क्या है, मेरा स्वभाव क्या है, मेरे अन्दर क्या-क्या गुण हैं तो वह धर्मपालन कैसे कर सकेगा? तो इस जीवनमें सबसे मुख्य काम अथवा कहो सार-भूत काम एक ही है कि हम अपने भीतरमें एक ऐसी छांट कर लें कि जो विषयकषाय, विचार विकल्पादिक जगते हैं वे तो कर्ममल हैं, वे मेरे स्वरूप नहीं, मेरे स्वभाव नहीं, और जो मात्र केवल जानना, विशुद्ध ज्ञान प्रतिभासमात्र बस एक चेतनासी हो गई और विशेष बात कुछ न आये वह है मेरा स्वरूप। तो जो स्वरूप नहीं है उसमें क्यों लगे? जो स्वरूप है उस ही में हम अपना उपयोग दें तो हम मोक्षमार्गमें लगेंगे। सीधी-सी बात यह है कि जो कुछ आपको मिला है धन, वैभव परिवार आदिक इन सबके प्रति यह विश्वास रखें कि जो जगतकी चीजें हैं इनपर मेरा अधिकार नहीं, ये मेरे नहीं, इनसे मेरेमें कोई सुधार होनेका नहीं। मेरा सुधार तो मेरे निर्दोष ज्ञानसे ही होगा। यह बात तो आप कर सकते हैं। यह कोई कठिन तो नहीं लग रही, आप देखते ही हैं कि यहाँ सब कुछ असार है, अहितरूप है, सबसे धोखा मिलता है, मेरे लिए यहाँ कोई सारकी चीज नहीं है। आखिर वियोग होगा, छोड़कर जाना पड़ेगा, फिर इसके लिए यहाँ कुछ नहीं, ऐसा बाहरी पदार्थोंके सम्बन्धमें थोड़ी भी जानकारी है तो ऐसी बात अपनी दृष्टिमें लावो कि जब मेरा बाहरमें कुछ है ही नहीं तो मुझे किसीका विचार नहीं रखना है, किसीको अपने विकल्पमें नहीं लेना है, किसीको अपनी धुनमें नहीं बसाना है और अपना जो सदा रहने वाला चैतन्यस्वरूप है उस स्वरूपमें अहंका बोध करना—यह मैं हूँ, मेरी सम्पत्ति है, यह काम करनेको पड़ा है, यह न किया जा सका तो संसारमें जैसे रुलने आये वैसा ही रुलना बना रहेगा। रुलना नहीं छूट सकता। यह संसारी जीव क्या चाहता है? जिस भवमें गया बस उसका मौज चाहता है, आगेका कुछ नहीं सोचता, पहलेका भी इसने कुछ नहीं सोचा। जो भव पाया उसीका मौज रहे, बस यह ही उसकी दृष्टि रहती है। अब एक ही भवका यह मौज चाहता है और उसमें इसका हुआ कर्मबन्ध, पापका उदय। दूसरा भव मिला—उसमें भी वह एक ही भवका मौज चाहता है। अज्ञानीको यह भी नहीं मालूम कि ऐसे भव हमको आगे भी और पाने पड़ेंगे या मैंने पहले भी पाये थे। अगर आगे-पीछेका कुछ खयाल इसको आ जाय तो यह स्वच्छन्द नहीं रह जाता। यह खयाल आ जाय कि मेरा अनन्तकाल व्यतीत हो गया तृष्णामें। कषाय करते-करते अब तकका अनन्तकाल तो गुजर गया, इतना भी खयाल आये तो यह भाव जरूर जगेगा कि अब कषाय करनेसे क्या लाभ है? इसमें हमने कष्ट ही कष्ट पाया, कहीं भी हम स्थिर न

रह सके और आगे भविष्य बहुत पड़ा है, यह भव छोड़कर दूसरा भव पाना तो पड़ेगा, तो एक ही भवका क्या मौज देखते हो ? ऐसी करनी करो कि जिससे अगले भवमें भी हमें धर्म का वातावरण मिले, प्रसंग मिले और वहाँ भी हम आगे बढ़ने का रास्ता पा सकें । तो अज्ञान में तो जो कुछ मिला बस वही मेरे लिए सब कुछ है । तो जो मिला हुआ है उससे निरपेक्ष रहें ।

ज्ञानी गृहस्थकी वृत्ति—“गेही पै गृहमें न रुचे ज्यों जलसे भिन्न कमल है ।” तालाब में आप लोगोंने कमलके खिले हुए फूल देखे होंगे । बताओ वे कमल कहाँ पैदा होते ?... पानी में । मगर पैदा होनेके बाद कमल पानीसे उठकर ऊपर रहता है या पानीमें घुला मिला ?... पानीसे उठकर रहता है । अगर वह कमल पानीमें मिलकर रहे तो कमल सड़ जायगा । अगर कोई ऐसा सोचे कि कमल पानीमें तो पैदा हुआ, पानी उस कमलका माता-पिता है, जब यह पानी ही उसका घर है तो फिर वह खूब पानीमें खपचकर उसमें अच्छी तरह रहे, तो भला बताओ इस तरहसे पानीमें रहकर तो कमल सड़ जायगा । तो जैसे पानीमें पैदा होकर भी कमल पानीसे अलग रहता है तो वह आनन्द पा रहा है, मुस्कराता रहता है ऐसे ही ये सब लोग कुटुम्बमें ही पैदा होते हैं, कुटुम्बके बीच ही रहकर आपका जीवन चलता है, सब कुछ हो रहा, मगर उसमें आप फंसकर रहें तो आप सड़ जायेंगे मायने आपका जीवन बरबाद हो जायगा । और जब आप अलग रहें तो इसमें आप प्रसन्न हो जायेंगे, इसीलिए जलसे भिन्न कमलकी उपमा दी जाती है । जैसे कमल जलसे न्यारा रहकर ही मुस्कराता है, शोभाको प्राप्त होता है, ऐसे ही प्रत्येक जीव इस वैभवसे अलिप्त रहकर ही आनन्द पा सकता है, नहीं तो आनन्द नहीं पा सकता । ये वैषयिक सुख तो पापबन्धके कारण हैं और इस जीवका ज्ञानबल हीन कर देते हैं । तो ऐसा जानो कि ये सब कषायें ये मेरे स्वरूप नहीं हैं । भले ही इनमें परिणति चल रही है, मगर इनसे अपनेको निर्लेप रहना है । इनसे निराला रहें और अपने स्वभावको, स्वरूपको निरखते रहें तो अंतरंगमें अद्भुत प्रसन्नता रहेगी, कर्म भी कटेंगे । इस समय भी प्रसन्न रहेंगे, मुक्ति भी मिल जायगी और एक आत्माकी सुध छोड़कर बाहरी प्रसंगोंमें लिप्त रहें, वहाँ ही मौज मानते रहें तो इस भवमें भी आनन्द न मिलेगा और आगे भी आनन्द न मिलेगा । आनन्द तो ज्ञान और वैराग्यमें है, दूसरी बातमें आनन्द नहीं है । चाहे अभी परख लो चाहे बादमें, आनन्द तो ज्ञानमें है । रागमें आनन्द कभी नहीं होता । तो जो ये कषायें आ रही हैं उनको जो अपना स्वरूप मानेगा वह अज्ञान है, वही राग है, यह अज्ञान हटे, राग हटे तो आत्माको सत्य आनन्दकी प्राप्ति होगी ।

लिङ्गान्यौदयिकान्येव त्रीणि स्त्रीपुंनपुंसकात् ।

भेदाद्वा नोकषायाणां कर्मणामुदपात्तिकम् ॥१०७६॥

विकारशासनके प्रधान व उपप्रधान मोह व कषाय—यह प्रकरण चल रहा है विकार भावोंका। जीव दुःखी है विकारके कारण। स्वरूप तो आनन्दमय है। जो स्वयं है उसीमें विश्वास हो, उसीपर निर्भर हों, उसीमें रमण बने तो इसको कोई कष्ट ही नहीं। किन्तु उस स्वरूपके अभिमुख नहीं है और बाहरी विषयसाधनोंमें इसका उपयोग लगा है तो यह विकार इस जीवको कष्ट देने वाला है। बाहरकी कोई भी वस्तु इस जीवको कष्ट नहीं देती। उसमें सामर्थ्य ही नहीं कि इस जीवको कष्ट दे सके। स्वयं ही विकार करता है और दुःखी होता है। तो उन विकारोंमें प्रधान बात कही थी मोह, मिथ्यात्व, दर्शनमोह। जिसकी दृष्टि बदल गई, विपरीत हो गई वहाँ सारे क्लेश ही क्लेश हैं। इसके बाद दूसरा विकार कहा गया था कषाय। जहाँ कषाय उत्पन्न होते हैं वहाँ यह जीव बेचैन हो जाता है। अब है तो कषाय की ही बात, किन्तु कुछ विशेषता है इसलिए यहाँ कह रहे हैं वेदकी बात।

वेदोंकी औदयिकता—वेद तीन होते हैं—(१) पुरुषवेद, (२) स्त्रीवेद, (३) नपुंसकवेद। यहाँ शरीरकी बात नहीं कह रहे कि शरीरसे कोई पुरुष है, कोई स्त्री है, कोई नपुंसक है, यह तो विकारकी बात कह रहे, याने मनमें जिस जीवको चाहे पुरुष हो, चाहे स्त्री हो, जिसको भी स्त्रीके प्रति राग जगता है, स्त्रीके प्रति अभिलाषा जगती है उसके पुरुषवेद कहा जाता है। इसी तरह मोह पुरुष हो, चाहे स्त्री हो, जहाँ पुरुषके प्रति अभिलाषा जगती है उसे कहते हैं स्त्रीवेद। यह भावकी बात है। कहो कोई पुरुष शरीरसे तो पुरुष है, मगर वेद उसके स्त्रीवेद है। कितने ही पुरुष देखे गए हैं कि उनकी बोल-चाल, उनके हाथका हिलना, उनका बात-चीत करनेका ढंग कुछ स्त्री जैसा होता है, वह पुरुष शरीरसे तो पुरुष है, मगर भीतरमें स्त्रीवेदकी कषाय जग रही है और कोई स्त्री है शरीरसे, किन्तु उसमें गुण हैं, उदारता है, शूरता है, वीरता है, जिसके उत्तम गुण हों ऐसी कोई हो स्त्री, शरीरसे तो स्त्री है, मगर वेद उसका पुरुषवेद है। और नपुंसकवेद—जहाँ बहुत कायरता हो अथवा भीतरमें अधिक वासनाकी जलन हो सो नपुंसक। ये तीन वेदके जो परिणाम हैं जीव में, सो इस जीवके स्वभावसे नहीं उठे हैं, किन्तु उस-उस प्रकारके वेदकर्मका उदय है, सो ये विकार जगे हैं। यह बात इसलिए कही जा रही है कि इन वेदोंमें लगाव न रखें, क्योंकि ये औदयिक हैं, परभाव हैं। उस प्रकारके वेद कषायका, नोक्षायका उदय आया कि इस जीवने विकारपरिणाम किया। सोचो—ये वेदके जो विकार हैं ये बहुत घटिया विकार हैं। विषयसेवन के विकार पुरुषकी अभिलाषा, स्त्रीकी अभिलाषा, वासनासे संतप्त होना—ये विकार बड़े अनर्थ के विकार हैं। इन विकारोंमें किसीने कोई उन्नति पायी क्या? बुद्धि भ्रष्ट हो जाय, उससे आगे प्रकृतिबन्ध हो जाय, ये सब उसकी खराबियाँ हैं। तो जिन कषायोंके सम्बंधमें भाषण चला था, ग्रन्थकारका व्याख्यान चला था कि ये कषायें प्रीतिके योग्य नहीं हैं, ये बरबादीके

ही हेतुभूत हैं, इसी प्रकार यह विषयवासना, ये वेदके भाव ये जीवकी अवनतिको ही कारण हैं, इस जीवकी प्रकृतिके कारण हैं। तो ये तीन वेद चाहे लिङ्ग शब्दसे कहो—पुरुषलिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग, चाहे वेद शब्दसे कहो—पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद। इनका उदय होता है, ये नोकषायें हैं, इन नोकषायोंके भेदसे इस जीवके उदयसे ये विकार उत्पन्न होते हैं। जो इन विकारोंसे परे हैं सो पवित्रात्मा है।

निर्वेदभावकी पवित्रता—मुदर्शन सेठका आख्यान सुना होगा। उनका यह नियम था कि चतुर्दशीके दिन तो श्मशानमें ही नग्न होकर रात्रिभर रहना, जैसे कि साधु जन योग धारण करके आत्मसाधनामें रत रहा करते हैं। तो पवित्र आत्मा मुदर्शन सेठ, उसपर किसी रानीकी नजर पड़ गई। रानीके चित्तमें विकार आया तो किसी तरह दासियोंसे मुदर्शन सेठ को अपने घर बुलवाया और रानीने उससे वार्तालाप किया। तो वहां मुदर्शन सेठ कहता है कि माँ मैं तो नपुंसक हूँ। देखो कितना अविकारी पुरुष था वह। आखिर रानीने बहुत बहुत कहा और चेष्टा की, मगर वह अविकारी। जब रानीने अपनी इच्छाकी पूर्ति न समझी तो भट्ट हल्ला मचा दिया अपने वस्त्र फाड़ लिये हे प्राणनाथ ! दौड़ो गुंडा आ गया, मेरे वस्त्र फाड़ दिये, मेरी इज्जत लूट ली। जब राजा सामने आया तो बड़े करुण स्वरमें रानी बोली हे प्राणनाथ ! इस दुष्टने तो मेरी इज्जत बिगाड़ दी। राजाने यह बात सुनकर फौरन अपने जल्लादोंको आदेश दिया कि इस मुदर्शन सेठको तुरन्त शूलीपर चढ़ाकर फाँसी दे दो। राजा का हुक्म पाकर जल्लादोंने तुरन्त शूली सजाया। यह खबर चारों ओर फैल गई। बड़ा कौतूहल मच गया। लोग सोचते कि देखो कितना धर्मात्मा पुरुष, पर आज क्यासे क्या अनर्थ कार्य कर डाला। सो वह दृश्य देखनेके लिए अपार भीड़ जुड़ गई। राजा भी देख रहा, रानी भी देख रही, सब अपने-अपने भावोंसे देख रहे। रानी इस तरह खुश हो रही थी कि देखो इस दुष्टने मेरा कहना नहीं माना, इसलिए इसको मजा चखाया जा रहा। राजा यों खुश हो रहा था कि इसने मेरी रानीके साथ बलात्कार किया जिसका फल भोग रहा, अपार नागरिक जन यह देखने आये कि यह तो बड़ा धर्मात्मा पुरुष था, पवित्रात्मा था, पर हो क्या रहा ? सो जब वह शूलीके तख्त पर चढ़ गया और शूलीके नोकार आने ही वाला था कि देवोंने आकर उसकी रक्षा की। देवोंने अपनी मायासे उस शूलीकी जगहपर सिंहासन तैयार कर दिया। सेठ मुदर्शनकी शूलीके बजाय सिंहासनपर बैठा देखकर सभी लोग दंग रह गए, बड़े आश्चर्यमें पड़ गए। उधर रानी भी घबड़ाई, अरे मेरी तो सारी पोल-टूटी अब खुल जायगी। आखिर हुआ यही कि उस रानीकी करतूतका सारा पता सबको पड़ गया। तो जिसके तीव्र कषाय नहीं है वही तो श्रेणियोंमें चढ़ता है, बड़ी ज्ञानी पुरुष है, महात्मा पुरुष है, उसमें स्वभावदृष्टिकी प्रतीति बलवती होती है, मगर जिसको स्वभावदृष्टि नहीं है वह कहाँ जाय ? कहाँ

तो उसका चित्त रमेगा हो । तो उसका चित्त रमता है इस शरीरमें । उसे और कुछ नहीं दिखता ।

शरीरचेष्टाका रहस्य—यह शरीर है क्या चीज ? यह तो मल-मूत्रादिक गंदी चीजोंसे भरा हुआ महाघिनावना है । अभी आप लोग यहां बैठे हैं, जरा शरीरसे शरीर भिड़ जाय, पसीनासे शरीर लथपथ हो जाय तो देखो कितना बदबू करने लगता है । यह शरीर महा अपवित्र है । उर्दूमें इस शरीर शब्दका अर्थ है—बदमाश, दुष्ट । वास्तवमें यह शरीर महा दुष्ट है, यह जीवके कुछ काम नहीं आता, उल्टे ही काम आता है, इसकी बुद्धि बिगड़े, इसको उल्टी चालमें ले जाय, इसमें मोह हो तो इस जीव को क्यासे क्या विडम्बना बन जाती है ? अब देखो—इस शरीर बेचारेका क्या अपराध ? दूसरे दृष्टिकोणसे देखो, अपराध इस शरीर का नहीं, अपराध तो इस जीवका है जो अपने स्वरूपकी सुध नहीं रखता और बाहरी पदार्थों में इसका दिल दौड़ता है, अपराध तो इस जीवका है और यह अपराध भी इस जीवका स्वयं स्वभावसे नहीं उठा, उसमें निमित्त कारण है पुद्गलकर्मविपाक । तो प्रकृत बात यहां यह विचारो कि शरीरमें जान नहीं, शरीर क्या करेगा ? सब जीव ही कर रहा । सो जीव निश्चयसे देखो तो अपने भाव करता है और भाव उठते हैं, इच्छा बनती है तो जीवमें एक परिस्पंद होता है । उसका निमित्त पाकर शरीरमें हवा भरी है । वात, पित्त, कफ तो शरीरके ही कहलाते हैं, उस वातमें कम्पन हुआ और जैसी इच्छा की वैसा ही कम्पन हुआ, वैसे ही हाथ चले । तो जो शरीरसे चेष्टा होती है उसका करने वाला न जीव, न शरीर । जैसे एक ही बात बताओ—मोटर जो चलती है जिसे आप लोग देखते कि ड्राइवर चला रहा तो वहां विचार करो कि उस मोटरको वही मोटर चला रही या ड्राइवर ? यदि आप कहो कि ड्राइवर चला रहा सो यह भी गलत । मोटर तो उसे चला नहीं सकती, क्योंकि वह तो अजीब है । अब देखो ड्राइवर भी नहीं चलाता, सो कैसे ? सुनो—एक स्थूलदृष्टिसे मान लो कि ड्राइवर नाम है एक आदमीका । तो वह आदमी क्या करता है ? वह तो सिर्फ अपने मनमें इच्छा बनाता है, अपने हाथमें हाथ चलाता है, अपने पैरमें पैर चलाता है । इसके अतिरिक्त वह पुरुष कुछ नहीं करता । अब उसका निमित्त पाकर चूँकि उसके हाथके सम्बंधमें वह पुर्जा पड़ा है तो वह पुर्जा भी हिला । उस पुर्जेका निमित्त पाकर दूसरा पुर्जा हिला, फिर पहिया चला, मोटर चली । तो निश्चयसे विचारो—उस मोटरका चलाने वाला कौन ? न ड्राइवर और न मोटर । वहां हुआ क्या कि ड्राइवरके उस प्रकारके व्यापारका निमित्त पाकर पुर्जेमें हलन-चलन हुई । वही बात यहां है, शरीरमें जो चेष्टा हो रही हाथ-पैर आदिक चलानेकी, इसका करने वाला न जीव, न शरीर, पर जीवमें तो होता है भाव, उस भाव, इच्छा, योगका निमित्त पाकर शरीरमें वायु उठता है और उसका निमित्त पाकर वैसा अंग उठते हैं, परमार्थ

दृष्टिसे जब देखेंगे तो यह नजर आयगा कि जगतमें जो कुछ भी दृश्यमान है वह सब माया है, सार बात, असल बात यहाँ देखनेको मिलती ही नहीं। तो यह सब विडम्बना हो रही है और सारी विडम्बना मिट सकती है तो एक ज्ञानबलसे। आत्मा अपने स्वरूपकी सुध ले तो इसकी सारी विडम्बना समाप्त हो सकता है।

पुरुषवेद, स्त्रीवेद व नपुंसकवेद नोकषाय चारित्रमोहक वर्णन—प्रकृत छंदमें यह कह रहे हैं कि जीवमें जो पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेदके भाव होते हैं जिनका प्रकट अर्थ यह है कि पुरुषवेद—स्त्रीमें रमनेकी अभिलाषा की, यह होता है पुरुषवेदमें। स्त्रीवेद—पुरुषमें रमने की अभिलाषा होना, यह होता है स्त्रीवेदमें। नपुंसकवेद—स्त्री पुरुष दोनोंमें रमनेकी अभिलाषा होती है, यह बात जगती है नपुंसकमें तो ये सब क्या है? ये विकार ही तो हैं। हो रहे ये सब विकार नोकषायके उदयसे। देखो ये भी कषायमें शामिल हैं, पर अलगसे यों बताया गया कि इसमें कोई विलक्षण स्थिति होती है और यह बड़ा भयंकर प्रवर्तन है इसलिए इनको नोकषायोंके भेदसे अलग देखा जा रहा है कि पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद, नोकषाय नामक चारित्रमोहनीयका उदय होने पर आत्मामें इस इस प्रकारकी विडम्बना होती है। देखो जगत में इस जीवकी रक्षा करने वाला कोई नहीं है। सब अपनी-अपनी भावनाओंसे कषायोंसे, मिथ्याभावोंसे अपना-अपना जीवन खो रहे हैं। कहाँ-कहाँ उपयोग जा रहा है जड़ पदार्थोंमें ये मेरे हैं वहाँ दृष्टि दते, चेतनको दखा तो मानते कि ये मेरे हैं और हैं नहीं इसके, बल्कि अकेला केवलज्ञान स्वरूप इसका है, ज्ञान ही वैभव इसका है, ज्ञान ही साथ है, ज्ञानको ही साथ लेकर जायगा। ज्ञानको ही लिए हुए आया, कैसा भी हो ज्ञान, ज्ञानस्वरूप, इसकी अगर सच्ची सुध ले ले तो यह सब विडम्बना दूर हो जाती है। आखिर इसका भी तो अन्तर बताओ। पुरुष स्त्री सब एक तरह हैं, उनमें कोई पुरुष ब्रह्मचारी, त्यागी, जिनमें कामवासना रच नहीं, निर्ग्रन्थ हैं, मुनि हैं और कोई पुरुष ऐसे विषयाभिलाषी कि कहो चौबीसों घंटे वासना बनाये रहें। तो इतने भिन्न जीवमें जो ये भिन्न-भिन्न भाव हैं ये क्यों हो गए? उपादानका उत्तर तो यह है कि उनके ऐसी-ऐसी योग्यता है, उस-उस तरहसे परिणति हो रही है और निमित्त दृष्टिसे यह उत्तर है कि जैसे-जैसे मंद तीव्र विपाकको लिए हुए कषायोंका उदय है उसका सन्निधान पाकर इस-इस तरहके विकार हो रहे, बात दोनों सत्य हैं, उनमें से एकको भूठ कहने वाला स्वयं भूठा बन जाता है।

चारित्रमोहकर्मैतत् द्विविधं परमाणुमात् ।

आद्यं कषायमित्युक्तं नोकषायं द्वितीयकम् ॥१०७७॥

कषाय नोकषाय कर्मचौर—बारह भावनाओंमें एक दोष है—“ज्ञानदोष तप तैल भर घर सोव भ्रम छोर। या विधि बिन निरसै नहीं, पैंठे पूरब चोर।” तो पहलेसे ही ये

चोर छिपे बैठे हैं—कौनसे चोर ? कर्मचोर । वे कर्मचोर क्या हैं, किस तरहके हैं और मेरेमें कैसे पड़े हैं ? उनकी जानकारी करना एक अपने स्वरूपके परिचयके लिए बड़ा सहायक है । ये भिन्न हैं, पर हैं, मेरा इनसे क्या प्रयोजन ? जो गड़बड़ी हो रही है सो इसके विपाकमें, झलकमें हो रही है, उसमें मैं लग जाता हूं, दुःखी होता हूं । क्या है ? ८ प्रकारके कर्म होते हैं, जिनमें एक मोहनीय कर्म सबका सिरताज है । मोहनीयके दो भेद हैं—दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय । दर्शनमोहनीयका तो काम है, दृष्टि खराब कर देना, विपरीतदृष्टि कर देना । मोही शरीरको मानता है कि यह मैं हूं । कुटुम्ब परिवार चेतन अचेतन समागमको मानता है कि यह मैं हूं । बुद्धि एकदम विपरीत है, विषयोंके सेवनसे, साधनसे, भोगोपभोगसे यह मानता है कि मैं बड़ा चतुर हूं, मेरेको बड़ा सुख है, मैं बड़ा पुण्यवान हूं, यों सारी दृष्टियाँ बदल जाती हैं दर्शनमोहके उदयमें । भ्रमकी ही तो बात है ।

भ्रमका भ्रम भ्रमरूपमें परिचय—भ्रम वालेको यह पता नहीं रहता कि मैं भ्रम कर रहा, इसका पता तो दूसरे लोग रखते हैं । यदि इसे पता हो जाय कि यह तो मेरेको कोरा भ्रम है तो भ्रम रह सकता क्या ? दो बातें एक साथ नहीं होतीं—भ्रमका परिचय और भ्रमका बना रहना । जैसे कहीं दूर रस्सी पड़ी है, कुछ अंधेरासा है, और उसे कोई आदमी देख रहा है तो या तो बात यों जानेगा कि यह साँप है, बड़ा भयंकर है या यह जानेगा कि यह रस्सी है । ऐसा कोई न जानेगा कि यह साँप है यह तो मुझे भ्रम हो रहा है । यह तो भ्रमका ज्ञान है । पड़ी तो रस्सी है और मैं साँप समझ रहा हूं । ऐसा भ्रम करे और रस्सी को रस्सी समझे, भ्रम भी बनाये रहे और घबड़ाये नहीं, ये दो बातें एक साथ नहीं हो सकतीं । भ्रम करनेसे भ्रम हो ही गया और भ्रमरहित होनेसे भ्रमरहित जैसा ही होगा । भ्रम एक बहुत विकट उपद्रव है । ऐसे-ऐसे भ्रम हो जाते कि जो सही समझता है वह कह भी नहीं सकता और जो भ्रममें पड़ा है वह भी कह नहीं सकता ।

भ्रमकी एक विडम्बना कथा—कोई सेठ था, वह गरीब हो गया, पर उसको तहरीर लिखनेकी कला अच्छी आती थी । सो वह कवहरीमें बैठकर अजीनवीसीका काम करने लगा । दो-चार आने जो मिल गए बस उसीसे गुजारा कर लिया । कुछ दिन बाद वह सेठ ऊपरसे नीचे जीनेमें से आ रहा था तो सहसा आवाज आयी—मैं आऊँ ? तो सेठने कह दिया कि मत आवो, फिर आवाज आयी—मैं आऊँ ... मत आवो । जब कई दिन बाद यही आवाज आयी तो सेठने अपनी सेठानीसे सलाह की कि लक्ष्मी बार-बार कहती है कि मैं आऊँ, मैं आऊँ, तो मैं उससे क्या कह दूँ ? तो सेठानीने कहा—कह दो कि आवे तो सही, मगर आकर फिर जावे नहीं तब आ । ... ठीक है । इस बार जब लक्ष्मीने कहा—मैं आऊँ ? ... तो सेठ बोला—ह आवो तो सही, मगर आकर जावो नहीं तो आवो । तो लक्ष्मी बोली—ऐसा तो नहीं हो

सकता कि मैं आऊँ तो जाऊँ नहीं। मेरी तो ऐसी ही आदत है चलते-फिरते रहनेकी, आज यहाँ कल वहाँ, मगर तुमको हम एक सुविधा देते हैं कि जब मैं जाऊँगी तो कहकर जाऊँगी। सेठने आकर सेठानीसे बताया कि लक्ष्मीने इस बार कहा है कि आऊँगी तो जाऊँगी तो सही, मगर बताकर जाऊँगी। तो सेठानी बोली—अच्छा ठीक है, इस बार कह देना कि आ जावो। तो इस बार जब लक्ष्मी बोली—मैं आऊँ ? तो सेठ बोला—अच्छा आ जावो। बस अब क्या था, देखो यह लक्ष्मी उसी दिनसे किस तरह आती है ? देखो वह अर्जुनबीसीका काम करता था तो रानीको एक पत्र लिखानेकी जरूरत थी। राजा था अन्य देशमें, तो रानीने पत्र लिखाया उस सेठसे, और रानीने उस पत्रकी लिखाईमें उसे एक मोहर दे दी। देखो कहाँ तो चवन्नो-अठन्नीकी ही प्रतिदिन आय थी और कहाँ मोहर मिल गई उसी दिन। पत्र पहुँचा राजाके पास और उसमें लिखा मजबूत पढ़कर राजा बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने सोचा कि इस पत्रका लिखने वाला तो बड़ा बुद्धिमान मालूम होता है। कैसा उत्तम ढंगसे पत्र लिखा था कि उसे पढ़कर राजाको न हर्ष उत्पन्न हुआ, न शोक, किन्तु तुरन्त घर आनेकी इच्छा उत्पन्न हो गई। आखिर वह राजा अपने घर आया और आते ही रानीसे पूछा कि वह पत्र किसने लिखा था जो तुमने भेजा था ? तो रानीने उस सेठका नाम लिया। राजा उसपर अति प्रसन्न हुआ और उसे अपने पास बुलवाकर कहा—भाई तुम बहुत बुद्धिमान मालूम होते हो, आजसे हम तुमको अपने यहाँका मंत्री बनाते हैं। बस अब क्या था ? वह सेठ उस राजाका मंत्री बना। तो आप लोग जानते ही हैं मंत्री लोगोंकी हालत। बस जरासा उलना ही तो कहना है कि देखो इस मकानका इतना हिस्सा रुड़कमें पड़ता है, यह गिरवा दिया जायगा...तो भला बताओ कौन गिरवाना चाहता ? वह न जाने कितना क्या धन दे-डालना ? यों मंत्री लोगोंकी कमाईका क्या कहना ? विशेष क्या कहें आप सब लोग समझते ही हैं। यों थोड़े ही दिनोंमें वह सेठ मंत्री धनिक बन गया। अब देखो वह लक्ष्मी जाती किस तरह है ? एक बार वह राजा उसी मंत्रीके साथ जंगल घूमने गया। राजा थक गया, रास्तेमें एक जगह राजा विश्राम करने लगा। मंत्रीकी जंघापर सिर रखकर राजा लेट गया, कुछ निद्रासी आ गई। बस उस समय वह लक्ष्मी आयी—स्त्रीके रूपमें बोली—मैं जाती हूँ...। तो मंत्री सब सनभ गया। उधर उस मंत्री सेठने क्या कर रखा था कि सारा धन हीरा रत्न जवाहरात हंडोंमें भरकर उसे खूब अच्छी तरहसे ढाँककर अपने घरके आँगनमें गाड़ दिया था। उसको तो इस बातका गर्व था कि लक्ष्मी हमारे वशमें है, वह जा कैसे सकेगी मेरे पाससे ? सो जब लक्ष्मीने कहा—मैं जाती हूँ तो भट बोल उठा—नहीं जा सकती तू मेरे पाससे ?...मैं जातो हूँ।...अरे कह दिया कि मैं नहीं जाने दूँगा।...मैं जाती हूँ। बस लक्ष्मीकी हटभरी बात सुनकर इतना गुस्सा आता मंत्रीका कि भट तलवार खींच लिया उसे मारनेको। उसी समय राजाकी निद्रा

भग हुई, यह दृश्य देखकर राजा घबड़ा गया कि मंत्रीकी खिंची हुई तलवार मेरी गर्दनके ऊपर और फिर जंगलमें। उसकी समझमें यह आया कि मंत्रीने मुझे मारना विचारा था। उधर मंत्री भी डरकर काँप गया, सोचने लगा कि अब मैं कैसे कहूँ कि मैंने लक्ष्मीको मार के लिए तलवार उठायी थी, राजा इस बातको कहां मानने वाला है। सो मंत्री भी कुछ न बोल सका, उधर राजा भी कुछ न बोल सका, क्योंकि खुद तो मंत्रीसे कमजोर था। खैर दोनों घर पहुंचे वहाँ जाकर राजाने सेनापतिको यह आदेश दिया कि इस मंत्रीको सपरिवार तुरन्त ही मेरे राज्यसे बाहर निकाल दिया जाय। बस अब किस बात की देर? राजाज्ञा पाते ही मंत्री सपरिवार राज्यसे बाहर निकाल दिया गया। लो उस सेठकी सारी लक्ष्मी खतम। तो भ्रम की बात कह रहे कि यह भ्रम ऐसी खोटी चीज होती है कि यह बड़ेसे बड़े पुरुषको भी भ्रम पैदा कर देता है। साफ-साफ बात रहे सामने तो सब सुखी। तो मिथ्यात्वसे भ्रम होता है और चारित्र्यसे रमना होता और नोकषायमें प्रवृत्ति होती तो ये सब औदयिक विकार हैं, मेरे स्वरूप नहीं हैं, इनमें विश्वास न करें, अपने सहज चैतन्यस्वरूपमें विश्वास करें, इसकी दृष्टि ही मेरे लिए शरण है।

तत्रापि नोकषायारूपं नवधा स्वविधानतः।

हास्यो रत्यरती शोको भीर्जुगुप्सेति त्रिलिङ्गकम् ॥१०७८॥

हास्य रति नोकषायका विलास—जीवके साथ जो मोहनीय कर्म बँधा है उसके दो भेद हैं—(१) दर्शनमोहनीय और (२) चारित्रमोहनीय। दर्शनमोहनीयके उदयमें तो जीवकी दृष्टि विपरीत होती है और चारित्रमोहनीयके उदयमें जीवकी प्रवृत्ति, जीवका रमण विषयोंकी ओर होता है और उस चारित्रमोहनीयके दो भेद हैं—(१) कषायवेदनीय और (२) नोकषायवेदनीय। जिसमें कषायकी वेदना हो, अनुभवन हो उसे कहते हैं वेदनीय और नोकषाय का जहाँ वेदन हो वह है नोकषायवेदनीय। नो मायने थोड़ा। थोड़ी कषायको कहते हैं नोकषाय। भले ही नोकषायमें नो (थोड़ा) शब्द पड़ा है, मगर मुख्यतः यह ध्यान देना कि कषाय तो एक वेग लाती है और नोकषाय प्रवृत्ति लाती है। जैसे नोकषायके ६ भेद हैं—हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद। हास्यके उदयमें जीव हँसता है, मजाक करता है, वे कुछ एक जैसा मौज मानत, एक हँसी होती है ऐसी हँसनेकी प्रवृत्ति हास्य प्रकृतिके उदयसे होती है। अब यह कितना हँसता है, कैसा हँसता है—यह उस वेगके आश्रित है। अनंतानुबंधीका उदय है तो उसका वेग बड़ा विकराल है, संज्वलनमें उसका हास्य एक शोभा जैसा लगता है। रति प्रकृतिके उदयमें जीवको प्रीति उत्पन्न होती है, अनु-राग उत्पन्न होता है। पुत्रसे, मित्रसे, लोगोंसे, किसीसे जो एक प्रीतिका व्यवहार है, रति नोकषायसे होती है। अब इसकी कितनी रति है, कितना तेज प्रेम है यह कषायके वेगके आधार

पर है। अनन्तानुबंधी कषायके उदयमें एक ऐसी रति हो जाती जैसे कि कथानक है कि लक्ष्मणका रामके प्रति इतना अधिक प्रेम था कि उसकी परीक्षा लेनेके लिए देव आये। उन्होंने लक्ष्मणके सम्मुख एक ऐसी माया रच दी कि श्रीराम गुजर गए हैं और सभी रानियां हा राम, हा राम कहकर रुदन मचा रही हैं और लक्ष्मण को यह समाचार भी दे दिया कि श्री राम गुजर गए। तो श्रीरामके मरणका समाचार पाते ही लक्ष्मणके प्राणपखेरू उड़ गए। यह अनन्तानुबंधी कषायके वेगमें रतिका इतना काम है, मुनि महाराज भी रति करते हैं, जैसे शिष्योंमें प्रेम, शास्त्रमें प्रीति, इस तरहकी उनके भी रति होती है, मगर वहाँ १२ कषायें नहीं हैं। केवल संज्वलन कषाय ही है तो वहाँ रतिका ढंग और हो गया।

अरति शोक नोकषायका विलास—अरति प्रकृतिके उदयमें जीवको द्वेष होता है, विरोध जंचता है। अब इस अरतिमें एक प्रवृत्ति बन गई, मुद्रा बन गई। अब वह अरतिका काम किस ढंगका कितना होता है, यह कषायवेगके आधारपर बात है। अनन्तानुबंधी कषाय का उदय चल रहा साथमें तो उसका विरोध ऐसा होगा जैसा कि कमठने पार्श्वनाथपर विरोध किया, और भी अनेक दृष्टान्त मिलते हैं। अगले भव तकमें भी अरति करे इतनी अरति बनती है, और अरति मुनि महाराजको भी होती है। कोई शिष्यने कुछ अपराध किया तो वहाँ वे मुनिराज थोड़ा अपना मुख अरति जैसा बना ही लेते हैं, मगर उनके बारह कषायें नहीं हैं, सिर्फ संज्वलन कषाय है तो उसके वेगमें उस प्रकारकी कषाय चलती है। शोक प्रकृतिका उदय है तो रंज होता है, बड़ा चिन्तापूर्ण शोक करता है। जिसके अनन्तानुबंधीका वेग है उसके साथ शोक है तो वह इतना बड़ा शोक होता कि उसमें अपने प्राण भी गंवा देता है। और शोक मुनि महाराजके भी होता, कोई आचार्य महाराज आये हैं, उनका मिलन हुआ है, कोई जानी विशिष्ट संत मिला है, सत्संगमें रह रहे, कुछ दिन उनके साथ रहे, अब उनका विहार हो गया तो वहाँ मुनि महाराजको भी कुछ शोक होता है, मगर संज्वलनके उदयमें जिस ढंग का शोक हो सकता उतना ही होता है।

भय जुगुप्सा व तीनों वेद नोकषायक विलास—भय प्रकृतिके उदयमें भय होता है, मगर कितना भय है, किस ढंगका भय है, यह कषाय वेगसे मालूम होती है। जिस जीवके अनन्तानुबंधी कषाय चल रही है उसको तो हमेशा ही भय बना रहेगा। जैसे—पता नहीं यह मेरा धन मेरे पास रहेगा कि नहीं रहेगा, न जाने सरकार कब कैसा कानून बना दे। इस प्रकारका एक भय बना रहता है। तो अनन्तानुबंधीका जहाँ सम्बंध है वहाँ भयकी दशा बहुत बिगड़ी हुई है, और भय मुनि महाराजको भी होता—संसारका भय। मुझसे कोई ऐसा पाप न बने, ऐसी दुर्भावना न बने कि यह संसार-परम्परा बड़ जाय। इस प्रकारका थोड़ा बहुत भय मुनि महाराज भी मानते हैं। अकृत्यका भय, यह उनके भी चलता है, मगर वह भय

संज्वलन कषायके वेगमें जितना हो सकता सो होता है। जुगुप्सा, ग्लानि—किसी जीवसे ग्लानि करना, रास्तेमें जा रहे, कोई भंगी मलका टोकना लिए दिख गया रास्तेमें तो उससे ग्लानि करके कहते—ऐ रे चल, हट, अलग हो... ये कितने दुःखकारी वचन हैं। वह तो बेचारा तुमसे काफी दूर है, तुम ही खुद उससे दूर रहकर निकल जाओ और कदाचित् कहना ही पड़े तो इस तरहसे कहो—ऐ भाई साहब... जरा उधरसे निकल जाओ, तो इस तरह बोलनेमें आपका कुछ बिगाड़ता है क्या? जब कोई घृणाका कार्य होता है तो वहाँ प्रवृत्ति बन जाती है। किसी-किसी पुरुषको तो किसीके प्रति ऐसी घृणा होती कि वह ठान लेता कि मैं इसका मुख भी न देखूंगा, और उसके सामनेसे अगर वह आ रहा हो तो भट्ट अपना मुख घुमा लेगा। तो ये कषाय वेगके अनुसार घृणाके भेद हो जाते हैं। जुगुप्सा कषाय—यह मुनियोंके भी होती, मगर उनके एक बहुत सीमित होती है। कहीं समाचार मिला कि फलाने धर्मात्माने ऐसा अपराध किया तो तद्विषयक एक जुगुप्सा आयगी, मगर संज्वलन कषायमें जितना सम्भव है उतनी ही आयगी। इसी तरह पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद जिनका कि वर्णन चल रहा था, ये पुरुष स्त्री आदिकके साथ रमण करनेके भाव, जिनके अनंतानुबंधीका उदय है उनके विषयों की वासना तीव्र हो जाती है और वे अपना अहित भी नहीं देखते हैं। और जिनके बारह कषायें नहीं रहीं, केवल संज्वलन कषाय है उनके वेदकी वृत्ति नहीं होती। वेदका उदय है और तद्वर्जित एक भाँकी छापी हुई है, अबुद्धिपूर्वक उनमें कोई प्रवृत्ति नहीं बनती तो ऐसे ६ प्रकारके नोकषाय हैं। इन नोकषायोंमें भी जो विकार हैं, प्रवृत्ति हैं वे सब श्रौदयिक हैं। उसक विषयमें निर्णय रखना चाहिए कि ये मेरे स्वभावसे उठे हुए नहीं हैं।

ततश्चारित्रमोहस्य कर्मणो ह्युदयाद् ध्रुवम् ।

चारित्रस्य गुणस्यापि भावा वैभाविका अमी ॥१०७६॥

इस प्रकार चारित्रमोहनीय कर्मके उदयसे चारित्रगुणके वैभाविक भाव होते हैं तो इस जीवके ये सब विभाव हैं और अपने लिए यह दृष्टि जितनी देर रह सके, प्रतीति रात दिन रहे इससे इस जीवकी बड़ी रक्षा है, अन्य बातमें हम आपकी रक्षा नहीं है। बाहरमें अपना उपयोग किया, विकल्प मचे तो तत्काल भी क्लेश है, कर्मबंध होता है और भविष्यमें भी क्लेश होगा। क्लेश बढ़ते ही चले जाते हैं, इसलिए बाहरी पदार्थोंमें उपयोगकी धुन रखना यह तो इसकी बरबादीके लिए है। इसे तो अपने भीतर भी ऐसी सवधानी रखनी चाहिए कि एक जातादृष्टा रहनेके अतिरिक्त जो कुछ भी यहाँ भाव उमड़ते हैं प्रेमके, द्वेषके, हास्यके, डरके, विचार तृष्णा आदिकके वे सब भाव मेरे स्वरूप नहीं हैं। यह सब कर्मोदयकी भाँकी है। उनमें यह जीव लगता है, पागल हो जाता है। यह मेरा स्वरूप नहीं है, मैं तो एक चैतन्यमात्र हूँ। जिसको यह बात अधिक ध्यानमें रह वह पवित्र आत्मा है और वह संसारसे

पार हो जायगा ! एक ही काम करना है । “एक साधे सब सधे, सब साधे सब जाय” एक अपने आपके स्वभावकी साधना हो तो सारी बातें सध जायेंगी और एक स्वभावके साधनाकी बात तो ही नहीं और यह पूजा कर लिया, स्वाध्याय कर लिया, दीन दुखियोंकी सेवा कर लिया, धर्मशाला बनवा दिया……ये सब काम तो करे और एक आत्मस्वभावकी साधना न की जाय तो कुछ नहीं सधता, कुछ लाभ नहीं होता । तो उस स्वभावकी साधना बनावें । अब उस स्वभावकी साधनाके उपायमें ही तो विवाद चल रहा है । कोई कहता है कि बस ऐसा देखते जावो कि मेरी योग्यतासे हुआ है विकार और उसका नम्बर था, पर्याय उसका था, विकार हो गया, इस तरह निरखते जावो । एक दृष्टिसे यह भी बात बनती है, मगर यह बतलावो कि इस तरहकी निगाह रखनेसे विकारसे हटकर स्वभावमें लगनेका यह मौका कैसे मिलता है ? इस बातपर ध्यान दो । और जो यह प्रमुख आचार्यने उपदेशमें लिखा है कि ये जो विकारभाव हैं सो ये तेरे स्वभावके विपरीत हैं । कर्मोदय होनेसे भाँकी आती है और उससे यह जीव बिगड़ता है, बिकारमें लग जाता है ऐसा ध्यान देनेसे एक यह बात तो चित्तमें लाइयेगा ही कि यह मेरा स्वरूप नहीं है, यह सब कर्मलीला है, इससे जीवका कुछ प्रयोजन नहीं । मैं तो स्वभावरूप रहूँगा ।

सब प्रकारसे जानकारी रखकर स्वभावोपलब्धिके अनुकूल दृष्टि पानेका कर्तव्य—ज्ञान हर तरहका करना चाहिए । जितनी बातें हैं और किसी भी नयका विरोध करके कोई ऐसा एकान्त कर ले तो इसमें रास्ता न मिलेगा । सब समझ लो और स्वभावदृष्टिके लिए जिस ढंगसे मार्ग मिले वह अपनाना चाहिए । तो अपने जीवनमें करनेका एक यह काम है कि यह इसमें जागृति बने कि क्रोध आये तो उसे दबा दें—अरे यह तो मुझे दुःखी करनेको आया, यह तो कर्मरसकी चीज है । मेरा रस तो एक चैतन्यमात्र है, ज्ञानस्वभाव है, ज्ञातादृष्टापन है, मैं अपने रसमें लगूँ या कर्मरसमें । मुझे क्या पड़ी ? अचेतन पदार्थ है उनमें मैं क्यों लगूँ ? जो समझेगा कि ये परभाव हैं, नैमित्तिक हैं, वैभाविक हैं, एक जो यह बात तानकर बोली जाती है कि निमित्त कुछ नहीं करता, निमित्तसे मतलब ही नहीं, यह जो बोला जाता है, उसका प्रयोजन तो है कि जिसके यह अज्ञान छाया है कि निमित्त ही कर डालता है, निमित्तकी परिणतिसे होता है, मैं कुछ नहीं करता, सब निमित्तके ये काम हैं, ऐसा जिनको कर्ता कर्म बुद्धिका भ्रम हो गया है उनके उस भ्रम विषको दूर करनेके लिए यह बात जाननी चाहिए कि निमित्त अकिञ्चित्कर है, निमित्त उपादानमें कुछ परिणति नहीं करता, निमित्त अपने स्वरूपमें हाजिर रहता है यह बात तो ठीक है, पर यह इतनी अधिक एक औषधि दीजिए कि बस निमित्तका वहाँ प्रयोजन हो क्या है ? जीव अपनी योग्यतासे राग करता है और जिस समय राग करता है जीव उस समय निमित्त हाजिर हो जाता है, इतनी तेज

देना देनेसे क्या हो गया ? इस जीवको ऐसा विभ्रम हो गया कि स्वभावदृष्टिका पात्र नहीं रहता । एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कर्ता नहीं है, यह तो त्रिकाल सत्य है । इसमें असत्यकी बात कुछ नहीं है, मगर साथ ही यह भी तथ्य है कि जीवमें या किसी भी पदार्थमें कोई विकार होता है, विसम्बाद होता है तो परउपाधिका सन्निधान पाकर ही होता है, निमित्तके अभावमें नहीं होता । तो सच बचनसे हम स्वभावदृष्टिकी शिक्षा लें, प्रयास करें । चूँकि ये नैमित्तिक भाव हैं, मेरे स्वरूप नहीं हैं, इसलिए मैं इन विभावोंमें न लगूँ । मैं तो अपने स्वरूपमें ही तृप्त रहूँगा ।

प्रत्येकं द्विविधान्येव लिङ्गानीह निसर्गतः ।

द्रव्यभावविभेदाभ्यां सर्वज्ञाज्ञानतिक्रमात् ॥१०८०॥

प्रत्येक वेदोंकी द्विविधता—अब इस वेदके प्रकरणमें यह बात बतला रहे हैं कि ये लिङ्ग या वेद ये दो-दो प्रकारके हैं—(१) द्रव्यलिङ्ग (२) भावलिङ्ग । स्त्रीके शरीरका ढाँचा है तो वह स्त्रीलिङ्ग है, पुरुषके शरीरका ढाँचा है तो वह पुरुषलिङ्ग है । नपुंसकके शरीरका जो ढाँचा है वह नपुंसकलिङ्ग है । ये तीन द्रव्यलिङ्ग हैं, याने ये शरीरके वेद हैं और भीतरमें जो भाव बनते हैं वासनाके तो भाववेद कहलाता है । तो दो प्रकारके वेद हुए—द्रव्यवेद और भाववेद । सर्वज्ञ भगवानके उपदेशमें यह दो वेदोंका वर्णन किया गया है । अब ये दोनों वेद किसीके समान होते हैं, किसीके विषम होते हैं । विषम तो बहुत कम होते हैं, समान ज्यादा होते हैं । जैसे जो देव पुरुष है तो उसका भाव भी पुरुषवेद है और शरीर भी पुरुषवेद है । जो देवियां हैं उनका शरीर भी स्त्रीवेद है और भाव भी स्त्रीवेद है । नारकी है तो उनका शरीर भी नपुंसक है, भाव भी नपुंसक है । तिर्यञ्चोंमें भी जो वेद है शरीरका वही भाववेद है । भोगभूमिया मनुष्य हैं उनमें भी जो स्त्री है उनका द्रव्यवेद भी स्त्री और भाववेद भी स्त्री । जो पुरुष हैं उनका शरीर भी पुरुष और भाव भी पुरुष, मगर कर्मभूमिके इन मनुष्यों में हम आपमें यहाँ भेद पड़ता है । कोई शरीरसे पुरुष है, भावसे स्त्री है । कोई शरीरसे स्त्री है, भावसे पुरुष है । तो यहां जो भी बंध होता है वहाँ भावसे बन्ध होता । शरीरके वेदसे बंध नहीं होता । किन्तु जो वेद भावमें है जो कि कषायका ही भेद है, उस ही भाववेदसे जीवका बंध चलता है । तो ये तीनोंके तीनों लिङ्ग २ प्रकारके होते हैं—(१) द्रव्यलिङ्ग और (२) भावलिङ्ग । द्रव्यलिङ्ग क्या चीज है, इसके सम्बंधमें आगेका श्लोक कहते हैं—

अस्ति यन्नामकर्मकं तानारूपं च चित्रवत् ।

पौद्गलिकमचिद्रूपं स्यात्पुद्गलविपाकि यत् ॥१०८१॥

द्रव्यलिङ्गकी रचनाका निमित्त नाम कर्मविपाक—नामकर्ममें शरीर नामकर्म है, बनाम कर्मके भेदोंमें अङ्गोपाङ्ग भी एक भेद है, उसके भी भेद हैं । नामकर्मके उदयमें जिस वेदका

उदय आया, स्त्री बन गया, पुरुष बन गया, ये शरीर बन गए तो यह शरीर नामकर्मके उदय से रचना हुई है। इस सम्बन्धमें थोड़ा सिद्धान्तकी बात सुनो—जीवके जो कर्म बँधते हैं वे चार प्रकारके कर्म होते हैं। एक जीवविपाकी याने जीवविपाकी कर्मका उदय होनेसे जीवमें गड़बड़ी होती है। विकार जगता है, जीवमें उसका फल होता है। जैसे मोहनीयकर्म पूरा जीव विपाकी है। इसके अतिरिक्त अन्य भी ज्ञानावरणादिक जीवविपाकी हैं। ज्ञान कम होना, कषायें जगना, विकार होना ये जीवकी गड़बड़ियाँ हैं। तो ऐसी गड़बड़ियाँ जिस कर्मके उदयसे होतीं वह जीवविपाकी है। पुद्गल विपाकी—कर्मके उदयसे शरीरकी रचना बनती है और यह सब भावानुसार बात है। आज जो जिस शरीरको लिए हुए नजर आ रहा है, सूक्ष्म बात हम नहीं जानते, एक-एक अंगकी बात देखो—किसीकी नाक टेढ़ी है, मुख कैसा है, रंग कैसा है, हाथ कैसा है? जरा-जरासा जो फर्क है शरीरमें वैसे-वैसे कर्मके उदय हैं। जब शरीरमें यह फर्क है और वैसे-वैसे कर्मोंके बन्ध हैं, उस-उस तरहके जीवने भाव किये थे सो बँधे। जैसे कोई किसी लंगड़ेकी मजाक कर रहा तो वैसा ही कर्म बँधेगा कि अगले भवमें वह भी लंगड़ा होगा याने जो पुद्गलकर्म बँधते हैं जैसी-जैसी शरीररचना बनती है उसका भी आधार हमारा भाव है। हम जैसा भाव करें वैसा शरीर बनता है। अच्छा और भी बात देखो—ये जो खटमल होते हैं ना तो उनमें एक ऐसा कला होती है कि झट काटा और काटकर छिप जाना। यद्यपि खटमलके आँख नहीं होती, वह तीनइन्द्रिय जीव है, मगर आप उसे अगर पकड़ना चाहें तो बड़ा मुश्किल पड़ जायगा। काटकर इतना जल्दी छिप जाता है कि आपको दिख भी नहीं पाता कि कहाँ गया? और ये जो चींटियाँ हैं वे काटतीं तो चिपक जातीं, जहाँकी तहाँ रेंगती दिखाई पड़तीं, पर खटमल नहीं दिखाई पड़ता। तो मालूम होता है कि यहाँ जो जब कतरने वाले लोग हैं वे मरकर खटमल बनते हैं (हँसी) याने शरीररचना कितनी विचित्र होती है तो जैसे-जैसे जीव भाव करता है उसके अनुसार वैसे ही पुद्गलविपाकी कर्म बँधते हैं और उनके उदयमें वैसा शरीर मिलता है। तो पुद्गलविपाकी नाम है जिसके उदयसे शरीरकी रचना हुई। कोई भवविपाकी कर्म है जिसके उदयसे क्या कार्य होता कि जीव उस भवके उस शरीरमें रुका रहे, यह आयुकर्म है। क्षेत्रविपाकी होता जिसका फल है कि मरने के बाद दूसरी जगह जन्ममें तो रास्तेमें जीवको ले जाय, उससे गति होती है। गमन हुआ पहुँच गया, यह क्षेत्रविपाकी कार्य करता है, तो इन पुद्गलविपाकी कर्मोंमें है यह भाववेद, जिससे स्त्री शरीरकी रचना बनती, पुरुष शरीरकी रचना बनती और नपुंसक शरीरकी रचना बनती। तो ये चिह्न हैं वेद, ये द्रव्यलिङ्ग पौद्गलिक हैं, अचेतन हैं, ये पुद्गलविपाकी हैं, इसीको और खुलासा करते हैं।

अङ्गोपाङ्गं शरीरं च तद्भेदौ स्तोऽप्यभेदवत् ।

तद्विपाकात् त्रिलिङ्गानामाकाराः संभवन्ति च ॥१०८२॥

अङ्गोपाङ्गनामकर्म व शरीरनामकर्मके उदयसे द्रव्यलिङ्गकी रचना—अङ्गोपाङ्ग नामकर्म, शरीरनामकर्म, ये नामकर्मके भेद हैं। उनका जो उदय होता है, विपाक होता है तो पुरुष, स्त्री और नपुंसक इन तीन द्रव्योंरूप वेदकी रचना होती है। एकेन्द्रियसे लेकर चार-इन्द्रिय तकके जितने जीव हैं वे सबके सब नपुंसक हैं। वैज्ञानिक लोगोंका भ्रम है कि पेड़ दो तरहके होते हैं—(१) नर और (२) मादा। वहांसे उठाकर फूल वहां धरे भंवरा जो नय फूल पैदा होते, मान लो ऐसा हो तो भी वहां नर-मादा लो बात नहीं है, सम्मूर्च्छनकी बात है। ऐसा संयोग मिलनेपर इस तरहकी वनस्पति पैदा हो गई। चींटियोंके मुख। अंडे भी लिख गए तो वहां लोग कहने लगते कि ये अंडे हैं और इनसे चींटियां पैदा होनीं। तो मान लो वैसा हो भी और पैदा भी हों, फिर भी वे गर्भ वाले नहीं हैं। ये कोई दो स्त्री पुरुष नहीं हैं। कुछ यहां कहांके पदार्थोंका संयोग होता है तो उनसे शरीरकी रचना बन जाती है। तो एक इन्द्रियसे लेकर चारइन्द्रिय तक सब नपुंसक हैं। पंचेन्द्रिय : पर्याप्त, अपर्याप्त ये अपर्याप्त (लब्ध्य-पर्याप्त) सब नपुंसक। जितने नास्की जीव हैं वे सब नपुंसक और इनके अतिरिक्त ओरोमें भी नपुंसक। पुरुषवेद और स्त्रीवेद ये पञ्चेन्द्रियमें ही होते हैं शरीरसे भी और भावसे भी, अन्य में नहीं होते। तो यह है रचना। शरीरकी रचना उस-उस प्रकारके अङ्गोपाङ्ग नामकर्मके उदयसे होती है। तो ये द्रव्यलिङ्ग अचेतन हैं, इनसे कहीं कर्म नहीं बँधता, किन्तु भीतरमें जो वासना है, वेद है उससे कर्मबंध होता है। वह विकारी है, औदयिक है, शरीरका भी लिङ्ग औदयिक है, यह मेरा स्वरूप नहीं है। इससे निराला मैं ज्ञानमान अन्तस्तत्त्व हूँ, यह भेद-भावना होनी चाहिए और स्वरूपदृष्टिके प्रति अपनी परिणति, अपनी कोशिश होनी चाहिए।

त्रिलिङ्गाकारसम्पत्तिः कार्यं तन्नामकर्मणः ।

नास्ति तद्भावलिङ्गेषु मनागपि करिष्णुता ॥१०८३॥

निमित्तनैमित्तिक भावके यथाथ परिचयसे विभावकी हेयताका प्रतिबोध—यहाँ औदयिक भावका प्रसंग चल रहा है, विसलिए चल रहा कि इसको स्वभावदृष्टिका रास्ता मिले। जिन औदयिक भावोंमें यह जीव लीन रहा करता है जहाँ अपना सर्वस्व मान रखा, उसके हो कर्ताभोक्तापनमें रहा करता है उसकी असारता समझना, हेयता समझना, पोल समझना यह बहुत आवश्यक है, क्योंकि असारता, हेयता पोल रूप समझे बिना उससे हटाव कैसे बनेगा? तो उसकी एक सामान्य रेखा यह बतलाई कि चारित्र्यमोहनीयकर्मका उदय हुआ और उस विपाकका इस जीवके उपयोगमें फलक हुई, प्रतिक्रियन हुआ और इस जीवने उस प्रतिफलनमें अपनेको लगा दिया, वहाँ यह मान होने लगा, उसे ही सर्वस्व मानने लगा, यह विधि बन

रही थी इस अज्ञानीको । वहाँ कोई यह समझे कि यह तो कर्मभार है, कर्मलोला है, बोझ है, उसके स्वरूपपर यह कलंक मिथ्या है, मैं तो सहज निरपेक्ष चैतन्यस्वभावमात्र हूँ । ये तो नैमित्तिक हैं, वैभाविक हैं, परभाव हैं, हेय हैं, मेरे दुःखके लिए हैं । आगामी कालमें दुःख मिलता रहे, एतदर्थ है, ये रम्य नहीं हैं, यह बात समझते हैं न, तो उसी प्रसंगमें यहाँ वेदकी बर्चा चल रही है कि वेद दो प्रकारके हैं, एक तो शरीरका लिङ्ग स्त्रीलिङ्ग, पुल्लिङ्ग, नपुंसक-लिङ्ग और एक भावका लिङ्ग मायने पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद याने अनुभव होना । वासना, भावना, उस तरहकी कषाय होना, मैथुन अभिलाषा होना । ये दो प्रकारकी बातें श्रौदयिक हैं अर्थात् ये दोनों ही चीजें स्वाभाविक नहीं हैं । शरीरके चिह्न बन गए, पुरुष, स्त्री, नपुंसक बन गए, यह भी कोई स्वभावकी चीज नहीं और आत्माके उपयोगमें अभिलाषायें जगें, कामवासना जगे यह भी स्वभावकी चीज नहीं, किन्तु श्रौदयिक है । तो शरीरका चिह्न कैसे होता है ? अङ्गोपाङ्ग नामकर्म और शरीर नामकर्मके उदयका निमित्त पाकर रचना बनती है आहारवर्गणामें । वहाँ सब अङ्ग उपाङ्ग बन जाते हैं । और भाववेद—यह पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद नामके चारित्र्यमोहनीय कर्मके उदयका निमित्त पाकर बनता है । यह उसके निरपेक्षतया उसके स्वभावतः उठा हुआ नहीं है, यह मेरी वस्तु नहीं है, यह कर्मरस है, कर्मकी ओर जावो । मैं चैतन्यरस हूँ, मैं अपने चित्स्वरूपकी ओर ही जाऊँगा, ऐसे स्वभावदृष्टिके प्रयोजनसे समस्त उपदेश हुआ करते हैं ।

स्वभावमें आत्मत्वबुद्धिका प्रभाव—देखो अपने-अपने लाभकी बात, अपनी भलाईके लिए, अपनी शान्तिके लिए बात सोचना है । मैं क्या हूँ ? उपयोगस्वरूप, प्रतिभासमात्र, जिसकी दो विधियाँ हैं, खुद भी प्रतिभासे, बाह्य पदार्थोंकी भी प्रतिभासे । जैसे दर्पणमें खुदमें झिलमिलाहट है और बाह्य पदार्थ सामने हो, उसका फोटो भी आये, उसकी भी उस दर्पणमें करामात है तो जैसे दर्पणमें खुदमें झिलमिलाहट और फोटोका आना ये दो बातें होती हैं, इसी प्रकार इस आत्मामें, इस उपयोगमें खुदमें प्रतिभास (झिलमिलाहट), बाह्य पदार्थोंकी जानकारी होना, ये दो बातें आया करती हैं । बाह्य पदार्थोंकी जानकारी होती है, इसमें तो सन्देह किसी को नहीं है । ये सब ज्ञानमें ज्ञात हो रहे हैं, बाहरी पदार्थ झलकते हैं, यह सब तो सुगमतया ज्ञानमें आ गया, परन्तु खुदकी भी कोई झिलमिल है । यह जरा समझना कठिन है, लेकिन युक्तिसे देखना, दर्पणमें यदि खुदकी स्वच्छता, खुदका ही एक अन्तर प्रकाश, स्वच्छता नहीं है तो उसमें फोटो भी नहीं आ सकती । जैसे भीतमें खुदकी स्वच्छता नहीं है, झिलमिलाहट नहीं है तो वहाँ किसीका फोटो भी नहीं झलकता, ऐसे ही आत्मामें यदि खुदकी झिलमिलाहट नहीं है, स्वयं प्रतिभासस्वरूप नहीं है, खुदकी स्वच्छता नहीं है तो यहाँ ज्ञेयाकार भी नहीं बन सकता । इस कृते हैं दर्शन और ज्ञान । यह है स्वभाव, इसका जो परिणामन होता,

परिणति होती वह तो पर्याय है, मगर इसकी जो शक्ति है, जो अनादि अनन्त है वह है ज्ञानदर्शनस्वभाव । इस स्वभावकी जिन्होंने दृष्टि पायी, मैं यह हूँ—इतनीसी बात जिन्होंने पायी उनका भला हुआ और जिन्होंने अपने सहजस्वरूपका परिचय नहीं पाया उनके भीतर क्या गुजरेगा ? बाह्य पदार्थोंकी ओर ही उपयोग रहेगा, बाह्य पदार्थोंमें ही इसका विकल्प रहेगा, डोलता रहेगा, आकुलित रहेगा, कर्मबन्ध भी होता ही रहेगा, संसारपम्परा चलेगी, उसका भला कैसे होगा ? तो अपनी भलाई किसमें है ? चूंकि हम उपयोग वाले हैं, सो यह बात तो कभी मिट नहीं सकती । हमारा उपयोग तो किसी न किसीमें रहेगा ही, निरन्तर रहेगा । अब बाह्यमें उपयोग है, बाह्यमें रागद्वेष सहित दृष्टि है तो यह ना है हमारे क्लेशकी बात और अपना जो सहजस्वरूप है ज्ञानमात्र, चैतन्यमात्र, यह हूँ मैं, इस प्रकारका प्रत्यय हो, ऐसी अपने आपमें दृष्टि जगो तो आत्मकल्याण है । कैसे कि जिस समय स्वभावदृष्टि बन रही है उस समय भी शान्ति है और उसके प्रतापसे भव-भवके बाँधे हुए कर्मोंसे निर्जरा भी हो रही है और ऐसा आत्मसंस्कार बन रहा है कि भविष्यमें भी आनन्द रहेगा और निकट कालमें कर्मसे, शरीरसे, विभावसे, सबसे मुक्ति पाकर अनन्तकालके लिए आनन्दमय हो जायगा ।

स्वभावदृष्टिका साधन वस्तुस्वभावपरिज्ञान व विभावोंकी असारताका परिचय—स्वभावदृष्टि कैसे बने ? वस्तुका स्वरूप जानें और विभावोंकी पोल जानें । स्वभावदृष्टि असहयोग और सत्याग्रहसे बनेगी । असहयोग करना है विभावोंसे । जरा कुछ चिन्तन करें, सब बात स्पष्ट होगी । इन चर्मचक्षुओंको बंद करके अपने आपमें अपनी बातको जरा देखें । कौन नहीं जानता अपनी बात कि मैं कैसे भावमें हूँ, मेरा क्या परिणाम हो रहा, मेरा किस जगह चित्त है, मैं किसका बुरा विचार रहा, जिसकी प्रीतिमें जा रहा ? तृष्णामें जा रहा, धन-सम्पदामें जा रहा, मेरे चित्तमें क्या-क्या है, यह कौन नहीं जानता ? एक दूसरेकी न जानेंगे, पर अपने आपकी खूब समझ हर एकके ज्ञानमें है कि मेरा उपयोग क्या बन रहा ? बस जानो और यह निर्णय रखो कि जो कुछ यह हो रहा है यह सब अपवित्रता है, गंदगी है, किता दूसरेकी उपाधिका प्रतिफल है, यह मेरा स्वरूप नहीं है । स्वरूपसे मैं डिग गया, मैं ज्ञानविकल्प करने लगा, बस यह जब विपरिणमन हो रहा है तो इन विभावोंमें जुटनेमें, विभावरूप अपनेको आप माननेमें मेरा कल्याण नहीं, बुराई है । इसलिए औदयिक भाव जानकर इससे हटें । द्रव्यलिङ्ग व भावलिङ्ग औदयिक भाव ये दोनों ही हैं । शरीरक चित्त, शरीरका निर्माण और भीतरमें कामवासना, वेदका वेदन ये दोनों औदयिक हैं, मेरा स्वरूप नहीं हैं । तो यह जो शरीरमें तीन वेदोंके आकाररूप जो निर्माण है वह तो नामकर्मका कार्य है सो नामकर्मका भाववेदके बारेमें रंच भी करामात नहीं है । पुद्गलविपाकी कर्म इस शरीरनिर्माणके निमित्त है और जीवविपाकी कर्म इस जीवके विभावांशों में नामकर्म का कार्य है ।

गाथा १०८३

स्तिक भावको यथार्थ समझना, फिर कर्ताकर्मत्व की बुद्धि जगे तो स्वभावदृष्टि न मिलेगी और स्वयं सहज निरपेक्ष विभाव बन गए आत्मा में, ऐसी दृष्टि बने तो स्वभावदृष्टि मिलेगी।

पदार्थों में परस्पर निमित्तनैमित्तिक भावकी संभवता व कर्तृकर्मत्वकी असंभवताके परिचय में सन्मार्गदर्शन—आर्षपरम्परामें जो एक बड़ी आसानीसे सुगम रीतिसे वर्णन चला आ रहा है उसका प्रयोग करें। यदि ऐसा मान लिया जाय कि कर्म ही जीवका राग कराता है याने यह जीव रागरूप न परिणामा किन्तु यह सब कर्मकी ही करायात है, कर्म ही इस तरह बन रहा। जीवको रागी कर्म बनाता है तब भैया! अपना क्या वश है? कर्म कर रहा है, यह हट ही नहीं सकता। कर्मकी मर्जी हो, न करे राग, तो उसकी क्यों मर्जी हो? कर्म तो अपना कुल बढ़ायेगा राग हटानेका, फिर वहाँ कोई मार्ग न मिलेगा कर्ता कर्मबुद्धि में और ऐसा सोचा जाय कि मैं आत्मा हूँ, मेरे होते रहते हैं तब जो राग हुआ सो हो गया, चल रहा है, उसमें पर-उपाधि कुछ नहीं, उसका मानना ही बेकार और अगर कोई जबरदस्ती कराये, मनाये तो यों मान लें कि जब जीव राग करता है तो कर्मका उदय सामने आता है। अरे तो इसमें और उल्टी बात बन गई कि जीवका राग करना हुआ निमित्त और कर्मका राग करना हुआ नैमित्तिक। जो आर्षग्रन्थों में कहीं नहीं लिखा हुआ है, न कभी किसीके दिमागमें ऐसी उपज बनी है तो यदि ऐसा माना जाय कि जो जीवमें अपने आप ही रागद्वेष पर्यायें चलती रहती हैं उसमें उपाधि और निमित्त माननेकी कोई जरूरत नहीं है। तो स्वभावदृष्टि कैसे करें, मेरेमें चलती है, अपने आप चलती है। चलेगी सो चलेगी, मेरी स्वभावदृष्टि नहीं बनती और जब यह मान लिया कि जितने विभाव होते हैं वे कर्मोदयका निमित्त पाकर होते हैं और उस समयमें यह जीव अपने उपयोगमें, ज्ञानमें उस तरहका विकल्प मचाता है। देखिये यहाँ यह स्वभावदृष्टिका मौका मिला कि ये क्रोध, मान, माया, लोभ परिणाम—ये मेरे कुछ हैं ही नहीं। ये सब कर्मके विपाक हैं। तो उस कालमें चूँकि उपयोग है, प्रतिफलित होता है और मैं स्वरूपसे चिग जाता हूँ और उनमें लग बैठता हूँ, क्यों चिगूँ स्वरूपसे क्यों न जानूँ ऐसा कि यह कर्मरस है, कर्मलीला है, कर्मभाव है, यह उनकी छाया है। मैं इसमें क्यों विकल्प बनाऊँ? मैं तो अपने चैतन्य रसमें ही मग्न होऊँगा, क्यों बखेड़ा बनाऊँ? सार कुछ नहीं है, दूसरेका ऊधम है। मैं इसमें क्यों अपने जीवनके क्षण व्यर्थ खोऊँ? स्वभावदृष्टिका अवसर मिलता है। वहाँ अपने आपके सहजस्वरूपपर दृष्टि है तब ही तो विभावोंको परभाव कह सक रहे हैं। अगर निज सहजस्वभाव परिचयमें न हो तो क्रौधादिक को विभाव कैसे कहा जा सकेगा और क्रौधादिक विभाव हैं, ऐसी जानकरी बन रही है तब ही हम उससे निराले स्वभावकी जानकारीमें पहुँचते हैं और जरूरत भी अपने स्वभावदृष्टि की है।

आत्मरक्षणभावना—आऊँ उत हूँ रम लूँ निजमें—कहाँ गया यह उपवोग जिससे इसे बुला रहे । उपयोग तो जीव प्रदेशमें है, मगर यह तो बाहर नहीं जाता, किन-किन पदार्थोंको बिषय कर रहा है और उसके कारण इस भाषामें आपसमझिये कि यह उपयोग न जाने कहाँ कहाँ दौड़ रहा है, कहाँ कहाँ भाग रहा है ? है प्रदेशोंमें ही, मगर गति अर्थकी जितनी धातुवें हैं संस्कृतमें उनका जानना भी अर्थ है और गमन करना भी अर्थ है । तो यह इस तरहसे समझनेके लिए उपयोग बहुत-बहुत दूर तक भाग गया । विषयोंमें जड़ चेतन अन्य पदार्थोंमें इज्जतमें, न जाने कहाँ कहाँ भागा, सो कहता है कि आऊँ मैं अब न भागूँ, भागा तो लौट कर आया । कहाँ ? खुदमें । उतहूँ, आ गया मैं उपयोग यहाँ बाह्यपदार्थोंसे हटकर, तो अब मैं अपने स्वरूपमें उतहूँ, स्वरूप की जानकारी बनाऊँ, मैं यह हूँ प्रौर रम जाऊँ और उसही में मग्न हो जाऊँ, यह काम कठिन तो जरा भी नहीं है । कोई मनमें एक दृढ़ता लाये और एक पक्का प्रोग्राम बना ले कि मुझे तो यह ही करना है, मेरा बाहरमें कुछ काम ही नहीं, उसके लिए कोई कठिन नहीं, क्योंकि "निजकी निजमें दुविधा ही क्या ? जो निजका काम है उस निजके कामके करनेमें जो किसी दूसरे करणको नहीं चाहता । बन्धन किसी अन्य पदार्थ को परिणतिसे नहीं होता, उसमें किसी भी पदार्थकी अपेक्षा नहीं होती धर्ममें । जो धर्म वास्तविक है अर्थात् आत्माके सहजस्वरूपका श्रद्धान, उसका ज्ञान, उसमें आचरण, उसमें रमण इस प्रकारका काम क्या शरीर कर देगा, क्या बच्चे कर देंगे, क्या वैभव कर देगा या इसका यह विचार तर्क कर देगा । वह तो जब होगा तो एक निर्विकल्प जैसी स्थिति होकर अनुभवमें अपने आप होगा । वह निरपेक्ष चीज है धर्मपालन, मगर इतना निरपेक्ष धर्मस्वरूप नहीं मिला और मिल भी गया तो नहीं टिकता है ऐसा तो अब क्या करना ? तब धर्मसे सम्बन्धित जितनी चीजें हैं उनकी भक्ति, उनका राग, उनकी सेवा, उनका संग, इनमें उसका समय गुजरता है । दो ही तो बातें हैं निरपेक्ष धर्मपालन करना न बन सके तो उस, निरपेक्ष धर्मसे सम्बन्धित जो साधन हैं उन साधनोंमें लग जावें ताकि पापमें न लगें, व्यसनमें न लगें, उद्दण्डतामें न लगें, स्वच्छन्दतामें न लगें याने मतमें मनमानी विषयप्रवृत्तिके काम न बनें, यह बात बनती है धर्मका परिचय पाने वाले जीवमें ।

विकारोंका यह सब प्रसंग चल रहा है कि शरीरमें जो त्रिलिङ्गाकार है वह तो नाम कर्मके उदयसे हुआ और आत्मामें जो कामवासना अभिलाषा आदिक हैं ये चारित्रमोहनीय कर्मके उदयसे हुए । कर्मने खुद परिणति कर दी हो जीवके रागादिरूप ऐसा तो नहीं है, क्यों कि ऐसा होने पर तो इसकी मुक्तिका कोई अवसर ही नहीं । कर्ताकर्मबुद्धि बन गई । कर्ता कर्मत्व एक पदार्थका दूसरे पदार्थमें त्रिकाल नहीं है, इसमें तो कभी भी शक न होना चाहिए नहीं तो वस्तुकी सत्ता ही न रहेगी । एक पदार्थ अगर दूसरे पदार्थरूप परिणाम जाय अर्थात्

दूसरेका कार्य कर दे तो अब बतलावो कि यह एक प्रथम रहा या द्वितीय ? सब रूप हो जायगा, जगतका उच्छेद हो जायगा । सो एक वस्तुका दूसरी वस्तुमें कर्ता कर्मत्वकी बत त्रिकाल भी नहीं है । मगर निमित्तनैमित्तिक भाव विकारमें सदा चलेगा । वहाँ यह कभी न होगा कि उस निमित्तकी अनुपस्थितिमें विकार जग जाय । अगर एक ही पदार्थ है तो वह अपने स्वभाव रूप ही परिणमेगा । वहाँ विसमता आ नहीं सकती । जिससे विसमता आती । परपदार्थका सन्निधान पाकर आती है । अब इस तरहका एक जानमें एक स्वभावदर्शनका बड़ा अवसर है और यों समझिये कि उसे इतना सुगम है स्वभावदर्शन कि सारे विभावोंको कर्म-भार मानकर, जानकर, समझकर कि औपाधिक हैं, ये मेरी चीज नहीं हैं, उनमें मैं क्यों लगूँ ? मेरा उसमें काम क्या ? मेरी उसमें करतूत क्या ? और करतूत हो रही है तो बस विकल्पात्मक परिचय कर मैं अपनेको बरबाद कर रहा हूँ ।

स्वभावविकासकी भक्तिका महत्त्व—स्वभाव जहाँ पूर्ण प्रकट हो गया है वे अरहंत और सिद्ध हैं, जिनमें स्वभावका आनन्द जगा । यहाँ ज्ञानी जीव स्वभावका आनन्द अनुभवने में नहीं रह पा रहा तो स्वभावआनन्द जहाँ बिल्कुल विशुद्ध प्रकट हुआ है उसमें उसका बहुमान जगेगा, भक्ति जगेगी, अनुराग जगेगा । प्रभुभक्ति—अब तक तो हम प्रभुभक्तिके सही पात्र ही नहीं बन पा रहे । प्रभुभक्ति ढंगसे स्वभावपरिचयपूर्वक हो तो उस प्रभुभक्तिके आनन्द का भी कोई ठिकाना नहीं । जिस स्वभावको हम चाह रहे हैं देखो वह यहाँ प्रकट है, जिस स्वभावका हमने परिचय किया, जिस स्वभावका आश्रय करके ही हम पार होंगे, देखो देखो यह प्रकट है, अहा उस ओर दृष्टि जायगी प्रभुभक्ति की । एकीभाव स्तोत्रमें बताया है कि शुद्धे ज्ञाने शुचिति चरिते सत्यपि त्वय्यनीचा भक्तिर्नोचेदनवविमुखावञ्चिका काञ्चिकेयं । शक्यो-द्वघाटं भवति हि कथं मुक्तिकामस्य पुंसो मुक्तिद्वारं परिहृदमहामोहमुद्राकवाटम् । शुद्ध ज्ञान भी हो जाय, शुद्ध चारित्र्य भी हो जाय, पर हे प्रभु तुम्हारे स्वरूपमें जब तक तीव्र भक्ति नहीं जगती है तब तक मोक्षका द्वार जो मोहकिवाड़ने बंद कर रखा है, ताला लगा रखा है उसके खोलनेकी कुञ्जी तो प्रभुभक्ति है, और वह जिसे मिलती नहीं है वह क्या मुक्ति पावेगा ? हम आप भक्ति तो करते हैं प्रभुकी, पर सच्चे दिलसे अगर प्रभुस्वरूपमें हमारी भक्ति न पहुँचे तो हम समझ लो कि अभी हम अपनी उन्नतिके मार्गसे गिरे हुए हैं । अभी तो हम प्रभुभक्तिके भी पात्र नहीं बन पाये, आगेका मोक्षमार्ग तो हमारा बनेगा ही क्या ? मोक्षका मार्ग है स्वभावपरिचय । और जिसके स्वभावपरिचय है तो जहाँ स्वभावविकास है उस देवमें इसी अनूठी भक्ति है और उस स्वभावका विकास करनेका जिसने लक्ष्य बनाया है और इस लक्ष्य में जो अपने क्षयोपशमके अनुसार जितनी कषायें मंद हुईं उसके अनुसार बाह्य पदार्थोंका त्याग करना, एक त्यागमार्गमें आकर अपने उस अध्यात्मस्वभावकी साधना बना रहा है तो स्वभाव-

परिचय वाला जैसे स्वभावविकासको देखकर उमंगसे वहाँ जाना, इसी तरह स्वभावविकासका प्रयत्न करने वालेको देखकर उनके पास भी उमंग सेवा, पुण्य सत्संगमें अपना उपयोग लगाता है। स्वभावदर्शन जिसको नहीं मिला है उसे अंधकार है और वह नाना कल्पनायें करके कितनी ही कल्पनायें बनाता है, वह खुद अंधेरेमें है। जिसको स्वभावपरिचय हुआ है उसे अंधेरा नहीं रहता, सब जगह स्पष्ट बात रहती है। तो प्रकरण चल रहा है वेदका। पहले मिथ्यात्वका, दर्शनमोहका, चारित्रमोहका वर्णन किया, उस चारित्रमोहका ही वेद नोकषाय है, उनमें वेदों का वर्णन चल रहा है।

भाववेदेषु चारित्रमोहकर्माशकोदयः ।

कारणं नूनमेकं स्यान्नेतरस्योदयः क्वचित् ॥१०८४॥

भाववेदमें चारित्रमोहनीय विपाककी निमित्तरूपता—जीवके शरीरके जो लिङ्ग बने—पुरुष, स्त्री, नपुंसक जो शरीरके ढांचा बने उनमें कारण है नामकर्मका उदय। वहाँ उन नामकर्मोंका भाव वेदोंमें निमित्तपना नहीं है, ऐसे ही जो आत्मामें कामवासनाविषयक भाव वेदविकार भलकता है सो उनमें कारण है चारित्रमोहनीयकर्मका उदय। जितने-जितने अंशमें उदय है, उतने-उतने अंशमें यह प्रतिफलन है और जैसा इसका अज्ञान है, जैसा जो भीतरमें एक ज्ञानबलकी बात है उसके होने न होनेके अनुसार उस प्रतिफलनमें यह जीव लग जाता है। तो भाववेदोंमें कारण कौन है? चारित्रमोहका उदय। तो उस भाववेदोंमें कारण चारित्रमोहका उदय है, दूसरेका उदय भाववेदका कारण नहीं है। मूलमें वस्तुतः आत्मा एक है और वह अपने स्वभावरूप है, किन्तु अनादिसे ही ऐसा बंधन है। कैसा अनादिसे बन्धन है? अच्छा तो किस दिनसे बन्धन हुआ? जिस दिनसे बन्धन हुआ उसमें कारण आप न बता सकेंगे कि क्या कारण है? पहले जीव शुद्ध था और किसी दिनसे इस जीवमें विकार आया तो कारण बतलाओ किस कारणसे विकार आया? तो कारण यद्यपि कर्मोदय है, मगर उस दिनसे ही विकार शुरू हुआ इसका कारण नहीं बता सकते। विकारका कारण तो है कर्मविपाक, मगर पहले विकार था ही नहीं, विकार आत्मामें आया, उस दिन विकार आया उसका कारण नहीं कहा जा सकता। वे कारण दोनों परस्परमें एक दूसरेके निमित्तनैमित्तिक भावमें हैं और ये परम्परया जबसे सत्त्व है तब ही से चलते आ रहे हैं, अनादिसे।

अनादिपरम्परागत विभावसंततिके उच्छेदकी शक्यता—शंका—जो अनादिसे चला आ रहा हो उसको मिटाया जा सकता क्या? उत्तर—हाँ मिटाया जा सकता? तिलमें तेल कबसे है? जबसे तिल है तबसे तेल है। कहीं ऐसा नहीं है कि पहले तिलका दाना बना हो बादमें उसमें तेल भरा गया हो। अरे वह तो जरासा दाना आया तबसे ही उसमें तेलका सम्बंध है। तो तिलके सत्त्वके समयसे ही तेलका सम्बंध है, फिर भी उपाय द्वारा उसमेंसे

गाथा १०८६

तेल निकल जाता, फोक अलग हो जाता, ऐसे ही अनादिसे यह विकार प्रसंग चल रहा है। कर्मविपाकका निमित्त पाकर, रागद्वेषका निमित्त पाकर कर्मबन्धन हुआ। दोनों चीजें हैं, दोनों स्वतंत्र हैं, दोनोंका अपना-अपना कार्य है, मगर परस्पर निमित्तनैमित्तिक भाव है अन्यथा इसमें विकार नहीं हो सकता। हो रहा है, चल रहा है, मगर मिट सकता क्या? हाँ, जिस क्षणमें सच्चा ज्ञान जग गया कि ये पदार्थ दो हैं—स्वतंत्र सत्ता रखने वाले हैं और वहाँ इस-इस ढंगसे ये विकार उत्पन्न होते हैं, जहाँ उसका स्वतंत्र स्वभाव ज्ञानमें आया उसके बाद जो परम उपेक्षा बनती है और स्वभाव ही और इसका प्रवेश बनता है तो उस अद्भुत कलाके प्रतापसे कर्म, नोकर्म, विभाव ये सब दूर हो जाते, ये बिखर जाते, केवल एक ज्ञानमात्र आत्मा रह जाता। उसीको कहते हैं सिद्ध। तो मिली हुई सम्पदामें, उन विषयसाधनोंमें रति न करें, ये रम्य नहीं हैं, ये विडम्बना हैं, और अपनेमें प्रतिफलित हुए उन कल्मषोंसे भी अपने को जुदा समझिये। मैं चैतन्यरस निर्भर हूँ, ऐसा अपने आपमें आश्वासन हो वहाँ ही अपना उपयोग चले, धुन बने तो अपना शान्तिका मार्ग स्पष्ट है। अवश्य ही निकटकालमें हम सदाके लिए संतोंसे छूट जायेंगे।

रिरंसा द्रव्यनारीणां पुंवेदस्योदयात् कि०।।

नारीवेदोदयाद्वेदः पुंसां भोगाभिलाषिता॥१०८५॥

नालं भोगाय नारीणां नापि पुंसामशक्तिः।

अन्तर्दग्धोऽस्ति यो भावः क्लीबवेदोदयादिव॥१०८६॥

वेद नोकषाय चारित्रमोहनीयके कार्य—वेद नोकषाय नामक चारित्रमोहके उदयमें क्या कार्य होता है? इसका इन दो छंदोंमें वर्णन है। पुरुषवेदके उदयसे तो द्रव्य स्त्रीके साथ रमण करनेकी बाञ्छा होती है, बाञ्छा ही तो विकार है और यह विकार पुरुष वेदके उदय से होता है। स्त्रीवेदके उदयसे पुरुषके साथ भोग करनेकी अभिलाषा होती है। यह काम-विकार स्त्रीवेद प्रकृतिके उदयसे होता है और नपुंसकवेदके उदयसे वह पुरुष स्त्री दोनोंसे रमण करनेकी बाञ्छा रखता है, सो वह न स्त्रीके साथ ही भोग करनेमें समर्थ है और न पुरुषोंके साथ ही भोग करनेमें समर्थ है। एक हृदयमें जलन जलन ही मचाये रहते हैं। ऐसा कठिन काम भाव नपुंसकवेदके उदयसे होता है। जैसे ईंटकी आग वह धधकती रहती है, जल्दी नहीं बुझती है, ऐसे ही नपुंसकवेदके उदयसे होने वाली कामवासनाका भाव एक संताप ही पैदा करता है, किन्तु उसे प्रवृत्तिमें नहीं ला सकता है। केवल हृदयमें जलन जलन ही हुआ करती है। ये वेद चारित्रमोहके भेद हैं। इनके उदयका जो प्रतिफलन होता है वह इस जातिका विकार है कि उसके लगावमें कामवासनाविषयक अभिलाषायें जगतो हैं, ऐसा यह तो नोकषाय प्रकट विकारनाव है, यह नैमित्तिक है, आत्माका स्वभाव नहीं है। ऐसा निर्गम

करके इन गंदगियोंसे उपेक्षा करनी और निज सहजस्वभावमें उपयोग लगाना यह ही एक कुशलता है ।

द्रव्यलिङ्गं यथा नाम, भावलिङ्गं तथा क्वचित् ।

क्वचिदन्यतमं द्रव्यं भावश्चान्यतमो भवेत् ॥१०८७॥

किसी प्राणीमें द्रव्यलिङ्ग व भावलिङ्गकी विषमताकी संभवता—द्रव्यलिङ्ग तो शरीर है—पुरुष जैसा शरीर, स्त्री जैसा शरीर, नपुंसक जैसा शरीर । यह तो नामकर्मके उदयसे होता है और भावलिङ्ग—इस जीवके कामविषयक भाव है, तो भाववेद चारित्रमोहके उदयसे होता है । तो इन वेदोंमें कहीं तो समता है अर्थात् शरीर भी पुरुष है, भाववेद भी पुरुष है या स्त्रीलिङ्ग शरीर है और वेद भी स्त्रीवेद है आदिक । और किन्हीं जीवोंके विषमता होती है कि शरीर तो है पुरुष और भाववेद है या स्त्रीवेद या नपुंसक इत्यादि प्रकारसे जो विषमता होती है वह भी प्रकट यह जाहिर करती है कि दोनोंके निमित्त कारण जुदे-जुदे हैं, और वहाँ जीवमें उनका निमित्त पाकर जुदे-जुदे प्रभाव बनते हैं, इसी कारणसे कहीं सम भी रहता है वेद और कहीं विसमवेद हो जाया करता है तो किन्हीं वेदोंकी समानता है, किसीकी विसमता है । इस ही तथ्यको आगेके कुछ श्लोकोंमें बताया जा रहा है ।

यथा दिविजनारीणां नारीवेदोऽस्ति नेतरः ।

देवानां चापि सर्वेषां पाकः पुंवेद एव हि ॥१०८८॥

देवगतिके जीवोंमें अर्थात् देव और देवियोंमें द्रव्यलिङ्ग व भावलिङ्गकी समानता—जिन देवोंके स्त्रियाँ हैं देवियाँ, भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक कल्पोत्पन्न—इन चारों निकायके देवोंकी जो देवियाँ हैं उनके वेद सम होते हैं अर्थात् शरीरसे उनके स्त्रीवेद है तो भावोंसे भी उनके स्त्रीवेद होता है, विरोध नहीं होता, और इसी प्रकार जितने भी देव हैं चारों निकायोंमें उन सब देवोंके भी वेद समान होते हैं, शरीरसे भी पुरुषवेदी होते हैं तो भावोंसे भी वे पुरुषवेदी होते हैं । पुरुषवेदमें समान वेद होना, स्त्रीवेदमें समान वेद होना यह कुछ आतिशयके द्योतक हैं, यद्यपि ये सब संसारकी लीलायें हैं, पर अन्य प्राणियोंकी अपेक्षा इनमें विशेषता है । इनमें उच्चपना है अपेक्षाकृत । इस कारण वहाँ वेदोंकी समानता मिलती है । वैसे नपुंसक वेदके साथ भी समानता पायी जाती है अनन्त जीवोंमें, पर नपुंसकवेद खुद निकृष्ट वेद है, और इसके स्वामी सब तुच्छ जीव होते हैं, इसलिए भी समानता है । नपुंसकवेद की समता तो वादियोंके होती है और उनकी अपेक्षा कुछ विशेष पुण्य वाले जीव हैं जिनके पुरुषवेद और स्त्रीवेदकी समता होती है ।

भोगभूमौ च नारीणां नारीवेदो न चेतः ।

पुंवेदः कवलः पुंसां नान्या वान्योन्यसंभवः ॥१०८९॥

गाथा १०६२

भोगभूमिजोंमें वेदकी समता—भोगभूमिमें भी स्त्रीके शरीरसे भी स्त्रीवेद और भाव से भी स्त्रीवेद होता है। वहाँ नपुंसकवेद नहीं है। इसी प्रकार भोगभूमिके पुरुषोंके भी केवल पुरुषवेद वह होता वही शरीरकी अपेक्षा और वही भावकी अपेक्षा। भोगभूमिमें विसमवेद नहीं हुआ करते। जैसे देव देवियोंके समान वेद होते हैं इसी प्रकार भोगभूमिके स्त्री पुरुष इनके समान वेद होते हैं। भोगभूमिज मनुष्य भी कुछ विशेष पुण्य वाले हैं और वहाँ वे सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं। उनको किसी प्रकारके आजीविका आदिकके कार्य नहीं करने होते हैं। वे मौजी जीव हैं, ऐसे जीवोंमें भी इन वेदोंकी समानता पायी जा रही है।

नारकाणां च सर्वेषां वेदश्चैको नपुंसकः ।

द्रव्यतो भावतश्चापि न स्त्रीवेदो न वा पुमान् ॥१०६०॥

नारकी जीवोंमें वेदकी समता—सम्पूर्ण नारकियोंमें एक नपुंसक वेद ही होता है। वही शरीरकी अपेक्षा है और वही भावकी अपेक्षा है। नारकियोंमें पुरुष और स्त्रीवेद वेद होते ही नहीं हैं। भावसे भी पुरुष, स्त्री नहीं है और शरीरसे भी पुरुष स्त्री नहीं हैं। इनके तीव्र पापका उदय है सो नरकोंमें ये उत्पन्न होते हैं जहाँ भूमि अत्यन्त दुःखकी कारण है। जिसके स्पर्शसे हजारों बिच्छुओंके काटनेसे भी बढ़ करके दुःख होता है। ऐसा दुःखमयी जीवन व्यतीत करने वाले नारकियोंके भावोंसे और शरीरसे दोनोंसे ही नपुंसकवेद होता है। और इतना ही नहीं, ये सभी नारकी हुंडक संस्थान वाले विकराल भयंकर मुद्रा रखने वाले हैं। इनके विक्रिया होती है तो पृथक् पृथक् रूप नहीं रखते, एक ही विक्रिया है। और उसमें जैसा जो भाव हो, कैसा शस्त्र मारना वही शस्त्ररूप इनके शरीरकी विक्रिया हो जाया करती है। ऐसे अत्यन्त दुःखमय नरकगतिमें जीवन-यापन करने वाले प्राणियोंके जो शरीरमें वेद होता है वही भावमें वेद होता है।

तिर्यग्जातौ च सर्वेषां एकाक्षाणां नपुंसकः ।

वेदो विकलत्रयाणां क्लीवः स्यात्केवलः किल ॥१०६१॥

पंचाक्षासंज्ञिनां चापि तिरश्चां स्यान्नपुंसकः ।

द्रव्यतो भावतश्चापि वेदो नान्य कदाचन ॥१०६२॥

तिर्यग्गतिमें एकेन्द्रियसे लेकर असंज्ञीपञ्चेन्द्रिय तकमें वेदकी समता—तिर्यग्गति में जितने भी एकेन्द्रिय जीव हैं उन सबके शरीरसे नपुंसक वेद है और भावसे भी नपुंसकवेद है। इसी प्रकार विकलत्रयोंमें अर्थात् दोइन्द्रिय तीनइन्द्रिय चतुरिन्द्रिय जीवोंमें केवल नपुंसक वेद ही होता है, सो वही शरीरसे वेद है और वही भावसे वेद है। इसी प्रकार जितने भी असंज्ञीपञ्चेन्द्रिय जीव हैं उनके भी शरीरमें नपुंसकवेद है और भावसे भी नपुंसक वेद है। यह जीव वेदोंके उदयमें कुछ प्रवृत्ति तो नहीं कर पाते, किन्तु अबुद्धिपूर्वक इनके विकार रहता

है और उस काय विकारकी वेदनाको यह भोगता रहता है। ये सब जीव सम्मूर्च्छन जन्म वाले हैं। सम्मूर्च्छन जन्म वाले सभी नपुंसकवेद वाले हुआ करते हैं। सम्मूर्च्छन जन्मका अर्थ है कि माता पितासे नहीं उत्पन्न हुए, किन्तु वहाँ पड़े हुए पुद्गलके ढेरका सम्बन्ध हुआ, उस ढेरपर कोई जीव आया, उसको ग्रहण कर लेगा तो वे प्रकट आहारक वर्गणार्थे और अप्रकट आहारक वर्गणार्थे ये सब शरीररूप बन जाती हैं। सो इन जीवोंके जैसा शरीरमें वेद है वैसा ही इनके भावोंसे वेद होता है।

कर्मभूमौ मनुष्याणां मानुषीणां तथैव च ।

तिरश्चां वा तिरश्चीनां त्रयो वेदास्तथोदयात् ॥१०६३॥

केषांचिद् द्रव्यतः साङ्गः पुंवेदो भावतः पुनः ।

स्त्रीवेदः क्लीववेदो वा पुंवेदो वा त्रिधापि च ॥१०६४॥

केषांचित् क्लीववेदो वा द्रव्यतो भावतः पुनः ।

पुंवेदो वा क्लीववेदो वा स्त्रीवेदो वा त्रिधोचितः ॥१०६५॥

कश्चिदापर्ययन्यायात् क्रमादस्ति त्रिवेदवान् ।

कदाचित् क्लीववेदो वा स्त्री वा भावात् क्वचित् पुमान् ॥१०६६॥

समवेद वाले जीवोंका वर्गान करके विषमवेदकी संभवता वाले जीवोंका परिचय—

जिनमें वेदकी विषमता नहीं है उनका वर्गान ऊपरके श्लोकोंमें किया गया है। जैसे स्वर्गके देव और देवियोंके जो द्रव्यवेद हैं वही भाववेद हैं। भोगभूमिके मनुष्य और स्त्रियोंके जो द्रव्यवेद हैं वही भाववेद हैं। नारकी जीवोंमें जो द्रव्यवेद है वही भाववेद है। इसी प्रकार तिर्यञ्चगति में एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चौइन्द्रिय और असंजी पञ्चेन्द्रिय इनमें जो द्रव्यवेद है वही भाववेद है। इन जीवोंमें विसमता न होनेके कारण तो मूलमें उस जातिका कर्मोदय है और बाह्यदृष्टिसे देखो तो उनकी परिस्थिति, उनके शरीरका ढांचा आदिक जब दृष्टिमें आते हैं और अनावश्यकता आदिक पद्धतियां देखते हैं तो वहाँ वेदोंकी समता है। यह बात भली प्रकार समझमें आ जाती है। जैसे एकेन्द्रिय आदिक जीव हैं वे वेदकी प्रवृत्ति करनेमें समर्थ नहीं हैं, तो नपुंसक शरीरसे हैं, भावोंसे भी नपुंसक वेद हैं। भोगभूमिया पुरुष स्त्री हैं। उनके जीवनमें हर एक बातमें समता पायी जाती है, ऐसे ही देवोंकी सुख सामग्री अनेक प्रकार पायी जाती हैं। कषाय भी मंद हैं और उनका जैसा द्रव्यवेद है वैसा ही भाववेद है। अब जिसमें वेदमें विषमता है उसका वर्गान करते हैं।

कर्मभूमिज मनुष्य व संजी पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चोमें वेदवैषम्यकी संभवता—कर्मभूमिमें मनुष्योंके और स्त्रियोंके, उसी प्रकार तिर्यञ्चोके और तिर्यञ्चियोंके जो कि संजी पञ्चेन्द्रिय

हैं इन सबके तीनों वेद होते हैं, जैसा कि उनका उदय है। यहाँ विसमता पायी जाती है। किसीमें द्रव्यवेद तो पुरुष है और भाववेद स्त्री अथवा नपुंसक भी हो सकता है। किसीमें द्रव्यवेद है, स्त्रीवेद और भावसे पुरुष अथवा नपुंसक भी हो सकता है। इसी तरह द्रव्यसे तो नपुंसकवेद है और भावसे और कुछ भी हो सकता है। तो कर्मभूमिमें उत्पन्न हुए मनुष्य और स्त्रियोंके वेदोंमें वैषम्य होता है और यही कारण है कि यहाँ नाना प्रकारके विचित्र भाव देखे जाते हैं। ऐसे ही जो संज्ञी पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च हैं उनमें भी वेदोंमें विषमता है, इस कारण पहले स्पष्ट किया ही गया है कि अंगोपाङ्ग और नामकर्मका उदय तो उस प्रकार है जिस प्रकार वह द्रव्यवेदमें आता है और भाववेदमें पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद नामक चारित्रमोह का जैसा उदय है उस तरह कि वहाँ वेद अनुभवमें आ रहे हैं। तो चूँकि ये कार्य दो हैं—शरीरमें चिह्न होना ये दो कार्य पृथक् हैं। इनका उपादान भी पृथक् है, उनका कारण भी पृथक् है। इस कारण जैसा कारण द्रव्यवेदको मिला सो द्रव्यवेद हुआ और जैसा कारण भाववेदको मिला सो भाववेद हुआ।

श्रेणिगत साधुपरमेष्ठियोंमें भी वेदवैषम्यकी संभवता—करणानुयोग शास्त्रोंमें श्रेणियों में यह बात दर्शायी गई है कि कोई मुनि पुरुषवेदके उदयसहित श्रेणीमें चढ़ता है, कोई मुनि स्त्रीवेदके उदयसहित श्रेणीमें चढ़ता है, कोई मुनि नपुंसक वेदके उदयसहित श्रेणीमें चढ़ता है। तो द्रव्यसे ही सब पुरुषवेदी हैं, साधुपरमेष्ठी हैं, मनुष्य हैं, पर भावोंमें यह विषमता पायी गई है। यद्यपि श्रेणियोंमें इस भाववेदका कोई असर नहीं है कि उसके कामवासना बने, उनमें गंदगी, मलिनता आये, लेकिन उदय तो हुआ और उदयकृत भलक तो हुई। मलिनता तो छाया रूप होती ही है तो इस वर्णनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्मभूमिके मनुष्योंमें वेदकी विसमता पायी जाती है। लोकव्यवहारमें भी अनेक पुरुषोंमें इस प्रकार देखा जाता है कि द्रव्यवेद तो पुरुषवेद है ही, परभावोंमें उनका स्त्रीवेद जैसा परिणाम होता है, और शरीरमें भी उसकी मुद्रा हलन-चलन, बोल-चाल आदि हो जाते हैं। तो कर्मभूमिमें संज्ञी पञ्चेन्द्रियके वेदोंकी विसमता पायी जाती है।

भाववेदका आजीवन परिवर्तन—यहाँ यह बात जानना कि भाववेद तो स्थायी होता है याने जिस प्रकारका वेद जन्मसमयमें हुआ है उसकी प्रकृति वही रहेगी अन्त तक, किन्तु द्रव्यवेदमें परिवर्तन सम्भव है। यद्यपि सुननेमें यह अटपटासा लग रहा होगा और सोचा जा सकता है कि भाव तो बदला जा सकता है। आज भाव पुरुषवेदविषयक है और स्त्रीवेद विषयभाव बनाया जा सकता, वह तो भावकी बात है, पर द्रव्यलिङ्ग तो शरीरका चिह्न है। शरीरमें जो चिह्न हों सो तो सदा रहेंगे, वे कैसे बदले जा सकते हैं? ऐसी आशा का हास्य ही है, परन्तु सूक्ष्मदृष्टिसे विचार करें तो विदित होगा कि भावोंकी जो पद्धति बन गई है वेद-

विषयक, उसका हटाना उस भवमें असम्भव है। पूर्णतया हट जाना यह तो हो सकेगा, मगर बदलना यह सम्भव नहीं, किन्तु द्रव्यके लिङ्ग पुरुष स्त्रीविषयक यह आजके वैज्ञानिक भी स्पष्ट प्रयोग करके दिखा रहे हैं कि कोई मनुष्य पुरुष था और किसी समय कुछ चिह्न लक्षण जब कुछ उतरे तो आपरेशन आदिक विधियोंसे वह स्त्री रूप आया, स्त्री पुरुष रूपमें आया। तो शरीरका चिह्न तो बदला जा सकता, मगर जीवके ये कामवासनाविषयक विभाव ये नहीं बदले जा सकते। मिटाये तो जा सकते हैं, पर किसी जीवके मनुष्यके पुरुषवेदविषयक भाव हो तो वह बदलकर स्त्रीवेद वाला हो जाय, यह सम्भव नहीं है। भावकी गति बड़ी विचित्र है और इस जीवको इस प्रकारका संस्कार लगा है कि जिस भवमें जिस भाववेदको लेकर यह होता है उस भवमें यह भाववेद अन्त तक रहता है। हाँ, जो साधु श्रेणीगत है वह तो इस भाववेदको मिटा देता है, पर जब तक मिटता नहीं है तब तक उसी वेदकी ही परम्परा रहती है। इस प्रकार औदयिक भावोंमें मिथ्यात्व चारित्र मोहादिक बातें कहकर उसी सिलसिलेमें यहाँ वेदविषयक बात बतायी कि यह एक आदयिक भाव है। पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद नामके चारित्रमोहका उदय होनेपर ये विभाव प्रकट हुए हैं ये औदयिक हैं, नैमित्तिक हैं, स्वभावदृष्टिके बलसे हटाये जा सकते हैं।

निमित्तनैमित्तिक भावके परिचयमें स्वभावदृष्टिकी प्रयोजकता — निमित्तनैमित्तिक योग का परिचय स्वभावदृष्टिके प्रयोजनके लिए होता है। यहाँ स्वभावदृष्टिका अवसर यों मिलता कि यह साहस बनता है इस ज्ञानीको कि ये मेरे स्वरूप नहीं हैं, ये औदयिक हैं, निमित्त पाकर आये हैं। निमित्त विपाक ही इस स्वच्छ उपयोगभूमिमें झलक हुई है, ये मेरे स्वरूप नहीं। स्वभावदृष्टि जब मुख्यतया बनती है तो ये वेदविषयक भाव सभी दूर हो जाते हैं, क्योंकि स्वभाव वेदवासनासे रहित है। वह तो अपने विशुद्ध चैतन्यस्वरूप मात्र है। जो सहज है, निरपेक्ष है, अपने आपकी सत्तासे सिद्ध है उस सहज भावमें, निरपेक्षभावमें विकार नहीं है, ऐसे अविकार स्वरूप अपने आपके स्वभावकी जिसके दृष्टि बनी है वही तो अनुभव करता है कि मैं केवल ज्ञायक हूँ, स्वभावमात्र हूँ, स्वका होना स्वभाव है और स्वका होना वह सही स्वभावके अनुरूप होता है। तो यहाँ विकार नहीं, ऐसे अविकार चैतन्यस्वरूपकी दृष्टि निरन्तर रहे तो ये विभावभाव क्षणमात्रमें भस्म हो सकते हैं। भव-भवमें बाँधे हुए कर्म क्षणमात्र में निर्जराको प्राप्त होते हैं। इस जीवको धर्मसाधनाके सिवाय, स्वभावालम्बनके सिवाय अन्य कुछ शरण नहीं है। स्वभावालम्बनके लिए ही प्राणी व्यवहारधर्मका पालन करते हैं। स्वभावदृष्टिके पानेके लिए ही जप, तप, ध्यान, चर्चा आदिक प्रयोग किए जाते हैं। ज्ञानीका रह लक्ष्य रहता है कि स्वभावदृष्टिसे ही हमारा विकास है, अन्य परतत्त्वोंकी दृष्टिसे हमारा विकास नहीं है। इस प्रकार औदयिक भावसे रहित अविकारस्वरूपकी भावनामें आत्मकल्याण होता

है ।

त्रयोऽपि भाववेदास्ते नैरन्तरोदियात् किल ।

नित्यं चाबुद्धिपूर्वाः स्युः क्वचिद्वै बुद्धिपूर्वकाः ॥१०६७॥

परिणतिस्वातन्त्र्य और निमित्तनैमित्तिक भाव—दो बातें सर्वत्र सुनिश्चित हैं, वैज्ञानिकों से पूछो, युक्ति वालोंसे पूछो—ये दो बातें न हों जो अभी बतायेंगे तो न सत्ता रहेगी, न कार्य कुछ हो सकेगा । वे क्या दो बातें ? पहली बात तो यह कि प्रत्येक पदार्थ खुदके परिणमनसे परिणमता है । कोई भी पदार्थ किसी दूसरे पदार्थकी परिणतिसे नहीं परिणमता । दूसरी बात पदार्थमें जो विकार होता है, विषम स्थिति होती है, विभाव होते हैं, स्वभावके विपरीत कोई परिस्थिति बनती है तो वह परउपाधिके सन्निधान बिना नहीं बन सकती । यह बात आप यहाँ संसार अवस्थामें अपने आपपर घटित करते जायें । इन दो बातोंके जाननेकी आवश्यकता क्यों है ? इन दो बातोंका परिचय स्वभावदृष्टिमें मददगार है और स्वभावदृष्टिकी आवश्यकता क्यों है ? स्वभावदृष्टि बिना हम शान्ति नहीं पा सकते, हम शुद्ध नहीं हो सकते, हमारा कल्याण नहीं हो सकता । तो इसके लिए ये दो बातें माननी आवश्यक हैं । सही सही जानना जरूरी हो गया कि खुदके परिणमनसे परिणमन हुआ करता है और विसम्बाद, विभाव, परभाव ये उपाधिके सन्निधान बिना होते नहीं । इन दो के विपरीत यदि कोई कुछ अपना तथ्य रखे कि नहीं जो अपने परिणमनसे भी कभी कोई परिणमता है और कोई परके परिणमनसे भी परिणमता है, अथवा सभी परके परिणमनसे परिणमते हैं । तो ऐसा स्वीकार करनेपर न विश्वस्तता रहेगी, न स्वतंत्रता रहेगी, न शुद्धता बन सकेगी । इसी प्रकार कोई यह कहने लगे कि विभाव, परभाव, विकार, स्थिति—ये तो खुदके ही कारणसे हुआ करते हैं उसमें परके सन्निधान की बात ही क्या ? इसका तो अर्थ है कि ये विकार, ये विभाव ये नित्य रहेंगे । इनका यह जीव नित्यकर्ता बन जायगा, ऐसी घोषणा आचार्योंने खुले खुले शब्दोंमें प्रायः प्रसंगोंमें सर्वत्र कही है ।

यहाँ है वेदका विषय याने जीवोंमें जो कामवासना जगती है, विषयवासना रहती है तो उसमें ये दोनों बातें देखियेगा । पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद नामकी नोकषाय चारित्रमोह के उदय बिना, सन्निधान बिना ये कामविकार भाव नहीं हुआ करते, क्योंकि ये विकृत हैं, परभाव हैं, नैमित्तिक हैं, स्वभावके विपरीत हैं, और कर्मोदय होनेपर भी स्वयं यह जीव, ऐसा अशुद्ध उपादान वाला जीव उपयोग ज्ञानविकल्प रूपसे खुद न परिणमे तो विकार किसका नाम ? तो यहाँ ये दो बातें समझनी चाहिएँ और इस परिचयसे यह निष्कर्ष निकालना चाहिए कि जो कुछ मुझपर यह विपत्ति छा रही वह विभाव विपत्ति है । हम अपने आपके स्वरूपन रहो, अपने आपके स्वरूपके अनुकूल ही परिणमते, स्वयं अकेले होते, यह तो मेरे

लिए अच्छी बात थी, सत्यं शिवं सुन्दरं था, मगर हो क्या रहा है ? यहाँ ये आफतें लद रही हैं विभावोंकी तो ये जितनी आपत्तियाँ हैं, जितने ये भार हैं, जो कुछ है एक निर्णयमें एक भटकेमें ज्ञानबलके द्वारा एकदम फेंककर अलग हुआ ज्ञान द्वारा । यह मैं नहीं, ये नैमित्तिक हैं, ये विभाव हैं, मेरे स्वरूप नहीं । विभावविकल्प भागनेके साथ ही यह झलक भी आयगी कि मैं तो यह ज्ञानदर्शनस्वरूप मात्र आनन्दमय सहजस्वभाव रूप हूँ । हाँ तो ऐसा भेदविज्ञान नहीं है तो जो भार आता है, जो प्रतिफलन है, जो कर्मविपाक है, बस उसमें ही यह जीव रमता है और इस ही अपने वेद नोकषायसे निरन्तर इसमें भीतरमें कलुषता बनी रहती है । अबुद्धिपूर्वक कलुषता तो बनी रहती है सदा सोतेमें जगतेमें अच्छा और पूजा पाठ करनेमें, पूजा पाठ करनेमें भी उसका ऐसा भाव है याने चारित्रमोहका उदय निरन्तर है । एक क्षण को भी इन वेदोंमें से कोई वेद शान्त बैठे, चुपके रह जाय, न उदयमें आये, ऐसा नहीं व्यतीत होना, जब तक कि उसका उपशम और क्षय न बने । तो प्रतिफलन कलुषता निरन्तर रहती, मगर वह अबुद्धिपूर्वक है । जहाँ कषायका बेग है और बाह्य विषयसाधनोंमें उपयोग लगा है वहाँ यहाँ बुद्धिपूर्वक कलुषता बनी रहती है । जैसे अविरत सम्यग्दृष्टि जीव, पंचम गुणस्थान-वर्गी जीव जब कभी स्वानुभूतिमें भी आ रहा, जिसे कहते हैं निर्विकल्प स्वानुभव, आत्मानुभव । उस स्वानुभवकी दशामें भी कितना अबुद्धिपूर्वक दशायें प्रतिफलन कषाय रह रही है । वहाँ यह नहीं है कि यह स्वानुभूतिमें है तो इसके कषाय नहीं । अबुद्धिपूर्वक कषाय उस समय भी है, क्योंकि उपयोग ज्ञानस्वभावकी ओर है । उस उपयोगमें कषाय व नोकरम नहीं बस रहे हैं, इस कारणसे अबुद्धिपूर्वक है और जब स्वदृष्टिसे चिगकर और बाहरी विषय साधनोंको उपयोगमें लेता है तो इसकी कषाय व्यक्त होती है, प्रकट होती है । यों औदयिक भावोंकी बात चल रही है देखिये इस प्रसंगमें कि कर्मोदयका निमित्त पाकर होने वाले ये विकल्प किस-किस प्रकारसे यहां उपादानमें चल रहे हैं ?

तेऽपि चारित्रमोहान्तर्भावितो बन्धहेतवः ।

संक्लेशाङ्गैकरूपत्वात् केवलं पापकर्मणात् ॥१०६८॥

वेदोंकी चारित्रमोहान्तर्भाविता व बन्धहेतुता — ये वेदके उदय, ये कामभाव, ये भी चारित्रमोहमें अन्तर्भावी हैं । चारित्रमोहके ही तो भेद हैं, इस कारण बंधके कारण हैं । समय-सारमें बताया है — यथाख्यात चारित्र होता ११वें १२वें गुणस्थानमें उससे पहिले अवश्यभावी राग सद्भाव है । एक क्षणको भी राग हटता नहीं । एक क्षणको भी राग हटता है, श्रेणीमें रहने वाले ८वें, ९वें गुणस्थान तकके साधुवोके भी राग हटता नहीं है, अवश्यभावी है, आस्रव है, मगर जीत किस बातकी है ? सम्यग्दृष्टि जीवके बुद्धिपूर्वक रागद्वेष मोहका अभाव होनेसे यह निरास्रव है ।

द्रव्यानुयोगके निरास्रवताके कथनका व करणानुयोगके निरास्रवताके कथनका तथ्य—
 द्रव्यानुयोगकी कथनी एक प्रयोग वाला कथन है, और उसमें बुद्धिगम्य स्थूल कथन होता है।
 सूक्ष्म कथन करणानुयोगमें मिलेगा। यहाँ बुद्धिपूर्वक जो बात होती है उसका ही आलम्बन
 लेकर कथन है। करणानुयोगमें बुद्धिपूर्वक, अबुद्धिपूर्वक सभी तत्त्वोंका वर्णन चलता है। तब
 ही यह न सोचकर कि यह इस अपेक्षासे कथन है, एक ओर दृष्टि हो जाती है कि स्वच्छंदता
 बन जाती है। और देखो शास्त्रोंमें लिखा है, परन्तु प्रकरण, प्रसंग बिना समझे उनका कथन
 वैसे है जैसे कि एक कथानक है कि एक बार कहींपर राजा और रानी जलक्रीड़ा कर रहे थे,
 तो राजा था जरा बलवान, मगर बुद्धू था। जलक्रीड़ा कहते हैं हाथोंसे जल उछालकर दूसरों
 के ऊपर छोटे मारनेको। सो उन छोटोंसे रानियाँ बबड़ा गईं। तो रानियाँ थीं बुद्धिमान, तो
 उन्होंने कहा—“मोदकं देहि राजन्” याने हे राजन् अब पानीके छोट मत मारो। वहाँ राजाने
 मोदक शब्द सुनकर समझा कि ये रानियाँ लड्डू माँग रही हैं, सो राजाने भट नौकरोंको
 आदेश दिया कि एक टोकनेभर लड्डू ले आवो, रानियाँ लड्डू माँगती हैं। राजाज्ञा पाते ही
 फौरन टोकनेभर लड्डू आ गए। यह दृश्य देख रानियाँ राजाकी मूर्खतापर हँस पड़ीं। वहाँ
 राजा बड़ा शर्मिन्दा हुआ अपनी मूर्खतापर। देखो वहाँ प्रसंग तो था पानीके छोटोंका, “मा
 उदकं देहि” का याने जल मत देओ। पर राजाने मोदकका अर्थ वहाँ लड्डू लगाया जिससे
 यह विडम्बना बनी। ऐसे ही यहाँ जो सम्यग्दृष्टिको निरास्रव कहा तो उसका यह अर्थ है कि
 बुद्धिपूर्वक या अज्ञानसहित उसके रागद्वेष नहीं प्रवृत्त होते हैं, इस कारणसे संसार-परम्परा
 बढ़ाने वाला आस्रव सम्यग्दृष्टिके नहीं होता है, पर करणानुयोग कहता है कि कुछ आस्रव तो,
 साम्परायिक आस्रव तो १०वें गुणस्थान तक है और ईर्यापथास्रव सयोगकेवली भगवान तक
 है। अब समझिये सूक्ष्म कथन करणानुयोगके कथन हैं जो बुद्धिसे परे हैं। एक समयका आस्रव
 ईर्यापथास्रव कहलाता है। जहाँ तक याने है वहाँ तक आस्रव है और साम्परायिक आस्रव जो
 स्थितिबंध कराये याने आया गया, ऐसा ही न रहे, कर्म आये और स्थिति कुछ बांधकर रहे,
 कुछ समय ठहरे ऐसा जो आस्रव है उसे कहते हैं साम्परायिक आस्रव।

अबुद्धिपूर्वकताके तथ्य—अप्रमत्तमें बुद्धिपूर्वक कहाँ चल रहा है राग ? ७वें, ८वें,
 ९वें, १०वें गुणस्थानमें कैसा अबुद्धिपूर्वक राग है कि इसकी समझमें ही नहीं हो, इसकी बुद्धि
 में ही नहीं है, इसके उपयोगमें ही नहीं है। दूसरा—अबुद्धिपूर्वक उसमें प्रतीति नहीं है, उसमें
 लगाव नहीं रहा है ऐसा अबुद्धिपूर्वक आस्रव चौथे, ५वें, छठे गुणस्थानमें है। राग साझमें
 तो आ रहा कि उसके कीर्ति जगी, उसके राग हुआ, यह बात तो ध्यानमें आ रही है, मगर
 प्रतीति नहीं है इस तरह की कि राग मेरा स्वरूप है, इस रूप में यह ही तो हूँ, ऐसा अज्ञान
 नहीं रहा, इसलिए वह भी अबुद्धिपूर्वक कहलाता। अच्छा तो अबुद्धिपूर्वक उसे भी कहते हैं

जो एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रियके होता है। शब्दोंके कितने मायने हैं, कितने अर्थ हैं, कहाँ क्या लगाना चाहिए? यह जो नयचक्रके गहन बनसे गुजरना है वह हर एकका काम तो नहीं है। सबके वशकी बात तो नहीं है। शास्त्रोंमें तो लिखा है एकेन्द्रियमें भी अबुद्धिपूर्वक विकार और १०वें गुणस्थानमें भी अबुद्धिपूर्वक विकार, मगर इन दोनोंको एक साथ कहा जाय तो क्या बात बनती है? सबका अर्थ समझ लेना चाहिए। एकेन्द्रियके मन नहीं है, इसलिए वे तर्कणा करके विकार नहीं करते। यहां तो यह अबुद्धिपूर्वक अर्थ है। सम्यग्दृष्टिके चौथे, ५वें, छठे गुणस्थानमें उस प्रकारकी भावना अभिप्राय नहीं रहा जैसा कि राग उठ रहा इसलिए अबुद्धिपूर्वक है। ७वें, ८वें, ९वें, १०वें गुणस्थानमें उपयोगमें भी राग नहीं आ रहा, कर्मविपाक है, प्रतिफलन है और तद्रूप उसकी कल्मषता है, यहां तक बात आती। यह अबुद्धिपूर्वकका अर्थ है।

वेदकी औदयिकता, बन्धहेतुता व चारित्रमोहान्तर्भावितके कथनका समर्थन—औदयिक भावोंकी बात कह रहे हैं कि अबुद्धिपूर्वक हो तो, बुद्धिपूर्वक हो तो यह सब परभावरूप कहा गया यह वेद चारित्रमोहमें अन्तर्भूत है। संक्लेशका एकरूप है, सो केवल पापकर्मके बंध के कारण होता है। बोझसे न्यारा अपनेको अपने रूपमें देख सकना यह बहुत पवित्र आशयकी बात है। विभाव है बोझ कर्मविपाकका प्रतिफलन। उस कालमें हुआ ज्ञानमें विकल्प। सो यह सब है उसका, पर बोझ है, भार है। भार हुआ करता है पृथक्भूत चीजका। स्वमें स्वका भार नहीं हुआ करता। भार हमेशा किसी परतत्त्वका ही हुआ करता है। स्वमें स्वका भार नहीं रहता। उस विभाव भारसे निराला यह मैं केवल सहज विशुद्ध चैतन्यस्वरूपमात्र हूं। यों स्वभावदृष्टिके बलसे यह शान्तिमार्ग मोक्षमार्ग बढ़ता है।

द्रव्यलिङ्गानि सर्वाणि नात्र बन्धस्य हेतवः।

देहमात्रैकवृत्तत्वे बन्धस्याकारणात्स्वतः ॥१०६६॥

द्रव्यलिङ्गकी बन्धाहेतुता तथा भाववेदकी हेयता—यह वेद वाला प्रकरण इस श्लोक में समाप्त होता है। यहाँ अन्तमें एक निष्कर्षरूप एक ही बात कहते हैं कि भाई ये लिङ्ग, ये वेद दो प्रकारके हैं—(१) स्त्रीवेद, (२) भाववेद; (१) द्रव्यलिङ्ग, (२) भावलिङ्ग। द्रव्यलिङ्ग तो नामकर्मके उदयसे औदयिक है और भाववेद चारित्रमोहके उदयसे औदयिक है। सो चूँकि द्रव्यलिङ्ग तो नामकर्मके उदयसे औदयिक है और भावलिङ्ग चारित्रमोहके उदयसे औदयिक है, इसी कारण द्रव्यलिङ्ग सभी ही बंधके कारण नहीं हैं, क्योंकि द्रव्यलिङ्ग शरीरका ढाँचा, यह कोई भावविकारकी चीज नहीं है। वह तो एक देह मात्रकी ही रचनामें है, इसलिए वह स्वतः बंधके कारण नहीं है। हाँ, बंध करने वाला भाववेदी पुरुष था वह आश्रयभूत है, जिससे कि व्यक्त विकार बनता है। औदयिक भावमें सर्वत्र यह शिक्षा लीजिए कि ये विभाव रागद्वेष

विकार जो आफतें हैं वे सबके सब औदयिक हैं, मेरे स्वरूप नहीं हैं, ये नैमित्तिक हैं। मैं ही निमित्त होऊँ, मैं ही उपादान होऊँ और इससे विकार बनें तो विकार हटानेकी फिर कोई भी तरकीब नहीं हो सकती, क्योंकि निमित्त सदा उपादान सदा। स्वयं जीव ही निमित्त हो, स्वयं जीव ही उपादान हो तो वहाँ हटानेका कोई अवसर नहीं और सोचनेसे क्या होता है ? बात तो जो जैसी होती है सो ही होती है। उल्टा सोचनेसे कहीं बात वैसी बन नहीं जाती। बात तो जो जहाँ जैसी है सो ही होगी। जैसी जो बात बनेगी, संसारपरम्परा बढ़ेगी, दुःख, आकुलता, व्यग्रता, पापबंध जो कुछ जैसा बनेगा वह वैसा बनेगा। कहीं वह उल्टा मान लेनेसे छुटकारा न हो पायगा। कोई आने आप समझ ले कि मैं तो बस परिपूर्ण हूँ, इस प्रकारके अक्षर जान लिया, व्यवहार जान लिया, धर्म कर लिया, सबके बीच हमारी इज्जत बन गई, बस इतनेसे हम कृतकृत्य हो गए.....तो यों कृतकृत्य न मानो, उसकी जो विधि है उससे कृतकृत्यता मिलती है और जो संसारमें रहनेकी विधि है उससे संसारमें रहता होता है। पञ्चाध्यायीमें यहाँ इस दृष्टिसे सारा वर्णन चल रहा कि ये विभाव हैं, हेय हैं, परभाव हैं, दुःखरूप हैं, दुःखके हेतुभूत हैं, ये मेरे स्वरूप नहीं। मैं तो एक टंकोत्कीर्णवत् निश्चल ज्ञायकस्वभाव मात्र हूँ। इसका बड़ा विस्तार समयसारके बंधाधिकारमें है। जहाँ कुन्दकुन्दाचार्य देवने बताया कि—“उदयविवागो विविहो कम्माणं जिणवरेहि परिकहियं। ण हु एस मञ्ज भावो जणगभावो हु ग्रहमिक्को।” जिसकी आत्मख्यातिमें कहते हैं कि ये रागद्वेषादिक कर्मोदयके विपाकसे उत्पन्न हुए। ये रागद्वेष मोहभाव मेरे स्वरूप नहीं। मैं तो एक ज्ञायकस्वभावमात्र हूँ।

अपनी त्रुटियोंको शोध शोध हटा देनेका अनुरोध—अब जरा अपनी गल्तीपर भी अंदाजा तो करो कि आत्माके क्षेत्रमें उठने वाले जो कर्मविपाकके प्रतिफलन हैं उनको इतनी हेयतासे बताया गया और उनसे हटनेकी बात की जा रही है, यह बात तो है ही कहाँ, बल्कि ऐसा हो रहा है कि इसके चित्तमें से घर वैभव परिवार आदिक ये नहीं हट पा रहे। घर वैभवके चर्चाकी बात क्या करें, इनके उपयोगसे तो इनके संस्कारमें, तो इस मोहीके संस्कार में तो घर बसा, दूकान बसी, वैभव बसा। चर्चा तो ऊँची करेंगे, सुनेंगे, पर कोई मौका आयगा ऐसा कि यह तृष्णाका रंग घर कर जायगा, अरे कैसे हो गया यह रंग ? अभी तो चर्चा हो रही थी कि यह जीव तो सारे विभावोंसे निराला ज्ञानमात्र है और ऐसा कहनेमें बड़ा आनन्द मान रहे थे, मगर हो क्या जाता कि तृष्णाका बड़ा गहरा रंग भट चढ़ जाता। जब तक अनुभवसहित ज्ञान नहीं होता तब तक उसे सम्यग्ज्ञान नहीं बताया गया।

साधारण ज्ञान व सम्यग्ज्ञानका तथ्य—ज्ञान और सम्यग्ज्ञानमें अन्तर क्या है ? जिनको सम्यग्ज्ञान होने वाला है वह, जो जीवादिक तत्वोंके बारेमें जानकारी रख रहा है वह क्या गलत रख रहा ? गलत नहीं रख रहा। गलत जानकारी रखने वालेके सम्यक्त्व न बन

सकेगा। जानकारी तो ठीक रख रहा। जैसा पदार्थका स्वरूप है वैसा ही रख रहा, मगर जो सहज आत्मस्वरूप है उसका अनुभव नहीं हुआ, इसलिए उसे कहेंगे साधारण ज्ञान और अनुभव होते ही उसे कहेंगे सम्यग्ज्ञान। जैसे जिसने माना बड़वानीमें जो मूर्ति है आदिनाथ भगवानकी, उस मूर्तिको जिसने आँखों नहीं देखा और फोटो देखा, चित्र देखा, पुस्तकोंमें पढ़ा और अंग माप आदिकी सारी जानकारी भी कर लिया तो भी इन-इन विधियोंसे जो उस मूर्ति के विषयमें जानकारी है सो क्या यह गलत जानकारी है? है तो वैसी ही जानकारी जैसी कि वहां मूर्ति है, मगर मूर्तिके साक्षात् दर्शन किए बिना, उसे साक्षात् देखे बिना जो जानकारी है वह तो है एक साधारण ज्ञानके तुल्य और जब वह वहां जाकर साक्षात् उसके दर्शन करता है तो जो उसके प्रति एक विश्वास आता, जो एक स्पष्टता आती उसके साथ जो जानकारी है वह कह लीजिए सम्यग्ज्ञानका साधन। तो औदयिक भाव निमित्तनैमित्तिकका परिचय स्वभावदृष्टिका प्रयोजक है, कर्ताकर्मत्वका साधक कतई नहीं। निमित्त शब्द ही इस बातको सूचित करता है कि कोई पदार्थ निमित्त दूसरे पदार्थको अपनी शक्तिसे, अपने करणसे, अपनी परिणति से परिणामाता नहीं, तन्मात्र होता नहीं, किन्तु ऐसा ही योग है कि रोज प्रयोग होता है कि विसम पर्याय, विभाव पर्याय अनुकूल निमित्तकी उपस्थितिमें होती है, सो उस समयमें भी निमित्त बिना हुआ नहीं, निमित्तसे हुआ नहीं। ऐसी सही-सही दृष्टि द्वारा तत्त्वका परिज्ञान करने वाला सम्यग्दृष्टि जीव एक क्षणमें, एक निगाहमें अपने आपके भीतरके सारे बोझोंको परखता है और उससे निराले अन्तः विशुद्धस्वरूपमें वह ज्ञान द्वारा प्रवेश करता है।

मिथ्यादर्शनमाख्यातं घातान्मिथ्यात्वकर्मणः।

भावो जीवस्य मिथ्यात्वं स स्यादौदयिकः किल ॥११००॥

पूर्वोक्त मिथ्यात्वकी औदयिकताका स्मरण—मिथ्यात्वकर्मकी चोटसे, देखो यहां घात शब्द भी दे दिया है, आक्रमण, घात, उदय, विपाक, तो उस मिथ्यात्वकर्मके उदयसे मिथ्यात्वकर्मके उदयसे मिथ्यादर्शन होता, यह बात कही गई है। इस चारित्रमोहके वर्णनसे पहले कहा गया है सो वह भाव जीवका मिथ्यात्व है और औदयिक। सांख्य भी कहते हैं कि प्रकृति का हो यह सब विकार है और जीव अपरिणामी है, और शुद्ध स्वभावकी दृष्टिके प्रयोजनसे जैनाचार्य भी कह रहे हैं कि ये सब प्राकृतिक हैं मायने पौद्गलिक हैं, मगर इस कथनमें अंतर यह है कि पौद्गलिक कहते हुए भी यहां स्वरूप स्वीकार किया गया है कि उस अनाकुल जीवका ज्ञान विकल्प बन रहा, वहां यह स्वरूप स्वीकार नहीं किया गया। स्वीकार वहां किया ही नहीं जा सकता, क्योंकि ज्ञान भी प्रकृतिका विकार मान लिया गया। इतने संयुक्त से अपने आपमें अपने स्वभावदर्शनका प्रयास करना है। इसका वर्णन पहले बहुत हो चुका, किन्तु एक प्रसंगवश पहलेका यह स्मरण कराया गया है।

अस्ति जीनस्य सम्यक्त्वं गुणश्चैको निसर्गजः ।

मिथ्याकर्मोदयात्सोऽपि वैकृतो विकृताकृतिः ॥११०१॥

मिथ्यात्वप्रकृति दर्शनमोहके उदयसे मिथ्यादर्शनका उदय—जो भी पदार्थ होता है उसमें भेदविवक्षासे निरम्बनेपर अनन्तशक्तियाँ विदित होती हैं। होता तो अखण्ड ही पदार्थ और स्वभाव भी अखण्ड किन्तु उसे पहिचाननेकी विधि सिवाय भेद विवरणके और कोई नहीं है। तो जब किसी वस्तुका परिचय करने चले तो उसमें रहने वाली अनादि अनन्त शक्तियों का परिचय होता है। आत्मा भी एक पदार्थ है, उसमें भी अनन्त शक्तियाँ हैं। अनन्तशक्तियों के नाम तो निरखे जाना अशक्य हैं पर कुछ प्रसिद्ध शक्तियाँ, जिनके जाननेकी आवश्यकता है और अपनी शान्तिमें जिनका परिचय मददगार है ऐसी कुछ शक्तियाँ हैं, जिनमें एक शक्ति सम्यक्त्व नामक है। श्रद्धा कहो, सम्यक्त्व कहो एक ही बात है। सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र, आनन्द, दर्शन आदिक अनेक शक्तियाँ हैं, जिनमें एक सम्यक्त्व गुण है। जो सम्यक्त्व शक्ति काम करती है, इसका परिणामन मिथ्यात्वरूपमें हो, सम्यक्त्वरूपमें हो, सम्यग्मिथ्यात्वरूपमें हो, ऐसा ही श्रद्धा सम्बंधित परिणामन इस सम्यक्त्व गुणका कार्य कहलाता है। तो यह गुण एक विसर्गज है, अपने आप ही सम्यक्त्वगुण है, पर मिथ्यात्व नामक कर्मोदय होनेपर यह ही सम्यक्त्व गुण विकृतरूप परिणाम जाता है। जैसे दर्पणमें खच्छता है निजमें, मगर सामनेके पदार्थका सन्निधान पाकर छायारूप परिणाम जाता है तो ऐसे ही आत्मामें सम्यक्त्वगुण है तो परिणामा तो वह अपने ही परिणामनसे, मगर मिथ्यात्वरूप परिणामा तो मिथ्यात्वप्रकृति कर्मोदयका निमित्त पाकर परिणामा। उस समय क्या स्थिति होती है इस जीवकी कि नाना मिथ्या आशय बनते हैं। शरीरको मानता—मैं हूँ, विभावको मानता 'यही मैं हूँ' यह तो सब मिथ्यात्वोंमें एक मूल जड़ है। यह तो सर्वत्र पाया जाता जहाँ-जहाँ मिथ्यात्व है। कोई ऐसे भी चतुर व्यक्ति होते हैं जो कुछ भेदकी बात करते हैं। शरीर मैं नहीं, मैं आत्मा जुदा हूँ, ऐसा कहने वाले भी शरीरमें मैं की बुद्धि रखते हुए कहते हैं। मिथ्यात्वका अंश कहाँ किस तरह से पड़ा हुआ है, उसका पार पड़ना कठिन है। ऐसे-ऐसे महामुनि जो कोल्हूमें शत्रु द्वारा पले जायें और शत्रुको शत्रु न समझें, इतनी तक समताकी बात रखें तो भी सम्भव है कि उनमें मिथ्यात्वका अंश हो सकता। बताया ही है कि ऐसे-ऐसे भी मिथ्यात्व अंश होते हैं। उन सबकी पहिचान कैसे हो तो उसकी कुञ्जी बस इतनी है कि अपनी इस पर्यायमें आत्मबुद्धि होना कि यह मैं हूँ। तो पूछोगे—तो फिर उन मुनियोंको क्या बुद्धि मिली जो शरीर भी पित्र रहा, फिर भी उस शरीरको बचानेकी कोशिश नहीं कर रहे, किसीपर गुस्सा भी नहीं हो रहे, फिर भी मिथ्यात्व सम्भव है। वह कौनसा परिणाम है? मैं मुनि हूँ, मुझे समता रखनी चाहिए, इस तरहकी बुद्धि रखकर केवल एक द्रव्यलिगपर ही ममता है, उस पर्यायमें

आत्मबुद्धि है इसलिए वह सरकर भी अपना मिथ्यात्व नहीं तज पाया। यह एक बहुत सूक्ष्म अंशका दृष्टान्त दिया है। तो ऐसे ही गृहस्थ जनोंमें भी धर्मके बड़े अच्छे ऊँचे-ऊँचे काम करने की सोचते हैं, करते हैं और ऐसा करते हुए भी मिथ्यात्व रह जाय, यह क्या सम्भव नहीं है? अच्छा किया, जो काम बने उसमें ऐसा संतोष करना कि मैंने किया, लोग समझे ठीक किया, इस तरहसे जो उस ही पर्यायमें चलता है, क्रियामें चलता है, वचनकी जो चेष्टा है वह सब मिथ्यात्वका ही तो अंश है।

मिथ्यात्वविषसे सर्वथा हटकर सहजस्वरूपमग्नताके प्रतापसे सिद्धिका लाभ—जो भी मुनिराज सिद्ध हुए हैं वे मिथ्यात्वविषसे दूर होकर, फिर सम्यग्दर्शन, ज्ञान चारित्र्यमें तन्मय होकर सिद्ध हुए हैं, निर्ग्रन्थलिंग बिना सिद्धि नहीं हैं। मुनिभेष हुए बिना किसीने भी मोक्ष नहीं पाया, पर उन सबने जिन्होंने मोक्ष पाया है उन्हें मुनिभेषमें ममता न थी, मुनिभेषसे उपेक्षा थी और उसका ख्याल ही छोड़कर उन्होंने सिद्धि पायी याने पर्यायसे आत्मबुद्धि कितना निकालना है सो मुनि होकर भी अपनेको मुनि नहीं मान रहे थे, उस प्रकार पर्यायरूप नहीं समझ रहे थे, एक चिदानन्दस्वरूप अपनेको अनुभव कर रहे थे। तो ऐसे ही हम आपकी कुछ भी स्थितियां हों, सब स्थितियोंमें गुजारा चलेगा, मगर अपनी इस प्रतीतिको न छोड़ें कि मैं तो यह एक सहज ज्ञानप्रकाशमात्र हूं—इस प्रतीतिको छोड़कर जब चित्तमें बस जाता कि मैं इस मान्यताका हूं, इस पार्टीका हूं, इस पक्षका हूं, इस जातिका हूं, किसी भी प्रकार किसी भी पर्यायमें जहां अपना लगाव बनाया है वहां समझो मिथ्यात्व आ गया। तो यह मिथ्यात्व किन-किन रूपोंमें प्रकट होता है उसकी असंख्यात मुद्रायें हैं। कोई देवी देवताओंको अपना कल्याणकारी मानते हैं और उनकी पूजा करते हैं, कोई वृक्ष जैसे एकेन्द्रियको भी देवताके रूप में मानता है और उनकी भी आराधना करता है। यह मिथ्यात्व किन-किन रूपोंमें प्रकट होता इससे बढ़कर और आप आश्चर्य क्या करेंगे कि निर्ग्रन्थलिंग रखकर यह मिथ्यात्व एक अपनी गुप्त मुद्रा बनाये रखता है और गृहस्थ होकर भी धर्ममें बुद्धि बनानेके प्रति श्रम करते हुए भी उनको अपनी पर्यायमें, इज्जतमें, यशमें, इनमें ममत्व रहता है। तो वहां भी मिथ्यात्वकी प्राप्ति की। जिसको अपने आत्माका संतोष नहीं प्राप्त होता उनकी गति तो बाहर-बाहर ही भटकने वाली है। मैं आत्मा ज्ञानमात्र हूं। जानन होना, ज्ञानप्रकाश होना इतना ही मेरा काम है। ज्ञानप्रकाश परिणमन, इतना ही मैं करता हूं, उस ही ज्ञानप्रकाशको मैं भोगता हूं, जो मेरा एक सहज चैतन्यप्रतिभास है यह ही मेरी दुनिया है, यह ही मेरा परलोक है, इसीमें नित्य निवास है, इसके अतिरिक्त मेरा कहीं कुछ नहीं। ऐसा जब अपना परिणाम जगे तो एक सन्मार्ग प्राप्त होगा और एक आत्माकी सुध छोड़कर जो कुछ भी विकल्प चलता है वहां किसी परभावमें अटक होती है और परभावकी अटकमें इस जीवको सन्मार्ग नहीं मिलता।

बहुत सरल कुञ्जी है, सुगम साधना है। कहीं बैठे हों—दुकानमें, घरमें, जंगलमें—जरा अपनी दृष्टि डालें और निरखें कि मैं तो यह सहज ज्ञान प्रतिभास मात्र हूँ और जो कुछ विपत्ति विकल्प इसपर लदते हैं वह सब कर्मविपाक ही छाया है। वह मैं नहीं हूँ। मैं तो अन्तः सहज चैतन्य प्रतिभासमात्र हूँ। जहाँ यह दृष्टि हुई वहाँ वे सब काम भले होने लगते हैं। सम्बर होना, निर्जरा होना, शान्ति होना, संतोष होना आदि सभी बातें उसके होने लगती हैं। अपने उपयोगमें अपना स्वरूप प्रतिष्ठित करना है। तो मिथ्यात्व नामक प्रकृतिके उदयसे इस जीवके ऐसे-ऐसे मिथ्या आशय हुआ करते हैं। वे औदयिक हैं, कर्मोदय पाकर हुए हैं, स्वरूप नहीं हैं, मैं उनसे निराला केवल शुद्ध चैतन्यप्रतिभासमात्र हूँ। स्वभावदृष्टि करानेके लिए ही औदयिक भावका वर्णन चल रहा है। स्वभावदृष्टि करानेके लिए ही यहाँ यह सब निमित्तनैमित्तिक बातोंकी स्पष्टता की जा रही है।

उक्तमस्ति स्वरूपं प्राङ् मिथ्याभावस्य जन्मिनाम् ।

तस्मान्नोक्तं मनागत्र पुनरुक्तमयात्किल ॥११०२॥

मिथ्याभावकी महाक्लेशरूपता—इन जीवोंको मिथ्यात्वभाव कितना क्लेश कर रहा है कि यह जीव चेतमें नहीं है, व्यग्र होता रहता है, निरन्तर अशान्त रहता है, इसका कारण क्या है? मिथ्याभाव। मिथ्याभाव यहाँ घर कर गया है, संतोष और आनन्दका धाम जो अपना चैतन्यस्वरूप है उस स्वरूपमें जब अपना प्रवेश नहीं तो दुःख तो होगा ही। मछली का अपना खुदका घर पानी है, समुद्र है, नदी है, तालाब है, कोई मछली किसी प्रकार उस समुद्रसे अलग हो जाय, बाहर जमीनपर पड़ जाय तो वह तो व्यग्र होगी, तड़फेगी, उसको शान्ति रंच मात्र भी नहीं है। व्याकुल हो-होकर मरण करेगी, ऐसे ही अपना जो निज धाम है, यह ज्ञानानन्दस्वरूप निज अंतस्तत्त्व उससे जब हम चिगकर किसी प्रकार बाहर फंस गए, इन बाहरी विषयभूत पदार्थोंमें लग गए तो हम व्यग्र ही तो रहेंगे, निरन्तर बेचैन ही तो रहेंगे और यह कुछ न कुछ सोचकर अपने द्वारा क्या किया जाय कि आदत पड़ी है, प्रकृति वही है कि यह बाहरके विषयभूत पदार्थोंमें ही रमण करे, सो ऐसा मिथ्यात्व कर्म, ऐसा यह जीवका मिथ्यापरिणाम इसे कितना दुःख दे रहा, इसमें क्या-क्या अवस्थायें होती हैं, ये सब जानते हैं, देखते हैं और इसी ग्रन्थमें पहले कहा भी जा चुका है, उसके सम्बन्धमें अधिक क्या कहना? जो दोष है उसे दोष रूपसे देखें और उससे अपनेको अलग कर देना है। मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, वही प्रतीति हम लोगोंकी रक्षा करेगी। यह ही शरण है, यह ही अगले भव में भी हमको कुछ शरण रहेगी और इस ही के प्रतापसे हम भवसे भी रहित हो सकते हैं।

अज्ञानं जीवभावो यः स स्यादौदयिकः स्फुटम् ।

लब्धजन्मोदयाद्यस्माज्ज्ञानावरणकर्मणः ॥११०३॥

ज्ञानावरणकर्मके उदयसे हुई अज्ञानदशाकी औदयिकताका निर्देश—तत्त्वार्थसूत्रमें आप पढ़ते होंगे कि औदयिक भाव २१ होते हैं—गति, कषाय, लिङ्ग, मिथ्यादर्शन, अज्ञान, असंयम, असिद्धत्व व लेश्या आदिक २१ भावोंका वर्णन यहाँ किया जा रहा है। तो क्रम प्राप्त मिथ्यादर्शनका वर्णन हुआ। अब अज्ञानभावका वर्णन करते हैं। देखो अज्ञानभाव दो प्रकार का होता है, एक तो ज्ञानकी कमी रूप अज्ञान और एक ज्ञानका उल्टा चलने रूप अज्ञान। तो जो ज्ञानका उल्टा चलने वाला अज्ञान है वह तो मिथ्यादर्शनसे सम्बंधित होना, सो क्षयोपशमिक होकर भी अशुचि है। वह अज्ञान औदयिक नहीं, है तो उसमें मिथ्यादर्शनके उदयका सम्बन्ध, मगर ज्ञान उल्टा भी चले, मगर ज्ञान चलना भी तो क्षयोपशम बिना नहीं बनता, इसलिए वह मिथ्याज्ञान क्षयोपशमिक भाव है, औदयिक भाव नहीं। ज्ञानमें इतनी योग्यता थी, ज्ञानावरण इतना कम रह गया था, क्षयोपशम था कि ज्ञान चला तो जरूर, मगर मिथ्यादर्शन का सम्बन्ध होनेसे उल्टा चला। उस अज्ञानकी यहाँ चर्चा नहीं है, किन्तु ज्ञानकी जो कमी है ऐसे अज्ञानको यहाँ औदयिक कहा जाता है। यह अज्ञानभाव इस जीवका भाव यह औदयिक भाव है। ज्ञानावरण कर्मके उदयका निमित्त पाकर अज्ञानदशा बनी है और यह अज्ञानदशा यह केवलज्ञानसे पहले-पहले रहती है। १२ वें गुणस्थान तक यह अज्ञानभाव पाया जाता है। अज्ञानका उल्टापन नहीं, वह तो अविरत सम्यक्त्वसे पहले ही नष्ट हो जाता है, लेकिन ज्ञान जब तक पूर्ण विकसित नहीं है, ज्ञानमें ऐसी जो काजोरी है वह कैसे हुई, क्यों हुई? जो विषम पर्याय होती है वह किसो न किसी निमित्तको पाकर ही होती है। यह अटल नियम है। तो चूँकि अज्ञानदशा विभाव है, विषम पर्याय है, वह किसका निमित्त पाकर हुई? ज्ञानावरण कर्मका निमित्त पाकर। देखिए औदयिकताका निर्णय करें और विवेकपूर्ण दृष्टिसे निरखें।

जीव विकारके प्रसंगमें दृष्टान्तपूर्वक निमित्त, उपादान व नैमित्तिक कार्यकी चर्चा— निमित्त व उपादान—इन दोनोंकी अलग-अलग दायें हुआ करती है। जैसे हमारे सामने दर्पण रखा है और हमारे पीछे कुछ बालक खेल खेल रहे हैं, खूब उछल फाँद रहे हैं, ऊधम मचा रहे हैं, जीभ निकाल रहे, हाथ पैर फिँका रहे तो वह सब प्रतिबिम्ब उस दर्पणमें हम देख रहे हैं। अब उस दर्पणमें जो प्रतिबिम्ब नजर आ रहे हैं वह सब उस दर्पणकी परिणति है या अन्यकी? दर्पणमें जो स्वच्छताका विकार चल रहा है वह दर्पणकी परिणति है। स्वच्छता ढक गई और वह फोटो आ गई। इस प्रकारका जो परिणामन चल रहा दर्पणमें वह दर्पणकी परिणति है और केवल हम उस दर्पणको निरख करके ही कुछ कहते जा रहे कि अब दर्पणमें ऐसा फोटो आया यह हाथ उठ गया, यह पैर उठ गया। केवल दर्पणको निरखकर दर्पणके विकारकी बात हम कह रहे। यह भी एक ज्ञान है। जब उसके निर्णयकी

बात आयगी तब कहना ही पड़ेगा कि 'दर्पण'में जो एक प्रतिबिम्ब हुआ है, वह इन खेलने वाले लड़कोंका सन्निधान पाकर हुआ है, दर्पणमें उसके मात्र स्वभावसे निरपेक्षतया निमित्तकी अनुपलब्धिमें नहीं हुआ। अगर ऐसा हो तो वह फोटो सदा रहेगी, फिर क्यों भाग जाता? लड़के भाग गए तो फोटो नदारत। यों निमित्तकी उपस्थिति व अनुपस्थिति निर्णय बताती है। इससे दोनों दृष्टियोंसे लाभ क्या मिलता है? सो कहाँके दृष्टान्तसे तो समझना क्या है? अपने आत्माका ही उदाहरण लो। आत्माके इस उपयोगमें रागद्वेष, कल्पनायें, विचार, तृष्णा, कषाय, लोभ ये सब बन रहे हैं, ये सब परिणमन हो रहे हैं, सो हम एक दृष्टिसे जिसे कहेंगे अशुद्ध निश्चयनय, उस अशुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिसे जब हम निरखते हैं तो यह ही देखेंगे कि जीवमें जीवके परिणमनसे जीवके ज्ञानविकल्पसे ये राग द्वेषादिक बन रहे हैं। वहाँ दूसरे पदार्थका नाम नहीं लिया जा सकता, क्योंकि वे निश्चयनयके मूडमें निरखे जा रहे हैं। निश्चयनय दो पदार्थोंको नहीं देखता, मगर जब निर्णय वास्तवमें करने लगे तो, निर्णय होगा क्या हुआ? क्यों हुआ? कहाँ हुआ? क्या मुझ आत्मामें मेरे स्वभाव से ही ये रागद्वेष उठ पड़े या कोई विधि है। तो वहाँ निर्णय बतायगा कि क्रोध, मान, माया लोभ प्रकृति, पौद्गलिक कर्म इनका विपाककाल आया, इनका विपाक फूटा, उसका प्रतिफलन हुआ, इस तरह उसे निमित्तमात्र करके यह जीव अपने ज्ञानमें विकल्प करने लगता। निर्णय यह बतायगा।

अशुद्धनिश्चयनय व निमित्तनैमित्तिक भावदृष्टिके लाभका निर्णय—अब यहाँ निरखें कि अशुद्ध निश्चयनय व निमित्तनैमित्तिक भाव इन दोनों दृष्टियोंसे लाभ क्या मिलेगा? जब हम केवल अशुद्ध निश्चयनयकी दृष्टि रखते हैं, जिसमें हम किसी पदार्थका ख्याल भी नहीं करते, केवल यह ही निरखते जा रहे कि जीवमें जीवके परिणमनसे, जीवके कारणपनेसे यह रागद्वेष परिणमन हुआ है। इस दृष्टिमें यह बात असत्य नहीं है और इसका लाभ लिया जाये तो यह मिलेगा कि जब निमित्तपर दृष्टि नहीं जा रही, केवल एक जीव उपादानपर ही दृष्टि है तो ये रागद्वेष जो लम्बे होते हैं, बुद्धिपूर्वक हुआ करते हैं, प्रकट करके हुआ करते हैं वे किसी बाह्यपदार्थका आश्रय करके हुआ करते हैं, तो जब इस अशुद्ध निश्चयनयके आलम्बनमें किसी भी बाह्य पदार्थका ध्यान नहीं दिया तो आश्रयभूत पदार्थके आलम्बन बिना रागद्वेष कैसे प्रतिष्ठाको पायेंगे? लाभ वहाँ यह हुआ, लेकिन इसमें कुछ असुगमता है अपेक्षा-कृत निमित्तनैमित्तिक भावोंके परिचयके। अब दूसरी दृष्टिका लाभ देखिये—जब निमित्तनैमित्तिक भावके परिचयमें यह जाना कि मुझ जीवमें जो ये रागद्वेष विकल्प हो रहे हैं सो ये मेरे स्वभावके रूप नहीं हैं, स्वभावकी मुद्रा नहीं हैं उस उस जातिके कर्मबिपाकका निमित्त पाकर यह भाँकी उनकी झलकी। जैसे कोई बाहरी पदार्थ जेय हो जाय तो जेयाकार जैसे

ज्ञानपर लद जाय, ऐसे ही पुद्गल विपाक इस जीवपर ज्ञेयरूपमें लदे तो जीवमें इसके अनादि विभ्रम पड़ा है, सो उससे अपना लगाव बनाता है इसलिए दुःखी होता है। तो जहाँ इस परिचयसे जाना कि ये विभाव पौद्गलिक कर्मके विपाकसे उत्पन्न होते हैं मेरे स्वरूप नहीं हैं, मेरे ज्ञानके साथ नहीं हैं, तब अपने सहज स्वरूपका ज्ञान बड़ा सुगम हो जाता, तो फिर मेरा स्वरूप क्या ? जब ये विभाव हैं, जब ये हेय हैं, परतत्त्व हैं, परकी छाया हैं तो मेरा स्वरूप क्या ? मेरा स्वरूप अपने आप सहज निरपेक्ष जो कुछ मुझमें बतें वह है। वह क्या, केवल जानन ज्ञानप्रतिभास, चैतन्यमात्र है।

स्वानुभवसे सहजस्वरूपका सुनिर्णय—अब इस सहज चैतन्यस्वरूपके बारेमें कोई अधिक पुछताछ करे तो उत्तर नहीं दिया जा सकता। जितने शब्द हैं उतने तक तो बात चली, मगर कोई कहे कि मेरे तो उपयोगमें उतार ही हो कि मेरा सहजस्वरूप क्या है, तो यह बताया नहीं जा सकता। यह तो आपके ही द्वारा, खुदके ही द्वारा उतारेसे उतर सकता है। जैसे मिश्रीके स्वादकी कोई चर्चा चलाये—अजी मिश्री बहुत मीठी होती है।...कितनी मीठी ?...अजी बहुत मीठी। बहुत-बहुत युक्तियाँ भी देंगे कि देखो पहले गन्नेके रसमें जो मिठास होता है उससे अधिक मिठास गुड़में होता है, गुड़से मँल निकालकर शक्कर बना दी गई तो उसका मिठास और भी अधिक होता है, और उस शक्करका मँल छांटकर मिश्री बना दी गई तो उसका रस और मीठा होता है, अजी उस मिश्रीके स्वादका क्या कहना ?...यों कितना ही शब्दों द्वारा कहा जाय, पर उसके स्वादका सही-सही ज्ञान यों नहीं हो पाता। तब फिर सही ज्ञान कैसे हो ? अरे उस मिश्रीकी डलीको उसके मुखमें धर दो, वह उसे चखेगा तभी उसके स्वादका वह सही-सही ज्ञान कर सकेगा। एक तो था शब्दों द्वारा ज्ञान और एक हुआ अनुभवात्मक ज्ञान। अनुभवात्मक ज्ञान हो जानेपर फिर उस ज्ञानमें संदेह नहीं रहता। उसमें दृढ़ता हो गई, स्पष्ट हो गया, अनुभवसहित होगा, ऐसे ही आत्माका वह सहज प्रतिभास उसका क्या रूप है ? यह वही पुरुष समझ सकता जो बाह्य विकल्प तजकर अपने आपमें परमविश्राम करेगा, और ऐसे पात्र पुरुषकी पहिचान है कि वह जरा-जरासी बातमें घबड़ायेगा नहीं। हम शास्त्र पढ़ रहे, जरासी प्यास महसूस हुई तो भट पानी पीने दौड़े, पिये बिना रहा नहीं जाता, ऐसी घबड़ाहट ज्ञानी पुरुष नहीं करता। जिसकी दृष्टि इस शरीरपर अधिक रहती है, जो मौज-मौजमें ही रहकर अपना जीवन गुजारना विचारता है वह आत्मा का अनुभव करनेका पात्र नहीं है। जिसके सम्यक्त्वका उदय हुआ है वह अपने जीवनमें यह कोशिश करेगा कि इन शरीर बाधावोंपर हमारा आकर्षण मत हो कि हम जरा-जरासी बात पर भी मर न जायें। अगर ऐसी आदत रही तो यह दुर्लभ स्वानुभूति प्रकट न होगी। तो यहां प्रकरण चल रहा है अज्ञान औदयिक भावका। यह अज्ञानभाव सम्यग्ज्ञानके होने पर

ही होता है, यह ज्ञानकी कमीरूप औदयिक भाव है। सो ज्ञानावरण कर्मके उदयसे यह अज्ञानभाव औदयिक होता है।

अस्त्यात्मनो गुणः ज्ञानं स्वापूर्वाविभासकम् ।

मूर्च्छितं मृतकं वा स्याद्व्युः स्वावरणोदयात् ॥११०४॥

आत्माके ज्ञान गुणकी महिमा—अज्ञानभाव औदयिक है अर्थात् ज्ञानस्वरूप आत्मामें जो ज्ञानकी कमी है, इस न्यूनताका होना कर्मोंके उदयका निमित्त पाकर है, अतएव यह औदयिक है। यहाँ होता क्या है कि आत्मामें एक ज्ञानगुण है और यह गुण सर्वप्रधान गुण है। ज्ञानके द्वारा ही अपने परकी, हित अहितकी परीक्षा होती है। इस ज्ञानके द्वारा ही आत्मामें जो अन्य गुण बसे हैं उन सब गुणोंकी जानकारी होती है। जैसे अरहंत भगवानके उपदेश से जो नहीं समझमें आ सकें ऐसे सिद्ध प्रभुकी, तत्त्वोंकी जानकारी होती है। ऐसे ही इस ज्ञानगुणके द्वारा आत्मामें जो और गुण हैं उन गुणोंकी जानकारी होती है। जैसे अरहंत भगवानके उपदेशसे जो नहीं समझमें आ सकें ऐसे सिद्ध प्रभुकी, तत्त्वोंकी जानकारी होती है। ऐसे ही इस ज्ञानगुणके द्वारा आत्मामें जो और गुण हैं उन गुणोंकी जानकारी होती है अथवा देखो आत्मामें अनेक प्रकारके गुण हैं। चेतन गुणमें अचेतन गुण दिख रहे—जैसे अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, अगुलघुत्व, प्रदेशत्व और प्रमेयत्व आदिक, ज्ञानदर्शनको छोड़कर शेष गुण भी सब ये चेतन तो नहीं हैं, अचेतन हैं। इनका स्वरूप चेतना नहीं है। तो चेतन गुण तो दो हैं—दर्शन और ज्ञान। और बाकी अनेक गुण उतने अनंत गुण अचेतन गुण हैं। मगर आत्मामें अचेतन गुण हैं इस नातेसे आत्माको अचेतन कहा जाना चाहिए ना? जहाँ चेतन कहनेका हक है ज्ञानगुणके कारण आत्माको चेतन कहनेका हक है, वहाँ ऐसे अनन्त गुणोंके अचेतनके कारण अचेतन कहनेका हक होना चाहिए। सो उस निर्णयके समय अनेकान्त लीला के समय कहा तो जा सकता है कि आत्मा चेतन भी है, अचेतन भी है, मगर आत्माको अचेतन कहनेमें दिल गवाह नहीं देता। वह एक ज्ञान गुण ऐसा प्रधान है कि जिसकी रश्मियां मानो सब गुणोंपर फैली हुई हैं। तो एक आत्मामें ज्ञान नामका जो गुण है, जो अपना और अपूर्व अर्थका प्रतिभास करने वाला है। ज्ञानकी यह तारीफ है कि वह अनेका और परपदार्थ का ज्ञान कराता है। जैसे आप जानते कि यह खम्भा है तो यह बात सच है ना? आप कहेंगे हाँ सच है और खम्भा है, इस तरहका जो ज्ञान हुआ है वह ज्ञान सच है ना? सच है। तो यह ज्ञान अपनी सच्चाईको भी पुष्ट कर रहा है और बाहरमें वे परपदार्थ खम्भा आदिक जो कुछ हैं उसके अस्तित्व को, सच्चाईको भी पुष्ट कर रहा, ऐसा मूल एक ज्ञानगुणका प्रभाव है जो अपने आपका भी प्रतिभास करता रहे और अन्य अपूर्व अर्थका भी प्रतिभास कराये, यह ज्ञान एक अपूर्व गुण है।

ज्ञानके स्वापूर्वार्थावभासनत्वके विरोधमें कुछ दार्शनिकोंके विचार—दार्शनिक लोग इस सम्बंधमें कितना ही तर्क उठाते हैं—कोई कहता है कि ज्ञान खुदको नहीं जान सकता याने जो ज्ञान बन रहा था, चल रहा था वह ज्ञान अपने आपके स्वरूपकी सच्चाईमें नहीं पहुंच सकता। कोई दार्शनिक यहाँ कहते हैं कि यह ज्ञान किन्हीं अर्थोंको जानता ही नहीं, अर्थ तो है ही नहीं कोई। जगतमें जो इतने पदार्थ दिखते हैं ये स्वप्नकी तरह मायामय हैं। ऐसा कुछ ज्ञानमें सोचा कि वे पदार्थ सामने आ गए, कुछ दार्शनिक ऐसा मंतव्य रखते हैं और जरा जल्दी सुननेमें तो ऐसा लगता होगा कि वाह कैसे दार्शनिक हैं जो दिखने वाली चीजों को भी कहते हैं कि यह सब केवल स्वप्न देखनेकी तरह है। है कुछ नहीं। ज्ञानमें कल्पना जगी, ज्ञानने एक इस तरहका विकल्प किया कि वह चीज सामने खड़ी हो गई। एक दार्शनिक यों कहता तो एक दार्शनिक यों कहता कि ज्ञान इन बाहरी पदार्थोंको तो जानता है खूब, मगर यह ज्ञान स्वयंको नहीं जानता। और दोनों प्रकारके दार्शनिकोंकी अपनी-प्रपनी बड़ी तेज प्रक्रिया हैं, जिन्हें संक्षेपमें बताया है। हाँ ज्ञान अपनेको नहीं जानता। उनका मंतव्य है स्वात्मनिक्रिया विरोधः किसी भी पदार्थकी अपने आपमें क्रिया नहीं हुआ करती और उनका दृष्टान्त है कि कुल्हाड़ी कभी अपने आपको काट नहीं सकती। अनेक काठ तो कुल्हाड़ी द्वारा काटते देखे गये, मगर स्वयंको कुल्हाड़ी नहीं काटती। ऐसे ही यह ज्ञान इन सारे पदार्थोंको तो जान लेगा, मगर खुदको नहीं जान सकता। यह तो आपको एक युक्तिका नमूना बताया। कैसी कैसी तेज युक्तियाँ देते हैं जिनको आप प्रमेयकमलमार्तण्ड, अष्टसहस्री जैसे दार्शनिक ग्रन्थों में खूब बिस्तारसे पायेंगे, जिनपर प्रवचन भी हुए, प्रकाशित भी हुए, उनको पढ़कर आप जानेंगे कि वे कैसे-कैसे अपने मंतव्यको सिद्ध करते हैं। तो दूसरा दार्शनिक जो यह कहता है कि यह तो बाहरकी कोई चीज ही नहीं है, केवल एक ज्ञानब्रह्म है और ये तो सब ज्ञानब्रह्मके ही रूप हैं, ये चीज नहीं हैं, उनकी युक्ति है। तुम्हारे ज्ञानमें न आये तो तुम्हारे लिए है कुछ ये क्या? पहली बात तो यह हुई। अब दूसरी बात—यह तो ज्ञानको ही जानता क्या वह परपदार्थोंको भी जानता। स्याद्वादी जैन भी तो यह ही बताते कि ज्ञान निश्चयसे स्वको ही जानता है, परपदार्थको नहीं जानता तो वे दार्शनिक कहते कि यह ही तो हम कह रहे कि ज्ञान परपदार्थको जानता क्यों नहीं, यों कि परपदार्थकी सत्ता ही नहीं। जो कुछ है वह ज्ञानका ही रूप है। बाह्य पदार्थ कुछ नहीं हैं।

ज्ञानके स्वापूर्वार्थावभासनत्वकी सयुक्तिक सिद्धि—स्वापूर्वार्थावभासनके विषयमें स्याद्वाद सिद्धान्त यह कहता है कि ये दोनों ही बातें एकान्तमें खिंच गईं सो गलत। ज्ञान स्वको जानता है निश्चयसे, ज्ञान व्यवहारसे परको जानता है अर्थात् परमें तन्मय होकर नहीं जानता इसलिए व्यवहार है। कहीं उस व्यवहारका यह अर्थ नहीं कि यह बात असत्य ही है कि परपदार्थको जानता ही नहीं है, पर पदार्थ हैं, उनके विषयमें जानकारी है, परन्तु अपनेमें

में ही तन्मय होकर जानता है इस कारण परको जानना व्यवहारसे और खुदको जानना निश्चयसे है और देखो जो ज्ञान खुदके सहीपनेका ज्ञान न रखे उस ज्ञानमें या उस ज्ञानसे बाह्य पदार्थके सहीपनका निर्णय हो ही नहीं सकता। जैसे हमने जाना कि यह खम्भा है तो खम्भाको तो हम आप डटकर जानते और यहाँ हम संदेह करें कि खम्भेको जिस ज्ञानने जाना वह सच्चा है या नहीं? ये दोनों बातें एक साथ हो सकती क्या? खम्भेको जानने वाले ज्ञानमें हम संदेह बनायें और खम्भेको हम सही स्वीकार करें—ये दो बातें एक साथ नहीं हो सकतीं। जहाँ जाना कि यह खम्भा है वहाँ दोनोंमें ही निर्णय है कि खम्भेको जानने वाला ज्ञान दर्शन है और यह खम्भा है यह भी सत्य है। इस तरह ज्ञानमें ये दो बातें पड़ी हुई हैं कि वह स्व को जानता है और परको जानता है।

ज्ञानावरणके उदयसे ज्ञानकी मूर्च्छितता—स्व और अपूर्व अर्थका प्रतिभास करने वाला एक ज्ञान नामक गुण है सो ज्ञानावरणका उदय होनेसे यह ज्ञानगुण मूर्च्छित अथवा मृतक शरीरकी तरह निश्चेष्ट हो जाता है याने उस ज्ञानको देखिये कि ज्ञानावरणका उदय होने पर जो अंश व्यक्त नहीं हुए हैं उस ओरसे तो यह मूर्च्छित है यह तो मानो मृतक कलेवर की तरह है। कैसा निमित्तनैमित्तिक भाव है। और देखो कोई कहे कि ऐसा ही होना था सो हो गया। क्यों हो गया? अब तक हम क्यों संसारमें रूले? अबसे पहले मोक्ष क्यों नहीं चले गए? निमित्तनैमित्तिक भाव असिद्ध नहीं है, नहीं तो वैज्ञानिक प्रयोग या आपकी रोज रोजकी बनने वाली रोटियाँ ये सब बंद हो जायेंगी। सब लोग जानते हैं कि भाई इस तरहसे भोजन बनता है—आग जलाया, उसके उपर बटलोहीमें पानी चावल, दाल आदि भरकर रख दिया लो थोड़ी ही देरमें खिचड़ी पक गई, रोटियाँ बनाकर आगके पास रखकर रोटियाँ सेक लिया, इस तरहसे सब लोग रोज-रोज देखते ही हैं। हाँ वस्तुस्वरूप ऐसा है कि एक पदार्थ दूसरे पदार्थका कुछ नहीं करता, निमित्त उपादानभूत पदार्थकी परिणतिको नहीं करता, मगर निमित्तकी उपस्थितिमें यह उपादान अपनी परिणतिसे अपना परिणमन बना लेता है। विषम विकार परिणमन निमित्तके अभावमें नहीं होता, तब ही तो इस बारेमें बताया है कि ये विकार हटाये जा सकते हैं, क्योंकि ये विकार अनैमित्तिक नहीं हैं, स्वाभाविक नहीं हैं। तो आत्माका गुण है ज्ञान जो कि स्व और परपदार्थका प्रतिभास करने वाला है, सो ज्ञानावरणके उदयसे ऐसा यह महत्त्वशाली ज्ञानगुण मूर्च्छित हो रहा। यह ओदयिकी बात बतला रहे, ऐसा अनादिसे अब तक है, इसका सम्बन्ध भी है। इसमें भी परिणति तो इस जीवकी ही है, इसी तरह की ही है, मगर निमित्तके अभावमें नहीं है।

अथादीदयिकत्वेपि भावस्यास्याप्यवश्यतः।

ज्ञानावृत्यादिबन्धेऽस्मिन् कार्ये वै स्यादहंता ॥११०५॥

औदयिक होनेपर भी इस अज्ञानभावमें बन्धाहेतुत्व — यह अज्ञानभाव औदयिक है । है औदयिक, फिर भी यह अज्ञानभाव बंधका कारण नहीं है । बताया था पहले कि अज्ञानका अर्थ दो प्रकारमें है एक तो उल्टा ज्ञान, विपरीत ज्ञान, कुबुद्धि और एक ज्ञानकी कमी । ज्ञान की कमी बंधका कारण नहीं, किन्तु उल्टा ज्ञान बंधका कारण है, सो वहाँ भी उल्टा ज्ञान बंधका कारण नहीं, किन्तु जिस मिथ्यात्वके सद्भावसे ज्ञान उल्टा बना है वह मिथ्यात्वभाव बंधका कारण है । एक दृष्टान्त है कि किसी एक बुढ़ियाके दो बेटे थे । सो एकको दिखता था कम और एकको दिखता था खूब, मगर सब कुछ पीला-पीला ही दिखता था ? वह बुढ़िया अपने दोनों बेटोंको वैद्यके पास ले गई । वैद्यने दोनोंको एक ही दवा दी । उस एक ही दवा से दोनों ही रोग खतम हो सकते थे । दवा क्या थी सफेद मोती भस्मको चाँदीके गिलासमें गायके दूधमें मिलाकर देना, बस इसी दवासे पीलिया भी दूर हो जायगा और कम दिखना भी दूर हो जायगा । सो वह बुढ़िया दवा ले गई । जिस बेटेको कम दिखता था, मगर सही दिखता था उसने तो दवाको देखकर पी लिया और जिसे सब कुछ पीला-पीला ही दिखता था वह बड़े रोषमें आकर बोला—मां मैं ही तुझे दुश्मन मिला, मुझे पीतलके बर्तनमें, गाय के मूत्रमें यह क्या हड़ताल मिलाकर दे रही हो । उसे सब कुछ पीला-पीला ही दिखता था सो उसने दवा नहीं पिया । अब कम और सही जिसे दिखता था उसका तो रोग दूर हो गया और जिसे अधिक परन्तु पीला दिखता था, मिथ्या दिखता था उसका रोग दूर न हुआ । ज्ञानावरणका क्षयोपशम भी विशेष हो जिससे जानकारी बने, परन्तु मिथ्यात्वका सद्भाव रहे तो उस ज्ञानसे कोई लाभ नहीं और ज्ञानकी कमी भी है पर सम्यक्त्वका सद्भाव है तो उस अज्ञानके होनेसे भी बाधा कुछ नहीं । ऐसा अज्ञान भाव तो १२ वें गुणस्थान तक होता है, जहां कि समुचित कारणसमयसार पर्याय होती है, जिसके बाद ही कार्यसमयसार हो जाता है । प्रभु बन जाता है, तो अज्ञानभाव औदयिक है, तिसपर भी ज्ञानावरणादिक कर्मोंके बन्ध का कारण नहीं है, क्यों नहीं और अज्ञानसे नुकसान क्या है—इन दोनों बातोंका स्पष्टीकरण करते हैं ।

नापि संक्लेशरूपोऽयं यः स्याद्वंधस्य कारणम् ।

यः क्लेशो दुःखमूर्तिः स्यात्तद्योगादस्ति क्लेशवान् ॥११०६॥

औदयिक अज्ञानभावमें क्लेशरूपता होनेपर भी संक्लेशरूपता न होनेके कारण बन्धकी अकारणता—ज्ञानावरणके उदयसे जो अज्ञानभाव होता, ज्ञानकी कमीरूप अज्ञानभाव संक्लेशरूप नहीं है, जैसे कि अभी दो बालकोंका दृष्टान्त दिया था—जिसकी दृष्टि कम थी उसे विवाद नहीं उठा जिसकी दृष्टि विशेष है पर पीलिया रोगके सद्भावसे उसको विवाद उठ गए, ऐसे ही अज्ञानमें, ज्ञानकी कमीमें विसम्बाद नहीं, संक्लेश नहीं है इसी कारण बंधका

कारण भी नहीं बनता, पर वह अज्ञानभाव भी क्लेशमूर्ति तो है ही। दुःखमूर्ति होना याने ज्ञानकी कमी होना यह जीवके लिए कष्ट है, क्लेश है, विपत्ति है और बंधका कारण सो है नहीं और क्लेशरूप है। क्यों क्लेशरूप है, इस बातको आगेके श्लोकमें बतायेंगे, पर यहाँ यह बात तो देखिये कैसी असमंजसकी बात लगती सी है कि जो औदयिक ज्ञानकी कमीरूप परिस्थिति कर्मका बंध तो कराता नहीं, किन्तु क्लेशमूर्ति अवश्य है। देखो क्लेशरूप होकर भी बंधका कारण नहीं, क्योंकि संक्लेशरूप नहीं, क्लेश बंधका कारण नहीं, किन्तु संक्लेश बंधका कारण है। हाँ तो यह अज्ञानभाव क्लेशरूप कैसे है ? इसको स्पष्ट करते हैं।

दुःखमूर्तिश्च भावोऽयमज्ञानात्मा निसर्गतः ।

वज्राघात इव ख्यातः कर्मणामुदयो यतः ॥११०७॥

यह अज्ञानरूप भाव, औदयिक अज्ञान, ज्ञानावरणके उदयसे उत्पन्न हुए ज्ञानमें कमी रूप अज्ञानभाव, यह स्वभावसे ही दुःखमूर्ति हैं। स्वभावके मायने उस हो अज्ञानके स्वभावसे, आत्माके स्वभावसे नहीं। किसी भी पदार्थको कहा जाता ना कि यह स्वभावसे ही ऐसा है याने मनुष्य स्वभावसे ही ऐसा होता तो मानो वह मनुष्य ढांचा जो बना है, जो एक पर्याय है उस पर्यायके स्वभावसे ऐसा है। तो अज्ञान औदयिक भावके स्वभावसे ही वह दुःखमूर्ति है, क्योंकि कर्मोंका उदय मात्र ही वज्रके आघातके समान दुःखदायी है। देखो यह सब संकेत प्रवचनसारमें मिलेगा, समयसारमें मिलेगा कि कर्मका आक्रमण ही एक कष्टमूल है। बंधका कारण तो केवल मोहनीयकर्म है, परन्तु आत्माको क्लेशरूप तो सभी कर्मोंका उदय है। कोई क्लेश स्वभावरूपमें नहीं आता, यह ही क्लेश है। कोई क्लेश वेदनमें होता है, कोई क्लेश वेदनमें नहीं आता, मगर जिस वस्तुका जो स्वरूप है, जो स्वभाव है उस स्वभावसे कुछ भी कमी होना, स्वभावके विकासमें कुछ भी हानि होना उस वस्तुके लिए वह आपत्ति है। क्लेश कहो, आपत्ति कहो। तो इस तरह यह बताया गया कि आठों ही कर्मोंका उदय आनन्दगुण का घात करने वाला है। यद्यपि अनन्त आनन्द प्रकट हो जाता है, अरहंत भगवानमें हो गया प्रकट मोहनीयका अभाव होने से और अज्ञानभावका भी विध्वंस ज्ञानावरणका क्षय होनेसे हो गया प्रकट और वहाँ ऐसी स्थिति है, मगर आत्माकी यह पूरी निरापद दशा ही तो फिर आगे बढ़नेकी आवश्यकता उसे क्या रहेगी ? आत्माकी सर्वथा सूक्ष्मतः निरापद दशा सिद्ध दशा है, जहाँ आठो कर्मोंका अभाव है। यह बात एक बहुत सूक्ष्म मति करनेसे स्पष्ट हो जाती है। निरापद पद व्यक्त हो जाने पर फिर आगे मंजिल नहीं हुआ करती। किसीकी भी मंजिल चलती ही तब है जब निरापदताकी कमी है। निरापद दशा प्राप्त होनेपर फिर आगे प्रगति, आगेकी मंजिल, आगेकी यात्रा, आगेका पौरुष नहीं हुआ करता। इसी बातको कुछ शंकायें उठा करके बताया जायगा।

ननु कश्चिद् गुणोऽप्यस्ति सुखं ज्ञानगुणादिवत् ।

दुःखं तद्वैकृतं पाकात्तद्विपक्षस्य कर्मणः ॥११०८॥

तत्कथं मूर्च्छितं ज्ञानं दुःखमेकान्ततो मतम् ।

सूत्रे द्रव्याश्रयाः प्रोक्ता यस्माद्वै निर्गुणा गुणाः ॥११०९॥

न ज्ञानादि गुणेषूच्चैरस्ति कश्चिद् गुणः भुखम् ।

मिथ्याभावाः कषायाश्च दुःखमित्यादयः कथम् ॥१११०॥

औदयिक अज्ञानभावके क्लेशरूपत्वके प्रतिपादनपर एक आशंका—इन तीन श्लोकों में एक शंकाकारने अपनी शंका जाहिर की है। शंकाकार यह कह रहा है कि अभी यह बताया गया था कि आत्मामें एक ज्ञानगुण है, सम्यक्त्वगुण भी बतलाया। ज्ञानगुणके घात पर चर्चा होते होते अज्ञानको क्लेशरूप बताया जो सुखका विपक्ष है तो क्या कोई आत्मामें सुखगुण भी होता याने आनन्दगुण भी होता क्या? हाँ होता तो है ही, पर प्रश्नरूपमें पूछा गया तो उस आनन्दगुणका जो विभावभाव है वहाँ दुःख है क्या? अच्छा दुःख है तो वह दुःख याने आनन्दगुणका विभाव, आनन्दगुणके विपक्ष कर्मके उदयसे होगा। फिर यहाँ यह मूर्च्छित ज्ञानको सर्वथा दुःख कैसे कहा गया? शंकाकार तो प्रसंगकी शंका कर रहा। अभी एक शंका और हुई इससे सम्बंधित कि क्या ८ कर्मोंका ही उदय इस जीवको क्लेशरूप है, इसका समाधान भी मिलेगा? उत्तर देते हुए अभी प्रारंभमें यह चर्चा चल रही है कि जब आत्मामें आनन्द नामका गुण है और आनन्दगुणका विकार है दुःख तो आनन्द गुणका जो प्रतिपक्षी कर्म है उसके उदयसे दुःख होगा, अज्ञानसे दुःख क्यों बताया, क्योंकि अज्ञान तो ज्ञानावरण कर्मके उदयसे हुआ और कोई दुःख, क्लेश यह तो आनन्दके घातक कर्मके उदयसे होगा। तो अज्ञान चाहे मूर्च्छित हो, ज्ञान मूर्च्छित बन गया, अज्ञान है, फिर भी वहाँ कष्ट कैसे कहा गया? क्योंकि ज्ञानगुणमें आनन्दगुण तो मिला नहीं। एक गुणमें दूसरे गुण नहीं होते द्रव्याश्रयानि गुणाः गुणाः, फिर अज्ञानभावमें उस मूर्च्छित स्थितिमें दुःख कैसे हो गया? एकपक्षसे यह प्रश्न पूछा। दूसरे पक्षसे यह प्रश्न होता कि यदि ज्ञानादिक गुणोंमें सुख गुण नहीं है, आनन्दगुण नहीं है तो मिथ्याभाव और कषायादिक दुःख क्यों कहे जाते, क्योंकि सब ज्ञानके ही तो परिणामन हैं। ज्ञान ही तो विपरीत अज्ञान रूपसे परिणम गया, मिथ्या बन गया, ज्ञान ही तो रागद्वेष ही मुद्रा रख करके परिणम गया। लो कषाय बन गया। शंकाकारके अभिप्रायकी बात यह है कि ज्ञानगुणके समान कोई सुखगुण भी है और दुःख उसकी वैभाविक अवस्था है। यदि ऐसा है तो फिर अज्ञानभाव या मिथ्याभाव तो या कषायभावकी दुःखरूप कह ही नहीं सकते। आनन्दका विकार दुःख होगा, कषाय क्यों दुःख होगा? मिथ्यात्व क्यों दुःख होगा ही अज्ञान क्यों दुःख होगा? जब आत्मामें आनन्दगुण भी माना गया है तो आनन्द

गुण का विकार दुःख है और कुछ भी दुःख नहीं कहा जाना चाहिए । दूसरी बात—यदि ज्ञानादिक गुणोंकी तरह कोई सुखगुण है ही नहीं तो फिर क्लेशकी चर्चा ही क्यों की जाती ? होने दो विकार । जैसे अचेतन पदार्थ जल जायें तो उनको क्या ? काठ पड़ा है, जल गया, राख हो गया तो उसे क्या ? इसी तरह आत्मामें यदि आनन्द नामका गुण नहीं है तो यह कुछ भी जाने, कैसा ही जाने, क्या हर्ज है ? दुःख तो इसे होना ही न चाहिए तो इसके उत्तरमें कहते हैं ।

सत्यं चास्ति सुखं जन्तोर्गुणो ज्ञानगुणादिवत् ।

भवेत्तद्वैकृतं दुःखं हेतोः कर्माष्टकोदयात् ॥११११॥

आठों कर्मके उदयसे आनन्दगुणकी विकृत दुःखरूपता—इस जीवमें आनन्द नामका जो गुण है, सुख नामका जो गुण है, जैसा ज्ञान है, सम्यक्त्व है, सो जब आठों कर्मका उदय है तो उसका निमित्त पाकर यह आनन्द गुण विकृत हो जाता है, दुःखरूप हो जाता है । देखो शक्तियाँ दो प्रकारसे कही जाती हैं—(१) सामान्यरूप, (२) विशेषरूप । आठों कर्मोंमें सामान्यतया शक्ति यह है कि वह क्लेशका निमित्त बने और विशेषरूपसे जुदे-जुदे कर्मोंकी विशेष शक्तियाँ बतायी गई हैं कि ज्ञानावरण आत्माके ज्ञानके आवरणका निमित्त है, ऐसा ही सबके अलग-अलग काम बताये, पर एक सामान्यरूपसे देखें तो आठों कर्मोंका ही उदय इस जीवके लिए कष्ट है, क्लेश है, आपत्ति है, निरापदता नहीं । निरापदता तो एक तुलनामें मानी जाती है । सम्पूर्णतया निरापद दशा तो ८ कर्मोंके नष्ट होनेपर ही मानी जाती है । तो जैसे ज्ञानगुण अनुजीवी है ऐसे ही सुखगुण भी अनुजीवी है और इस दुःखका घात करने वाले कोई अलगसे कर्म नहीं हैं । बताया तो जाता है असातावेदनीय, मगर सातावेदनीय भी अन्य दुःखका कारण है, असातावेदनीय भी दुःखका कारण है और उसके अतिरिक्त शेष ७ कर्म भी क्लेशके कारण हैं, पर साता और असाताका व्यापार दुःख और सुखके स धनके सम्पादनमें होता है, जिसे धवलमें बहुत विस्तारसे स्पष्ट किया गया है, जिससे रूढ़िसी हो गई कि वेदनीय कर्म सुख दुःखका कारण है । तो आठों ही कर्म आनन्दगुणके घातक हैं, अतएव वह सामान्य शक्ति कही गई और इस तरह यह अज्ञानभाव दुःखरूप है, यह प्रकृतमें बात समर्थित की गई ।

अस्ति शक्तिश्च सर्वेषां कर्मणामुदयात्मिका ।

सामान्याख्या विशेषाख्या द्वैविध्यात्तद्वसस्य च ॥१११२॥

समस्त कर्मोंकी उदयात्मिक सामान्य शक्तिका बिपाक है क्लेश—प्रश्न चल रहा था कि औदयिक जो अज्ञानभाव है, ज्ञानावरण कर्मके उदयसे जीवमें जो ज्ञान की कमी है, ऐसा जो अज्ञानभाव है वह क्लेशरूप है । तो यह पूछा गया कि अज्ञानभाव क्यों क्लेशरूप है, कैसे है ? उसको किसने क्लेशरूप बनाया ? उसका निमित्त कौन है ? तो उत्तर यहाँ दिया गया था

कि आठों कर्मका उदय याने विपाक है। उसीका खुलासा कर रहे हैं कि कर्मोंका उदय, कर्मों का विपाक, अनुभाग, उसका सामर्थ्य २ प्रकारका है—(१) सामान्यसामर्थ्य, (२) विशेष-सामर्थ्य, क्योंकि ये कर्मोंके रस दो ही प्रकारसे आते हैं—(१) सामान्य सामर्थ्यके प्रकटपनेसे और (२) विशेषसामर्थ्यके प्रकटपनेसे। जब रस दो प्रकारका है—सामान्यरस, विशेषरस, तो उनकी बात भी दो प्रकारसे बनती। अब आठों कर्मके उदयमें सामान्यशक्ति यह है कि उसका फल क्लेशरूप है और विशेष-विशेषमें जुदी-जुदी बात बतायी ही गई है। ज्ञानावरण कर्मके उदयसे ज्ञान न होना, दर्शनावरणके उदयसे दर्शन न होना, वेदनीयके उदयसे इष्ट अनिष्ट वस्तु का संग सम्पादन होना और इन्द्रिय द्वारा अनुभवन होना, मोहनीयके उदयसे मोह होना, कषाय होना आदिक, आयुके उदयसे जीवको शरीरमें रुका रहना, नामकर्मके उदयसे नाना प्रकारके शरीरोंकी रचनायें होना, गोत्रके उदयमें ऊँच-नीच कुलमें जन्म लेना, तो जो सामान्य शक्ति है उसका परिणाम है क्लेश। क्या है यह सामान्यशक्ति ?

सामान्यतया यथा कृत्स्नकर्मणामेकलक्षणात् ।

जीवस्याकुलतायाः स्याद्धेतुः पाकगतो रसः ॥१११३॥

कर्मोंकी सामान्यशक्तिका पाकगत रस—सभी कर्मोंकी सामान्यतया शक्ति एक है और समस्त कर्मोंका उदयरस जीवकी आकुलताका कारण है। सामान्यरूपसे ही सोचो—क्या किसी कर्मका उदय निराकुलताका कारण हो सकता है ? बस इस सामान्यरसके बलपर यह कहा गया है कि आत्मा आठों कर्मोंके उदयरससे जीवको क्लेश होता है याने जीव आठों ही कर्मोंके उदयसे व्याकुल है। जहाँ ८ हैं वहाँ तो शंका होती ही नहीं, जहाँ चार रह गए, घातियाकर्म नष्ट हो गए अरहत प्रभुमें, वहाँ भी सोचना पड़ेगा कि अनन्त आनन्द तो वहाँ प्रकट है सो ठीक है, आनन्द अनुजीवी गुण है और उनको घातने वाला घातिया कर्म है, इस-लिए घातियाकर्म न रहें तो अनन्त आनन्द प्रकट हो गया, तिसपर भी जो कर्मउपाधि है वह वही तो है जो पहले व्याकुलताके साथ थी। उस तिकड़मसे वे कर्म निरापदताको बताते नहीं हैं। सभी कर्मोंमें सामान्यशक्ति एक है ? और उस सामान्यशक्तिसे आनन्दगुणका घात होता है। विशेष शक्तियां जुदी-जुदी हैं। जैसा कि अभी बताया था। तो कर्मोंमें सामान्य शक्तिके प्रतापसे व्यग्रता होती है, विशेष शक्तिके प्रतापसे भिन्न-भिन्न कार्य हैं। वे कार्य भी व्यग्रता को दूर नहीं करते हैं। अब यहां एक शंका यह हो सकती कि ऐसी दो बातें कहीं हुआ करती हैं कि किसी एक पदार्थमें ऐसी भिन्न-भिन्न दो शक्तियां हुआ करती हों, उसीका उत्तर आगे दिया जा रहा है।

न चैतदप्रसिद्धं स्याद् दृष्टान्ताद्विषयभक्षणात् ।

दुःखस्य प्राणघातस्य कार्यद्वैतस्य दर्शनात् ॥१११४॥

प्राणघात व दुःख इन दो कार्योंके कारणभूत विषभक्षणके दृष्टान्तपूर्वक कर्मोंमें सामान्य व विशेष विकार इन दो विकृत कार्योंसे सामान्य व विशेष शक्तिकी प्रसिद्धि—हां ऐसा दृष्टान्त है जिससे यह सिद्ध होगा कि चीज एक है, उसके कार्य दो देखे जा रहे हैं। जैसे विषका भक्षण कर लिया किसी जीवने तो विष खानेका फल क्या है? प्राणघात होना, मृत्यु हो जाना। मगर एक फल और भी तो देखा जाता कि वह व्यग्र होता, दुःखी होता, दुःखी हो-होकर मरता। तो जैसे विषमें दो प्रकारकी शक्तियाँ हैं कि मृत्यु भी होना और दुःखी भी होना, ऐसे ही और भी दृष्टान्त मिलेंगे कि पदार्थ एक है और शक्तियाँ उसमें दो तरहकी हैं तो ऐसे ही उन कर्मोंमें दो प्रकारकी शक्तियाँ हैं—(१) सामान्यशक्ति और विशेषशक्ति। सामान्यशक्तिका फल तो व्यग्रता है और विशेषशक्तिका फल वे विशेष-विशेष बातें हैं। तो जैसे विष खानेसे दुःख भी होता और प्राणोंका नाश भी होता, ऐसी दो शक्तियाँ हैं। ऐसे ही ज्ञानावरण कर्ममें दो शक्तियाँ हैं—ज्ञानका घातक होना याने ज्ञान प्रकट न हो और क्लेशरूप होना क्लेशमें, यद्यपि मुख्यता मोहकर्मकी है, ज्ञान कम है और साथ ही इच्छा लगी है जानने की, तो वहां क्लेश होता है, मगर केवल एक ही स्वतंत्र कोई कारण नहीं है कर्मोंमें। सब परस्पर एक सामान्यशक्तिमें पड़े हुए हैं। तो अज्ञानभाव रहता है तो उससे क्लेश भी होता है और ज्ञानकी कमी भी होती है।

स्वार्तिस्थितियोंमें जीवको ज्ञानमें ही संपत्ति आदिकी उपलब्धि—अब यह विचार करो कि जगतके जीवोंमें प्रायः दो अभिलाषायें रहती हैं कि मेरेको ज्ञान खूब बढ़े और आनन्द पूरा मिले। देखो बात दो हैं, उनमें मुख्य बात एक है—आनन्द मिले, पर चूँकि यह जीव है, उपयोगरूप है तो इसमें महत्त्व आँकनेकी प्रकृति भी रहती है तो वह ज्ञानसे अपनी महिमा समझता है। जैसे किसी बालकसे सवाल पूछा जाय—बताओ बेटे $८ \times ५ =$ कितने होते हैं? तो जब तक उसे उत्तर नहीं आता तब तक बड़ी व्यग्रता रहती है। उसका मुख देखो तो कष्टमयी मुद्रा रहेगी और जिस कालमें उत्तर आ गया $८ \times ५ = ४०$ होते हैं तो उस समय उसकी मुस्कराव देख लो, उसका चेहरा देख लो कितना आनंद वाला होता है? उतना आनंद वाला चेहरा तो उसे कुछ मिठाई खिलायी जाय तो भी नहीं आता। ज्ञानमें एक अलौकिक वस्तु होती है और देखो सारी बात अपने ज्ञानकी है। ज्ञानसे ही सुख, ज्ञानसे ही दुःख, ज्ञानसे ही संसारमें भटकना, ज्ञानसे ही मोक्षमें पहुंचना। ज्ञानकी दशायें हैं जुदी-जुदी। जिस ज्ञानमें यह विकल्प आये कि मेरा यह पुत्र है, यह परिवार है, यह वैभव है, बड़ा आनंद है। इस तरहकी ज्ञानमें जानकारो चले तो उसे सुख मिलता है? जहां यह जानकारो की कि मेरा पुत्र आज्ञाकारी नहीं निकला, मेरे धर्म इतना टोटा पड़ गया है...यों कोई बात विकल्पमें आयी तो उससे वह दुःखी होता है। जहां बाहरी पदार्थोंके प्रति समता, अहंकारका भाव बना, ज्ञानमें ऐसा

विकल्प उठा कि वह संसारमें रहने लगा। जहां जानने ऐसी जानकारी की कि मेरा स्वरूप तो एक सहज ज्ञानभाव है, बस ज्ञानस्वरूप इतनी ही मेरी विश्रुति है, इससे बाहर मेरी संपदा नहीं है। बाहरमें कहीं सम्पदा मानना यह तो मेरेमें विपत्ति हुई। इसे सम्पत्ति न कहेंगे। बाहरमें कुछ भी चीज है वह तो सम्पत्ति नहीं कहलाती, क्योंकि चीज है, पड़ी है, स्वरूप है, वह खुद सम्पत्ति नहीं कहलाती, पर इस मनुष्यके चित्तमें जब यह विकल्प होता है कि यह अच्छी चीज है, सुखकारी है... तब उसका नाम सम्पत्ति पड़ता है। जैसे लोग कहा करते हैं भाव, चांदीका भाव कितना, सोनेका भाव कितना? तो उनमें भाव पड़ा हुआ है क्या? वे तो एक पुद्गल हैं, ढेर हैं। आज लोगोंने उनमें कल्पना कर रखी है कि ये सुहावने लगते हैं तो उनके बारेमें लोगोंने भाव बन गए कि ये बड़ी चीज हैं। तो पुरुषोंके जो भीतरी भाव हैं, परिणाम हैं उसीके मायने भाव है। चांदीका, सोनेका, निजका, खुदका कोई भाव नहीं है, वह तो एक पृथ्वीकायिक चीज है। जैसे पृथ्वी है, पर्दत है, पत्थर है ऐसे ही वे सोना चांदी वगैरा भी पृथ्वीकाय हैं, उनमें खुदका कुछ भी भाव नहीं पड़ा है, पर लोगोंने कल्पना कर ली—कम मिलता है, सुहावना लगता है और किन्हीं भी कारणोंसे मनुष्योंके मनमें उसके प्रति भाव बना इस कारणसे उसका भाव रहता है, भाव कहीं सोना चांदी वगैरामें कुछ नहीं हुआ करते, ऐसे ही जगतमें ये वैभव, धन, कागज, उनकी क्या कीमत है? कहीं फंस गए ऐसी जगह कि जहां मानो इन नोटोंके तो ढेर लग हों, पर खानेको वहां कुछ न हो, भूख खूब लगी हो तो बताओ क्या करेंगे वे कागजके नोट? उनसे कोई आपका पेट भरेगा क्या? मतलब यह है कि जब इन मनुष्योंको इन अजीब पदार्थोंके प्रति इष्ट अनिष्ट बुद्धि जगती है, सुहावने मालूम होते हैं तो ये पदार्थ सम्पत्ति कहलाते हैं, ये स्वयं अपने आप सम्पत्ति हों, ऐसी बात नहीं।

ज्ञानमें ज्ञानस्वरूप शाश्वत परमार्थ संपत्तिकी उपलब्धिका महत्त्व—अच्छा तो इतनी बात तो यहां आयी कि इन बाह्यपदार्थोंका महत्त्व, इनका सम्पत्तिपना तब है जब इस ज्ञानमें उनके प्रति आदर हो। अच्छा तो ज्ञानमें जो आदरभाव जगा, ज्ञानकी जो इस प्रकार परिणति बनी वह बाहरमें है या ज्ञानमें? सम्पत्तिका ज्ञान ज्ञानमें है। और कदाचित् यह जीव अपने ज्ञानके असली स्वरूपको समझ जाय, उसकी ज्ञानदृष्टि, ज्ञातापन केवल प्रतिभासमात्र और जरा ध्यानमें आयें कि उसका स्वरूप क्या है? स्वरूप ध्यानमें आयगा कुछ निर्विकल्प स्थिति बनाने पर, बाहरी पदार्थोंको असार जानकर। बाहरी पदार्थोंके विकल्प न कर एक विश्रामसे रहें और उस समयमें इस जीवको अपने सहजज्ञानस्वरूपका एक लक्षण चित्तमें आया, ज्ञानमें ज्ञानरस आया, तो असली सम्पत्ति तो वह है। लोग भगवानको क्यों मानते? यों कि उन्होंने असली सम्पत्ति प्राप्त कर ली, वास्तविक सम्पत्ति परमार्थ सम्पत्ति है आत्माका पूर्ण शुद्ध स्वभाव प्रकट हो जाना, यह सम्पत्ति उन्होंने प्राप्त की इसलिए प्रभु बने हैं। अब यहाँ ढंग

देखो कि प्रभुके आगे, प्रभुमूर्तिके आगे विनय करें नमस्कार करें और चित्तमें यह बात करें कि समझदार तो हम हैं। हम इतना कमाते हैं, इतना सब कुछ करते हैं और प्रभुके स्वरूप का तो ख्याल ही नहीं कि इसका महत्त्व क्या है? केवल एक लौकिक जड़ पदार्थकी तरह महत्त्व समझ रखा कि ये सुख दुःख दिया करते हैं, यहाँ तक ही समझ बनी है और चित्त यह कह रहा कि ठीक तो मैं हूँ, महत्त्व तो मेरा है, प्रभुस्वरूपको जाना नहीं तो महत्त्व चित्तमें आयागा कहाँ? तो जब ऐसा अंधकार छाया है तो इस जीवको वहाँ भी क्लेश है, जहाँ स्वरूपका सही परिचय नहीं वहाँ पर क्लेश ही क्लेश है।

आत्मशोधनके प्रसंगमें क्रोधविकारके विजयका चिन्तन—अब अपने आत्माको भीतर से प्रयोग विधिसे कुछ सुधारें तो, कुछ प्राप्त तो करें, कुछ देखें तो सही कि हममें शुद्धि आयी कि नहीं और व्यर्थ ही एक धर्मचर्चके नामपर एक मन-मुटाव बने, दिल भी न रहे तो वह क्या बात हुई? जैसे मानो कोई दो बालक आपसमें चर्चा कर रहे थे कि यहांके स्टेशनसे पंजाबमेल गाड़ी कितने बजे निकलती है, तो एक बालक तो कह रहा था १० बजे निकलती और एक कह रहा था ६ बजे निकलती है। उन दोनोंमें इसी बातका एक विवाद बन गया और उसका रूपक ऐसा बना कि दोनोंमें हाथापायी भी हो गई। इतनेमें कोई तीसरा पुरुष निकला, बोला—बेटे तुम लोग क्यों आपसमें लड़ रहे? तो उन्होंने अपनी-अपनी बात कही। तो वह पुरुष बोला—क्या तुम लोगोंको किसीको उस पंजाबमेलसे कहीं जाना है? तो वे बोले हमें किसीको जाना तो कहीं नहीं है। अरे जब कहीं जाना नहीं है तो फिर लड़ झगड़ क्यों रहे? तो थोड़ा-थोड़ा समझ-समझकर अपने आपपर भी तो कुछ उतारते हुए जीवनमें चलें। क्रोधमें कमी आयी अथवा नहीं। जरा परीक्षा तो करो, क्या वैसा ही क्रोध अभी है जैसा कि अभी तक चलता चला आया था और वही क्रोध मानो रहा जीवन तक तो हमने इस जीवनका लाभ क्या उठाया? कभी कुछ चिन्तन तो बनाना चाहिए। चिन्तन ही उस विषय का न करें तो उसका प्रयोग क्या बना सकेंगे? विचार करें, कौनसी कमी आती जो यह गुस्सा प्राता, दूर नहीं होती, सब समझमें आ जायगा। कमियोंमें ही तो विषमता हुआ करती है। पहली कमी तो यह है कि स्वयंका यह विश्वास नहीं बना कि मेरा स्वरूप क्रोधरहित है, मेरे स्वरूपमें क्रोध है ही नहीं। वह तो एक शुद्ध स्वच्छ है, मेरा स्वरूप नहीं। क्रोध जो आया है सो क्रोध प्रकृतिके उदयमें झलका है, यह तो मुझसे अत्यन्त निराला है, मैं तो क्रोध विकाररहित स्वरूप हूँ। पहली प्रतीति झुटि तो यह है कि यह नहीं बनी। मुख्य बात कह रहे हैं जिसके कारण कितनी ही कोशिश करें तो भी क्रोध दूर न होगा। पहली बात तो यह है। दूसरी बात हम ध्यानमें बात नहीं लाते कि क्रोधसे कितनी ही हानियाँ हैं, इस क्रोधसे जीव का कुछ सुधार हाता नहीं। लौकिक दृष्टिसे क्रोधके कारण लोग आपक शत्रु बन बैठेंगे। आप

किसीको सुहाय्ये नहीं। यहाँ भी नुक्सान, आगे भी नुक्सान। यह बात चित्तमें जमायें तो क्रोध करनेमें कमी भी आये। बताओ क्रोधसे क्या लाभ है कि क्रोध करते समय खुदको भी जला डाला, दुःखी कर डाला और उस क्रोधकी व्यग्रता हो तो दूसरे भी दुःखी हो जाते, उस क्रोधमें लाभ क्या? जब किसी तरहका चिन्तन ही नहीं किया उस बारेमें तो प्रगति कैसे हो? तो ध्यानमें लायें, जो कषाय कम नहीं होती, क्रोध ज्योंका त्यों रहता उसका कारण क्या है? प्रथम बात क्रोधरहित आत्मस्वभावका परिचय नहीं किया। स्पष्ट उसकी प्रतीति में नहीं है कि मैं तो यह अविकारस्वभावी चैतन्यमात्र तत्त्व हूँ, याने प्रतीति नहीं हुई, उस क्रोधके बारेमें सच्चा ज्ञान नहीं किया। क्रोध क्या है और पहले बांधी हुई क्रोधप्रकृतिके विपाककी झलक है, यह मेरा स्वरूप नहीं है। जैसे दर्पणमें ज्ञानका प्रवेश करते कोई सोचे कि दर्पणका स्वरूप तो फोटोरहित है, झलकरहित है, केवल अपने आपमें स्वच्छता मात्र है, स्वयं की झिलमिल वाला है। फोटो तो यह उस बाह्य पदार्थकी झलक है। इस तरह जब निर्णय नहीं बनता, यह यहाँ भेदविज्ञान न जगे और उस क्रोधको ही अपना स्वरूप मान बैठे तो उस क्रोधका हटाना बन कैसे सकेगा? दूसरे—उस क्रोधके बारेमें लौकिक दृष्टिसे भी चिन्तन नहीं किया कि उसके प्रयोगमें खुद भी दुःखी होवे और दूसरा भी दुःख पाये, उसको खुदको भी आफत और दूसरा भी विपत्तिमें आया।

मान माया कषायके ऊधमके विषयमें अनुचिन्तन—मान कषायमें भी बड़ी कलमषता है—बचपनमें और तरहका मान था, जवानीमें और तरहका, बूढ़े हो गए, मरणके सम्मुख हो गए, मगर मान कषाय नहीं छूटा। भले ही कभी कोई बड़ी प्रशंसायें करे तो वह बड़ी नम्रतासे परिचय देगा, मगर भीतरकी जड़को समझो—कोई मांगे छाछ और पेश करे वह दूध तो वह अपनी नम्रता आनन्दकी मुद्रा दिखायेगा, मगर अपने आपपर क्या बीत रही है, इसपर बुद्धिपूर्वक व अबुद्धिपूर्वक सो वह सारी कतुषता पड़ी हुई है। शरीरके माँकी मुद्रायें भिन्न-भिन्न प्रकारकी हैं और धर्मके मार्गमें आकर अगर मानकी पुष्टि की जाय तो वह अनन्ता-नुबन्धी मान है। तो जरा कषाय मंद करके और अपने स्वरूपका परिचय करते हुए थोड़ा बहुत तो आत्मामें आयें। कोई आदमी दिनभर काम करके थक जाता है तो कुछ समय काम का छोड़कर अपने शरीरको ढीला-ढाला जमीनपर बिछाकर, लेटकर एक विश्रामका अनुभव करता है, मगर यह पाजी भीतरके भ्रमजालसे बड़े-बड़े विकल्पोंके भ्रम कर-करके यह बहुत थक गया। विकल्पमें देखो बहुतसे दुःख होते हैं। थक गया तो थकान मिटानेके लिए क्षणभर तो विकल्पोंको त्यागकर निविकल्पस्वरूप आत्माके सहज चैतन्यस्वभावमें कुछ दृष्टि तो करें, वहाँ ज्ञानको तो ले जायें, कुछ क्षण ऐसी स्थिति तो बनायें, पर इसकी सुध नहीं है, माया, कषाय, छल, कपट ये कषाय कम नहीं होते, बढ़ते ही जा रहे, ऐसे अनुभव होंगे, मगर भीतर

एक आत्महितकी दृष्टिसे कुछ निगाह चलेगी, यह लीला छल कपट किसलिए कि मेरी इज्जत बढ़े, मेरेको अमुक मुकदमेमें विजय हो, यह मान माया आदि कषाय जब तक जगे तब तक धर्मका प्रवेश नहीं। गुजर गया बहुत समय, मगर अब तो चिन्तन करो कि यह माया चीज क्या है ? यह मलिनता यह मेरे आत्माके स्वरूपमें नहीं। आत्माका जो परमार्थ प्राण है चैतन्य, वह तो केवल एक चैतन्यप्रकाशको लिए हुए है। वहां विकृति नहीं समायी हुई है। यह आत्मा स्वतंत्र है। यहां तो कर्मरस, कर्मभार, कर्मलीला, कर्मविपाककी भांकी ये सब ऐसे लदे हुए हैं जैसे किसी दर्पणपर बाहरी वस्तुओंका प्रतिबिम्ब लदा हुआ है। ऐसे ही मुझपर कर्मरसकी भांकी लदी पड़ी हुई है। यह मैं नहीं हूं। मैं तो एक सहज चैतन्यस्वभाव मात्र हूं, यह दृष्टि की गई क्या ? इस दृष्टिके लिए मनमें बात आती क्या ? सामायिक आदिक के प्रसंगमें ऐसा अपना जानोपशोग बना क्या ? कुछ भी पौरुष प्रयोग नहीं करते तो आपकी मौज है, धर्म करते वह भी मौजमें, दूकान भी मौजमें, सब कुछ एक मौजमें करते-करते जीवन में कोई सफलता नहीं मिलती। आत्मदर्शनका धुनिपूर्वक कार्य हो तो सफलता मिलती है।

लोभकषायकी विपत्तियोंसे बचनेपर विचार—लोभकषायकी बात देखो—तृष्णा करना लोभ है। जैसे-जैसे आयु बढ़ती है, धन भी बढ़ता है, सम्पत्तिवान हो गए हैं, क्या यह तृष्णाका रंग कुछ कम हुआ अथवा इस तरह यह बढ़ता ही जा रहा। तृष्णा करके किसी ने आनन्द पाया क्या, विश्राम पाया क्या ? क्यों नहीं तृष्णा दूर हुई ? उसका कारण है—तृष्णारहित मेरा स्वरूप है, ऐसा अन्दरमें देखा नहीं। तृष्णा विकाररहित आत्माका सहज चैतन्यस्वरूप परिचयमें आया नहीं। किसी भी क्षण इस तृष्णाके विकल्पसे हटकर विशुद्ध प्रतिभासमात्र स्थितिमें क्षणभर भी आये नहीं, और चूँकि यह स्वयं परमेश्वर है, अपनी महिमा के प्रसारमें लगता है और बात बनी नहीं तो बाहरी पदार्थके सम्बंधसे अपनी महिमाका नाता जोड़कर बाहरी पदार्थोंकी धुनमें लगा हुआ है। कभी मानो कोई बीमारी हो गई तो उसमें तो खर्च करना ही पड़ता। मानो और कोई आपत्ति आ गई, किसी सेलटैक्स या इन्कमटैक्स वालेने पकड़ लिया तो वहाँ तो खर्च करना ही पड़ता है। उस खर्चसे कहीं यह न समझना कि हमारा तृष्णाका रंग कम हो गया। वह तो एक विषय साधनाकी बात है। परोपकारमें याने अपने आपके विषयसाधनोंकी खुदगर्जीपर अपने मोहके लगावका जहाँ सम्बंध नहीं किन्तु परजीवोंका उपकार हो उससे सम्बंध है और वहाँ खर्च हो तो समझिये कि तृष्णाका रंग कम हुआ और फिर यह बात तो खुदकी खुद हर एक कोई समझता है। इस तृष्णासे कुछ लाभ नहीं, जीवन बेकार चला जायगा। बाह्यपदार्थोंको भिन्न समझकर उनसे उपेक्षा रखते हुए आत्माकी जो निजकी एक विशुद्ध चैतन्य सम्पदा है उस विकासको ओर अपनी धुन जानी चाहिए। मोह रागद्वेष ये ही भाव जीवके लिए दुःखकारी हैं। ये भाव हमारे मितें, वह प्रयत्न

करें तो इस जीवनमें लैभ है, अन्यथा जो कुछ मिला है रहना कुछ नहीं है, मिट जाने वाला है। पर इन असार मिट जाने वाली चीजोंके पीछे अपनेमें जो विकार बनाये गए उनका फल आगे भोगना पड़ेगा। तो ये सब बातें एक अज्ञानकी ही तो हैं। उसके साथ मिथ्यात्व और बसा हुआ है। तो उन दोनों अज्ञानोंमें एक उल्टी बुद्धि, एक ज्ञानकी कमी, ऐसे अज्ञानभाव दो हैं। जो उल्टी बुद्धिरूप अज्ञानमें मिथ्यात्वके सम्बन्धसे बंध भी होता और क्लेश भी बसे हैं। ज्ञानकी कमी होना रूप अज्ञान दुःखरूप है, वहाँ गुणस्थानोंके हिसाबसे बन्धव्यवस्था है, औदयिक अज्ञानके कारण बंध नहीं है। हम आपको अपने जीवनका कुछ प्रोग्राम बनाना चाहिए। बाहरमें जो दौड़ लगा रहे हैं वह दौड़ मिटाकर भीतरमें अपने सहजस्वरूपका दर्शन कैसे हो, अनुभव कैसे हो, केवल स्वभावमात्र मेरे ज्ञानमें रहे, ऐसी स्थिति जैसे बने, उसका प्रयत्न करें। वह प्रयत्न स्वाध्याय सत्संगके बिना नहीं बन सकता। इसलिए अपने जीवनके शेष क्षणोंमें स्वाध्याय और सत्संग चले तो सर्वस्व समर्पण करते हुए अपने मार्गको प्रशस्त बनायें।

कर्माष्टकं विपक्षि स्यात् सुखस्यैकगुणस्य च ।

अस्ति किञ्चिन्न कर्मैकं तद्विपक्षं ततः पृथक् ॥१११५॥

आनन्द गुणके घातके लिये कर्माष्टककी विपक्षिता—औदयिक अज्ञानभावकी चर्चा चल रही है। ज्ञानावरण कर्मके उदयसे आत्माके ज्ञानमें जो कमी रहती है ऐसा अज्ञानभाव औदयिक भाव है। उस चर्चाके प्रसंगमें यह भी कहा गया था कि यह औदयिक अज्ञानभाव क्लेशमूर्ति है, फिर भी कर्मबन्धका कारण नहीं है, क्योंकि अज्ञानभाव ज्ञानकी कमी रूप है, ज्ञानकी विपरीतरूप अज्ञान कर्मबन्धका हेतु होता है। तो संक्लेश परिणाम न होनेके कारण अज्ञानभाव स्वयं संक्लेशरूप नहीं है। वह तो ज्ञानकी हीनता है इसलिए बंधका कारण तो नहीं है। किन्तु स्वयं क्लेशरूप है और इस आश्चर्यके साथ स्पष्ट किया गया कि क्लेशरूप होकर भी औदयिक अज्ञान कर्मबंधका कारण नहीं, कर्मबंधका कारण संक्लेश है, क्लेश नहीं। उसी प्रसंगमें शंका की गई कि फिर वह सुख गुण क्या है? सुख कहो, आनन्द कहो। बहुत बढ़िया शब्द तो आनन्द है लेकिन छुट्टि है इसलिए सुखगुण नामकी चर्चा है। शब्दार्थकी दृष्टिसे सुख गुण नहीं कहलाता किन्तु वह तो आनन्दगुणका विकार है। सु मायने सुहावना, ख मायने इन्द्रिय, जो इन्द्रियको सुहावना लगे उसे सुख कहते हैं। क्या इन्द्रियको सुहावना लगना यह गुण है? वह तो विकार है। और आनन्द कहते हैं आ समन्तात् नन्दनं आनन्दः चारों ओरसे आत्मसमृद्धि होना इसे कहते हैं आनन्द, यह स्वभावसे सम्बंध रखता है। तो आनन्दगुणका विकार है सुख और दुःख। तो उस सुखके बारेमें चर्चा चल रही है कि उस आनन्दगुणका घात करने वाला कौन है, विपक्ष कौन है? अब तक प्रायः ऐसा मानते चले

आये कि आनन्दगुणका घात वेदनीयकर्म करते हैं, लेकिन यह बात तथ्यकी है कि वेदनीयकर्म का प्रयोजन तो इन्द्रिय द्वारा अनुभवन बना लेना और इष्ट अनिष्ट सामग्रीका लाभ होना है। आनन्दगुणका घात तो आठों ही कर्म करते हैं। तो आनन्दगुणके घातक आठों ही कर्म हैं, एक कोई कर्म आनन्दगुणका घात नहीं करता। इस विषयमें पहले स्पष्ट किया गया था कि कर्ममें दो प्रकारकी शक्तियाँ होती हैं—(१) सामान्यशक्ति और (२) विशेषशक्ति। सामान्य-शक्ति तो आनन्दगुणका घात करनेका प्रयोजक है और विशेष शक्ति जुदी-जुदी बातोंके करनेमें प्रयोजन है। जैसे ज्ञानावरणका उदय ज्ञान न होनेका प्रयोजक है, दर्शनावरणका उदय दर्शन का घातक है, वेदनीयका उदय इन्द्रियों द्वारा अनुभव करानेका प्रयोजक है। मोहनीयका उदय मिथ्यात्व अथवा कषायभाव आनेका प्रयोजक है और आयुर्कर्म एक शरीरमें अवस्थित रखता है। नामकर्मके उदयसे शरीररचना होती है। गोत्रके उदयमें उच्च कुल नीच कुलमें जन्म होता, अन्तरायके उदयके विघ्न होता, ये तो हैं अष्टकर्मोंकी विशेष शक्तियाँ, मगर सामान्य-शक्तिका यह ही परिणाम है कि आत्माके आनन्दगुणका घात होना, तब एक आशंका होती कि वेदनीय कर्मको आनन्दगुणका विपक्षी क्यों नहीं कहा जाता? उसके उत्तरमें कहते हैं—

वेदनीयं हि कर्मैकमस्ति चेत्तद्विपक्षि च ।

न यतोऽस्यास्त्यघातित्वं प्रसिद्धं परमाणमात् ॥१११६॥

अघातिया कर्म होनेसे वेदनीयकर्ममें आनन्दगुणकी घातकताकी असिद्धि तथा घातिया कर्मोंमें व कर्माष्टकमें आनन्दगुणकी घातकताकी सिद्धि—आनन्दगुण है जीव का अनुजीवी गुण, जैसे ज्ञानगुण, दर्शनगुण, सम्यक्त्वगुण, चारित्र्यगुण, उसी प्रकार एक आनन्दशक्ति है, यह अनादि अनन्त एक अनुजीवी गुण है और वेदनीयकर्म है अघातिया कर्म, तो अघातिया कर्म अनुजीवी गुणोंका घात नहीं करता, क्योंकि अनुजीवी गुणोंका घात करना घातियाकर्मका ही काम बताया गया है। घातिया कहते ही उसे है जो आत्माके गुणोंका घात करे। देखिये—उपचार भाषामें सब समझते जाना, यह सब निमित्तनैमित्तिककी बात है और कहा जाता है उपचार भाषामें। वहाँ हर जगह अर्थ यह रखना कि इस कर्मका उदय होनेपर उसका निमित्तमात्र पाकर यह जीव अपनेमें इस-इस प्रकारका ज्ञानविकल्प बनाता है, पर इतना एक लम्बी भाषासे वार्ताव्यवहार सुगम नहीं। अतः उस बातको जल्दी बोलनेका तरीका उपचार-भाषा है। उपचारभाषाका कोई ही विरला अज्ञानी मूर्ख होगा जो उपादानदृष्टिसे अर्थ लेता हो। उपचार भाषामें उपादान दृष्टिसे अर्थ लेना मिथ्यापन है, पर जो प्रयोजन है उसको जताने की बात तो वह करता ही है। जैसे कहा—घी का डिब्बा उठा लावो, अब कोई भी बालक, कोई भी स्त्री, कोई भी पुरुष ऐसी मूर्खता नहीं करता कि जैसे मिट्टीसे बना हुआ घड़ा होता है, टीनका बना हुआ डिब्बा होता है, ऐसे ही घी से बना हुआ एक डिब्बा है, ऐसी कुबुद्धि किसी

के मनमें नहीं आती, और काम रोज-रोज होते हैं। रोज ही कहते हैं कि घी का डिब्बा उठा लावो, और रोज वह अन्य डिब्बा न लाकर घीका ही लाता है। तो वहां प्रयोजन यह है कि जिस डिब्बेमें घी रखा है वह डिब्बा लावो। तो प्रयोजनके लिए उपचारभाषा होती है। कहीं उाचारभाषाका उपादान रूपमें अर्थ नहीं होता है और जितना कोई समझता है तो उपचार-भाषा बोलते जानेमें सुगमता रहती है। उपचारभाषा बिना गुजारा भी नहीं होता। जैसे—किसीने कहा कि मेरे सिरदर्द है, अब उसके क्या सिर है? और जब उसके सिर नहीं है, मैं आत्मा तो शरीरसे निराला हूं, मेरे सिर कहाँ, फिर सिरदर्दकी बात क्या? तो फिर कैसे कहें? कहें इस तरह कि इस आत्माके एक क्षेत्रावगाहमें बँधा हुआ जो यह शरीर है इस शरीरका जो नशाजाल है उस नशाजालमें जो खूनका संचरण है वह एक ऐसे अपच भोजन का सन्निधान पाकर, निमित्त पाकर, उसका पचाव ठीक न होनेके कारण उस नशाजालमें खून की गति तेज मंद हो गई है और उसका आश्रय करके मैं वेदना मान रहा हूँ..... इतनी लम्बी भाषा क्या डाक्टरसे आप बोलेंगे? अरे उपचारभाषा है वह इसी तरह बोली जायँगी, लोक-व्यवहार इसी तरह है और समझने वाले सब यथार्थ समझते हैं। कोई उपादानसे अर्थ समझे, ऐसा तो विरला ही मूर्ख होता है। तो जितनी भी बातें चलती हैं, वे उपचारभाषामें चलती हैं, पर उसका अर्थ सब सही जानते हैं कि यहाँ निमित्तनैमित्तिक भाव हैं इसलिए यह उपचार-भाषा बोली गई है।

परिणतिस्वातंत्र्य और उपाधिके अभावमें विकारकी अनुपपत्ति—जगतमें जितने भी पदार्थ हैं, सभी अपना-अपना स्वतंत्र-स्वतंत्र अस्तित्व रखते हैं, तो किसीका भी अस्तित्व किसी दूसरेकी कृपापर नहीं है और इसी कारण वस्तुमें जो उत्पादव्ययध्रौव्य है, परिणमन है वह परिणति भी किसी दूसरेकी कृपाके कारण नहीं है। अर्थात् वस्तुका बदलना परिणमना यह वस्तुके स्वभावसे ही है। अगर निरपेक्ष हो वह पदार्थ तो स्वभावरूप परिणमन करे और पर-उपाधिका सन्निधान हो तो उस कालमें यह विकाररूप परिणमन करे। विकाररूप परिणमन रहा है यह खुद ही एक अकेलेसे अर्थात् यह परिणमन दोका मिलकर नहीं है कि कर्म और जीव दोका मिलकर यह परिणमन हुआ। अज्ञान है अथवा कषाय है कोईसा भी विकारपरिणमन दो पदार्थोंका एक नहीं हुआ करता, किन्तु यह अकाट्य विषय है कि किसी जीवमें विकार होगा तो निमित्तके अभावमें नहीं हो सकता। निमित्तके सद्भावमें ही विकार होगा अन्यथा विकार हो ही नहीं सकता। अगर निमित्तके अभावमें विकार होने लगे तो विकार स्वभाव बनेगा और वह विकार फिर कभी हट नहीं सकता। तो आप एक ज्ञान सही बना सकते हैं कि कर्ताकर्मबुद्धिका प्रवेश नहीं हो कि एक पदार्थ दूसरे पदार्थका कर्ता है, और विकारमें कभी यह कल्पना नहीं हो कि विकारोंको निरपेक्षतया यह जीव ही स्वभावसे करता रहता है, क्योंकि दोनों ही बातें माननेमें इस जीवको स्वभावदृष्टिका मौका नहीं मिल सकता।

समस्त आगमोपदेशोंका प्रयोजन स्वभावदृष्टिका पौरुष—आगममें जितना उपदेश है उस सबका प्रयोजन है स्वभावदृष्टि करना, क्योंकि जीवका शरण स्वभावके अवलम्बन बिना अन्य कुछ नहीं है। यह स्वभावकी सुध छोड़कर बाहरमें यत्र-तत्र भटकता है, उपयोग फंसाता है, इससे यह जीव इस समयमें भी बेचैन है और ऐसा ही कर्मबन्ध होता है कि जिसके विपाक कालमें भविष्यमें भी यह बेचैन होगा। स्वभावावलम्बन ही इस जीवका शरण है, अन्य कुछ शरण नहीं, मगर स्वभावावलम्बन बने कैसे? सम्यग्ज्ञानसे बनेगा, सही-सही ज्ञान करनेसे बनेगा। यदि कर्ता कर्मभावकी बुद्धि लाये कि देखो। इस कर्मने ही जीवको रागी बनाया है तो अब कर्ममें स्वतंत्रता है। जब तक यह कर्म रागी बनाये तब तक बनाये, जब न बनाये तो न बनाये। तो इस कल्पनामें आत्माको कौनसा लाभ मिलेगा? यदि यह बात हो तो क्यों न बनायेंगे ये कर्म राग? कौन अपने कुलकी हानि करता है? कर्म रागी करता है तो सदा करेगा, फिर जीवका राग हटेगा कैसे? तो कर्ताकर्मबुद्धि माननेसे स्वभावदृष्टिका कोई मौका नहीं मिलता। ये कर्म राग कर रहे हैं, ऐसी कल्पनायें उसमें परतंत्रताकी ऐसी बुद्धि आयी कि इसमें अपना कुछ अपराध ही नहीं सोचा गया। जब यह जीव रागी नहीं होता, कर्म ही रागी होता या करता, कर्म अपनी परिणतिसे ही रागी बनाता तो अब इस जीवको मोक्षकी आवश्यकता ही क्या रही? इस कारण कर्ताकर्मबुद्धिकी कल्पनामें इस जीवको सन्मार्ग न मिलेगा और यदि ऐसी बुद्धि जग जाय कि निमित्तसे क्या मतलब? निमित्त हो चाहे न हो, यह तो जीवका परिणाम है। अपने आप होता है योग्यतासे, अपने समयमें होता चला जाता, इसमें निमित्त वस्तु कोई बात ही नहीं, हो तो क्या, न हो तो क्या? तो वहाँ फिर यह विकारस्वभाव बन गया, क्योंकि जिस काममें स्वयं ही निमित्त हो, स्वयं ही उपादान हो, स्वयं ही सर्वस्व हो अन्तर्ब्रह्म दृष्टिसे तो वह स्वभाव ही कहलायगा, विकार न कहलायगा। वहाँ फिर स्वभावदृष्टिका अबसर कहाँ मिलता? तब यह निरखें कि जीव तो सहज ज्ञान-ज्योतिमात्र है, अपने आपकी स्वच्छता मात्र है, मेरा स्वरूप विकार नहीं है, मगर पूर्वकृत कर्म जो अपने अनुभागमें थे उनकी स्थिति पूरी हुई या बीचमें लगाई गई उदीरणा बनकर तो उस समय उसमें विपाक, फूटा, उस विपाकका प्रतिकलन हुआ इस उपयोगमें। चूंकि यह स्वयं झिलमिल है तो यहाँ फोटो आ जाती है। तो यहाँ उस कर्मका प्रतिकलन हुआ बस उसमें यह जीव लगा, आकर्षित हुआ, उस रूप मानने लगा और उस क्रियामें, उस काममें, उस रूपकमें अपने आपको जोड़ने लगा। यों जीवका संसार बना। जब यह ज्ञान हुआ कि ये नैमित्तिक भाव हैं, परभाव हैं, मेरे स्वरूप नहीं हैं, हेय हैं। यहाँ तो मैं केवल एक चैतन्यस्वरूप मात्र हूँ। तो स्वभावदृष्टिका मौका मिलेगा निमित्तनैमित्तिक भावके पदार्थ परिचयमें। निमित्तनैमित्तिकका परिचय कर्ताकर्म शुद्धि बनानेके लिए नहीं हुआ करता, किन्तु विभावसे

हटकर स्वभावमें लगनेके लिए हुआ करता यह परिचय ।

स्वभावदृष्टिके लिये निमित्तनैमित्तिक भावके परिचयका महत्त्वपूर्ण योग—निमित्त-नैमित्तिक भावके यथार्थ परिचयसे स्वभावदृष्टि होना बहुत सुगम है, इसी कारण समयसारमें बंधाधिकारमें बड़े विस्तारसे इसकी चर्चा हुई । ये कर्मके उदयसे उत्पन्न हुए भाव हैं, विभाव हैं, ये मैं नहीं हूं । पर हे जीव ! तू क्यों ऐसा अध्यवसान मचाता कि मैं इनको सुखी करता हूं, अरे उन जीवोंके कर्मोदयसे सुख होता है, तेरे सोचनेसे नहीं होता । मैं इनको दुःखी कर दूँ, ऐसा अध्यवसान तू क्यों बनाता है ? जो भी दुःखी होता है वह अपने अध्यवसानसे दुःखी होता है । देखिये उपचार भाषाका अर्थ सर्वत्र निमित्तनैमित्तिक भाव मानना, उपादान उपादेय नहीं न मानना उपचार भाषामें । तो जब यह ज्ञात होता है कि यह जो कषायोंका भार लगा है उससे दुःखी तो हो रहे, कषायें कर रहे, धर्मके नामपर भी कषाय ही तो जग रही है कि मैं ऐसा समझदार हूं, जानकार हूं, मैं अच्छा हूं, ये लोग कुछ नहीं जानते, मैं इन सबसे बड़ा हूं, मैं ज्ञानी हूं, दूसरे तो अज्ञानी हैं...जब एक दृष्टि बदल जाती है तो उस उस तरहसे नजर आता है और जब दृष्टि सही हो जाती है तो उस सही रूपसे नजर आता है । यह तो एक दृष्टिके आधारपर ही बात है । तो ये औदयिक भाव इस जीवपर इतना हमी पड़े हुए हैं कि यह बेचैन रहता है, स्वभावमें लिप्त नहीं हो पाता । उसका कारण यह है कि सही परिचय प्राप्त नहीं हो पाता । मैं अविकार हूं, निर्लेप हूं, निरञ्जन हूं, अपने आप अपने सहज स्वरूपसे मैं क्या हूं, यह बात चित्तमें आनी चाहिए और यह बात चित्तमें तब आ सकती जब यह बोध हो कि जो कषाय रंग उबल रहे हैं, इस पर जो विभाव रंग चढ़ रहे हैं, ये इस जीवके कुछ नहीं हैं । यह तो कर्मविपाककी झलक है । इससे मेरेको क्या ? मैं तो इससे हटकर अपने स्वभावमें ही रहूंगा, ऐसी उमके प्रेरणा जगती है ।

जीवके अनुजीवी आनन्दगुणके घातकी किसी अधातिया कर्म द्वारा अशक्यता—हां ! तो यहाँ औदयिक भावोंकी चर्चामें एक यह चर्चा उठी थी कि अज्ञान क्लेशमय है, क्लेशसे मा तो आनन्द विपक्ष तो इस क्लेशको करना कौन है निमित्त दृष्टिसे ? कौनसा कर्म आनन्द गुणका विपक्षी है ? तो उत्तर दिया कि आठों ही कर्म विपक्षी हैं । तो कहा कि हमने तो ऐसा सुन रखा है कि वेदनीयकर्मसे मुखका घात होता है, उसका उत्तर इस श्लोकमें दिया जा रहा है कि वेदनीयकर्म हैं अधाती और अधाती कर्म जीवके गुणघातका निमित्त नहीं हुआ करता । जैसे शरीर नामकर्मके उदयमें शरीररचना तो हुई, मगर जीवके गुणका घात नामकर्मके उदयमें नहीं हुआ करता, मगर यह शरीररचना एक आफतसी है जिसका आश्रय करके यह जीव दुःखी होता है । तो क्लेशज्ञ नामकर्म भी हो गया, गोत्र नामकर्म—ऊँच नीच कुलमें संततिमें जन्म हो गया, इसमें आत्माके गुणका घात कहाँ किया, लेकिन यह ही ऊँचे नीचे भाव बना

कर बड़े-बड़े विकल्प मचाता, अपनेको ऊँचा माना तो वहाँ भी क्लेश, नीच माना वहाँ भी क्लेश तो यों कर्मविपाक क्लेश ही तो हुआ और आठों कर्मसे आनन्दका विरोध रहा ।

सम्यक्चारित्रकी प्रकट धर्मरूपता—जहाँ अभिमान है स्वरूपकी सुध छोड़कर अपने विभावसे प्यार जगा है वहाँ तो मिथ्यात्वभाव है और वह नियमसे दुःख है । मिथ्यात्वकी एक ही परिभाषा है मूलमें कि पर्यायमें आत्मस्वरूपकी बुद्धि होना । अब शरीरमें आत्मबुद्धि होना वह तो स्पष्ट मिथ्यादर्शन है ही । अपने प्रकट ज्ञानमें जो कि एक क्षायोपशमिक है, अपूर्ण है उसमें यह बुद्धि होना कि यही मैं हूँ वह भी मिथ्यादर्शन है, अपने रागादिक भावोंमें प्रीति-रूप परिणाममें आत्मबुद्धि होना, यह मैं हूँ, वह मिथ्यादर्शन है । भला बतलावो ११ अंग ६ पूर्वके पाठी जो कि अब पंचमकालमें हो ही न सकेंगे इतना बड़ा विशेष ज्ञान जिसमें आत्म-प्रवादपूर्व, ज्ञानप्रवाद पूर्व, जिसमें पूर्ण निष्णात होता है ऐसे बड़े-बड़े साधु तपस्वी ज्ञानी जनों के भी मिथ्यात्वका अंश सम्भव है तो आप यहाँ कहाँ निर्णय बनायेंगे, कैसे बनायेंगे कि यह सम्यग्दृष्टि है तब ही तो इस जगत्में पूज्यताकी प्रवृत्ति चारित्रसे मानी गई है, मात्र सम्यक्त्व से पूज्यता की प्रवृत्ति नहीं कही गई । यद्यपि सम्यग्दर्शन पूज्य है, किन्तु अविरत सम्यग्दृष्टि पूजाई नहीं, साधु ही पूजाई है । नारकी जीव भी सम्यग्दृष्टि होते और नारकियोंको फोटो भी रचित होती है, उसमें कौन यह बुद्धि करता है कि सम्यक्त्व इनके भी सम्भव है इसलिए ये मेरे द्वारा पूज्य हैं । बैल, घोड़ा, पशुओंके भी जो चलते फिरते रहते हैं, क्या आप यह निर्णय रख सकते कि इस बैलके सम्यक्त्व नहीं है ? निर्णयकी बात नियमित है, प्रायः की बात अलग है । सम्यग्दर्शन सम्भव है, मगर कौन उनको अर्घ्य देता कि इन्हें सम्यग्दर्शन है इसलिए ये मेरे पूजाके योग्य हैं ? सम्यग्दर्शन दिना चारित्र नहीं होता । सम्यग्दर्शन धर्मका मूल है, मगर प्रवृत्तिमें मात्र सम्यग्दर्शनसे पूज्यताका भाव नहीं चलता, किन्तु चारित्रसे पूज्यता का भाव चलता है । फिर चारित्र क्या है ? जो अपना स्वरूप समझ लिया । अपने आपके स्वरूपका परिचय बने, बस उस स्वरूपमें नियमित होना, उस स्वरूपमें संयत होना, उसमें रमना, मग्न होना यह कहलाता है चारित्र । और जब तक ऐसी स्वरूपमग्नता पूर्ण नहीं होती है तब तक लक्ष्य इस ज्ञानोका रहता है संयमका और संयमकी ओर ही इसकी चटा-पटी रहतो है, उस संयमका ही उसके ध्यान रहता है, लेकिन रही पूज्यताकी बात, तो जब चारित्रमोहका तीव्र उदय होता है तो यह जीव स्वरूपमें मग्न नहीं हो पाता । उस कालमें इतना तो वह करता ही है कि ऐसी मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति करें जिसमें कि हम स्वरूप रमणके पात्र तो रह जायें, अपात्र तो न बन जायें । जैसे व्यसन सेवन करना, पापसेवन करना, अन्यायकी प्रवृत्ति करना, ऐसी पापकी परिणति करेगा कोई तो वह स्वरूपरमणका अपात्र तो है ही, तो वह स्वरूपदृष्टिका भी अपात्र हो जायगा । कोई पुरुष प्रभुदर्शन कर रहा,

वहाँ प्रभुके स्वरूपको निरख रहा है तो प्रवृत्ति तो उसकी पुण्य रूप है, मगर वहाँ स्वरूपरमण का पात्र तो है। किसी भी क्षण उस विकल्पसे हटकर अपने स्वरूपमें रम सकता है। इसी कारणसे अपने आपपर दया करना, अपने आपको कैसे शान्तिका मार्ग मिले, स्वभावदृष्टि हमारी अधिकतर कैसे बनी रहे, मेरे ज्ञानमें मेरा वह अविकार स्वरूप बसा रहे जिस स्थितिके कारण विकल्प बाधायें दूर होती हैं, भव-भवके बांधे हुए कर्म कटते हैं, वर्तमानमें बड़ी शान्ति का अनुभव होता है। अपना एक ही लक्ष्य रहे, दूसरी बात चित्तमें मत लावें और जब एक लक्ष्य बन गया कि मुझे तो स्वरूपदृष्टि रखना है, मैं अपने आपको निगाहमें दृष्टिमें चैतन्य-स्वरूप मात्र हूँ, ऐसी बात बनी रहे मुझमें, बस यह ही मेरा एक काम है, दूसरा काम नहीं, इसीमें मेरा जीवन लगेगा, दूसरी बातमें मेरा जीवन न लगेगा। ऐसा जिसका एक दृढ़ निर्णय होगा वह फिर हर एक बातमें यह ही निष्कर्ष निकालेगा।

प्रथमानुयोगके कथनोंमें भी स्वरूप-दृष्टि प्रयोजकता—आगममें सभी प्रकारसे वर्णन है। प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोगके सभीके वर्णन स्वरूपोपलब्धिके प्रयोजक हैं। प्रथमानुयोगमें कथाओंके रूपमें वर्णन है तो वहाँ पर भी स्वरूपदृष्टि जैसे हो उस प्रकारसे ज्ञानी सब पाठ सुनेगा, अर्थ लगायेगा। कहीं पापकी बात आयी हो, पापका फल बताया जा रहा हो तो वहाँ यह देखेगा कि स्वरूपदृष्टिसे अलग हो गया, इस कारणसे यह दुःखी हुआ। वहाँ यह निगाह लायगा। कोई साधु मुनि हुआ है, यह चर्या पालेगा, इस बातसे यह दृष्टि जगेगी कि स्वरूपदृष्टिका इसको आलम्बन मिला है, स्वरूपदृष्टिकी धुन जगी है इसलिए देखो सर्वस्व त्याग दिया। किसीका यह विकल्प नहीं कर रहा और अपने स्वरूपको निरखकर उसमें ही रम रहा, यों वह सब कथन करेगा, निमित्तनैमित्तिकका परिचय करेगा। अहा यह स्वभाव तो निर्लेप निरञ्जन अपने आपमें विशुद्ध स्वभाव रखता हुआ है। स्वरूप तो यह है, मगर कर्मविपाक ऐसा छाया है कि ये सब घटनायें घट रही हैं और उसमें यह जीव इसका निमित्तमात्र पाकर अपने आपकी ऐसी उल्टी परिणतिमें चल उठा है, वहाँ भी स्वभावदृष्टिका ही प्रयोजन लेगा। कोई सा भी कथन लो सबका प्रयोजन स्वभावदृष्टिका पौरुष सिद्ध करना है।

अशुद्ध निश्चयनयके कथनमें स्वभावदृष्टिकी प्रयोजकता—कभी अशुद्ध निश्चयनयका कथन सुनें कि यह जीव रागी होता है, अपनी करणशक्तिसे रागी हो रहा, अपने लिए रागी हो रहा, अपनी रागपर्यायसे रागमें आ रहा, इसका आधार यह जीव स्वयं है। अशुद्ध निश्चयनयसे जब जीवको देखा जा रहा है कि यह रागी बन रहा, अपने आपसे बन रहा, अपने आपमें बन रहा, अपने लिए बन रहा, उस कालमें यह जो राग पर्याय उठी है सो यह राग पर्याय इस आत्माके पराश्रितताके विकल्प वाले उपयोगसे उठी है। यह राग पर्याय वहाँ ही

तो उठती है जहाँ चैतन्य स्वरूप होता है। जैसे किसी कमरेमें खिड़कीमें से खूब तेज उजेला दिख रहा है रात्रिके समय, मगर बल्ब नहीं दिखता तो यह ध्यानमें आयेगा कि इस कमरेमें बल्ब जल रहा। अरे तुमने वह बल्ब देखा कहाँ? तुमको तो उजेला दिख रहा। उजेला भी किसीको नहीं दिखता, ये चारपाई, चौकी, कुर्सी मेज आदि चीजें दिख रहीं, तो उन पदार्थों का दिख जाना इस बातका निर्णायक है, निश्चायक है कि यहाँ बल्ब जल रहा। ऐसे ही रागभाव यहाँ चल रहा, उठ रहा, यह रागभाव इस बातका निश्चायक है कि यहाँ चैतन्य-स्वरूप तत्त्व है, उसके बिना इस तरहका ज्ञान विकल्प जगता कहाँ है अचेतन पदार्थमें? वहाँ भी वह स्वरूप दृष्टिकी ही बात सोच रहा है अशुद्ध निश्चयकी दृष्टिसे।

शुद्ध निश्चयनय आदिके कथनोंमें भी स्वभावदृष्टिकी प्रयोजकता—शुद्ध निश्चयकी दृष्टि से भी ज्ञाना स्वभावदृष्टि करना जब जाना कि वे प्रभु केवलज्ञानी, अपने ही करणसे ज्ञानी हैं, आगेमें ज्ञानी हैं, अपने ही अपादानसे अपने ही सम्प्रदानके लिए ये ज्ञानी हैं, कर्ता कर्म आदिक षट्कारकको ही एक दिशुद्ध पर्यायमें लगाया है, यह ही तो शुद्ध निश्चयनयका विषय है। वहाँ यह निरख रहा है कि अहो यह जो पर्याय प्रकट है केवलज्ञान या अन्य कुछ, तो यह पर्याय कैसा स्वभावके अनुरूप है? यह ही तो स्वभाव है जिसका दर्शन इस पर्याय रूपमें हो रहा है, वह शुद्ध निश्चयका वर्णन सुनेगा तो उसका भी वह अर्थ इसी तरह लगायगा कि जिसमें स्वभावदृष्टि जगती हो और जब शुद्ध नयका प्रयोग करेगा तो उसमें वह साक्षात् स्वभावदर्शनके निकट आयगा। स्वभावदर्शनमें तो शुद्ध नयका भी विकल्प नहीं है। वहाँ तो अनुभूति है, मगर शुद्धनय इतना निकट ले गया स्वभावके कि वह भी निर्विकल्प जैसी स्थिति है और त्वरित ही वह स्वभावानुभवमें आ जाता है। तो एक पद्धति तो यह बनी कि हम जो भी पुनः—प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग, उसको इस विधिसे सुनना है कि स्वभावदृष्टिके लिए यह उपदेश है और इसमें हमको स्वभावदृष्टि किस तरहसे मिलती है, यह तो अपना भीतरी काम है और व्यवहारमें इस तरहकी प्रवृत्ति रखें कि जो सदाचा से रहें उनमें आदर बुद्धि करें, अपने सदाचारके लिए भीतरसे भावना जगावें, क्योंकि व्यवहार तो आचरणके बलपर है और भीतरमें रमण यह सम्पददर्शन, सम्पदज्ञान और सम्पदवारिव के बल पर है। जब बाहरमें अनेक प्रवृत्तियाँ करते तो उनमें दसों काम खोटे करते, अन्याय करते, झूठे लेख लिखते, दूसरोंको दण देते और और भी अनेक काम करते। ऐसी स्थिति है गृहस्थकी, करे क्या, वह परिस्थिति ही ऐसी चल रही है। तो ऐसी स्थितिमें रहते हुए सदाचार के प्रति आदरभाव होना यह एक उसके लिए प्रगति का साधन है। जहाँ इतना राग है कि गृहस्थीके अटपट काम ऐसे व्यवहार छूट सकते नहीं, घर है, ऐसे काम करने होते और और

भी जो बातें हैं वे चलती हैं वहां साधु संतोंको देखकर नम्रता न जगे, ऐसे में जरा अपने आप की भलाई सी नहीं है, इसलिए व्यवहारकी जगह पवित्रता लावें और उस पवित्रतामें जो कुछ प्रणाली हो परस्परमें वैसी प्रवृत्ति लावें, वह व्यवहारकी बात है। भीतरमें तो निर्विकल्प होना है, स्वभावदृष्टि करना है, उसका लक्ष्य तो छोड़ना नहीं। तो ऐसे आगममें जितने भी उपदेश हैं उनको अपने आपकी स्वभाव दृष्टिके लिये घटित करें।

असंयतत्वमस्यास्ति भावोऽप्यौदयिको यतः ।

पाकाच्चारित्रमोहस्य कर्मणो लब्धजन्मवान् ॥१११७॥

चारित्रमोहके उदयसे उपपन्न असंयम भावकी औदयिकता—यहाँ इस प्रसंगमें औदयिक भावोंका वर्णन किया जा रहा है, असंयत नामका भी औदयिक भाव है और वह चारित्रमोहनीय कर्मके उदयसे उत्पन्न होता है। देखो जैसे दर्पणमें इस तरह दृष्टि रखने पर यह जो छाया आयी है, प्रतिबिम्ब हुआ है दर्पणमें, यह औदयिक है, नैमित्तिक है, औपाधिक है, बाहरी वस्तुका सन्निधान पाकर हुआ है, ऐसा निरखनेमें भीतरमें दर्पणकी स्वच्छताके प्रति आदर छिपा हुआ है। उसकी दृष्टिमें है कि दर्पण तो अपने आप औपाधिक प्रतिबिम्बरहित अपने ही शुद्ध झिलमिल वाला है, यह उसकी दृष्टिमें है तब ही वह औपाधिक निरख रहा है, ऐसे ही जिसको अपनी दृष्टिमें स्वभाव सहज निरपेक्ष बसा हुआ है वह सबका सही निर्णय पाता है। आत्माका स्वरूप तो सहज चैनन्यमात्र है। अपने स्वरूपमें झिलमिल वाला है, ज्ञानदर्शनरूप है, फिर यह जो बोझ आयी है, जिस बोझके कारण संसारमें यह जीव रुलता फिर रहा है, यह बोझ क्या मेरे स्वरूपका बोझ है? यहाँ ये कषाय, ये असंयम, ये विकार पाप कलुषतायें यह सब क्या मेरे स्वरूपका बोझ है? यह सब कर्मभार है, कर्मविपाककी भांकी है, कर्मविपाक असल तो कर्ममें है, वह जीवमें नहीं आया, लेकिन उसका सन्निधान पाकर जीवमें जो विकार विकल्प हुआ है यह कर्म विपाकप्रतिफलन है भी भार और उससे यह अपने आपमें विभाव प्रभाव बना लेता है, यह औदयिक है यह हुआ चारित्रमोहके उदयसे। किसकी बात कह रहे? असंयमभावकी याने आत्माका संयम होना यह तो स्वरूप है। अपने आपके स्वरूपमें स्थिर होना, स्थित होना यह तो आत्माका शृङ्गार है। लेकिन इसके एवजमें बाह्यतत्त्वका पक्ष बन रहा है कि अपने स्वरूपमें संयत नहीं हो पाता, बाहर ही बाहर उपयोग बीड़ता है, ऐसा जो असंयमभाव है औदयिक है। देखो सब उपदेशोंका लक्ष्य प्रयोजन एक स्वरूपदृष्टि है, अपने सहजस्वभावको यह जीव कैसे पहिचाने, जिस स्वभावके परिचयसे, स्वभाव की अनुभूतिसे इस जीवके सारे संकट कटते हैं उसके लिए ही सब उपदेश है, कहीं राग बढ़ाने के लिए नहीं, विषयोंमें प्रवर्तनके लिए नहीं। उपदेश होता है तो वह एक प्योरिटी (शुद्धता)

पागेके लिए, आत्माका एकत्व पानेके लिए है, असंयमको औदयिक जाननेसे उसके प्रति स्वरूपका भ्रम नहीं रहता और स्वरूपका लक्ष्य होता, स्वभावदर्शन कैसे प्राप्त हो, उसके लिए सारा वर्णन है।

संयमः क्रियया द्वेधा व्यासाद् द्वादशधाऽथवा ।

शुद्धस्वात्मोपलब्धिः स्यात् संयमो निष्क्रियस्य च ॥१११८॥

परमार्थसंयम और व्यवहारसंयम—संयम वास्तवमें कहलाता है शुद्ध स्वात्माकी प्राप्ति होना। संयमका अर्थ—सं मायने सम्यक् और यमका अर्थ है नियत हो जाना याने अपने आपमें भली प्रकारसे नियत हो जाना इसको संयम कहते हैं। तो संयम क्या हुआ? निष्क्रिय स्वभावमें अवस्थित होना। अब देखना—क्रियाकी अपेक्षा संयमके दो भेद कहे गए—(१) इन्द्रियसंयम, (२) प्राणिसंयम, और संयम हैं—निष्क्रिय आत्माकी उपलब्धि होना, निष्क्रियस्वरूपमें स्थित होना परमार्थसे संयम हैं। निष्क्रिय स्वरूपमें स्थित होना और व्यवहारसे संयम है, ऐसी दो प्रकारकी क्रियायें होना। कहाँ तो क्रियाकी बात और कहाँ निष्क्रियपनेकी बात। दोनों यद्यपि ये कुछ स्वभावसे एक विशुद्धस्वरूप जंचते हैं, मगर परमार्थ संयम तो है निष्क्रिय सत्य स्वात्मामें स्थित होना, और देख लो स्वरूपमें अवस्थितिके लिये प्रयत्नशील ज्ञानी पुरुषकी जो क्रिया होती है वह कहलाती है व्यवहारसंयम। क्योंकि मन, वचन, कायकी चेष्टायें इस जीवको लग रही हैं, चल रही हैं तो संयमकी रुचि बाला पुरुष अपने आपके स्वरूपमें स्थिर होनेकी धुन वाला पुरुष, उसका मन, वचन, कायकी चेष्टायें हों तो कैसी हों, बस यही है व्यवहारसंयम। तो क्रियाकी अपेक्षा यह संयम दो प्रकारका है अथवा विस्तार से देखो तो १२ प्रकारका है, याने इन्द्रियसंयम और प्राणिसंयम। इन्द्रियसंयम भी ६ प्रकार का और प्राणिसंयम भी ६ प्रकारका, इस तरह १२ प्रकारका है। संयम एक शान्तस्वरूप भाव है, निष्क्रिय, नीरंग अपने आपका जो अविकार स्वभाव है उसको ज्ञान द्वारा निरखकर ऐसी धुन और चावसे निरखें जो कि उस निरख-निरखमें ही यह अपने आपमें निर्विकल्प स्थित हो जाय, ऐसा यह परमार्थसंयम जिसके होनेसे होता है, तो उसकी बाह्य प्रवृत्ति इस प्रकार होती है। वह है इन्द्रियसंयम और प्राणिसंयमरूप याने अपने इन्द्रियको संयत करना, स्वच्छंद प्रवृत्ति न होना कि जैसी चाहे अटपट प्रवृत्तियाँ करना और उसमें भी एक अहंकार रखे कोई कि मैं एक धर्म वाला हूँ, पुण्य वाला हूँ, यह तो विकार है। तो इससे क्या सम्बंध है, शान्ति कर लिया, मौजमें रहे, इन्द्रियविषयोंको लेकर मौज भी माना, ऐसी प्रवृत्ति जहाँ होती है वहाँ यह भावसंयम कैसे जग सकता है, क्योंकि आसक्ति इन्द्रियकी हुई।

संयमकी और लगनकी श्रेष्ठता—देखो संयम एक अमृत है, उसको पानेके लिए हम आप सबका ऐसा अभ्यास होना चाहिए, सहनशील हो, कष्टसहिष्णु हों, होने दो जो होता है,

मगर उसमें इष्ट अनिष्टकी बुद्धि न रखें। तो इन्द्रियसंयम और प्राणिसंयम जिसका कुछ वर्णन आगे आयेगा, वह इसके सहज होगा। अपनेको उस संयमकी प्रवृत्तिमें लगनेकी कितनी आवश्यकता है? केवल एक बात ही बात कर ली कि आत्मा अविकार है, नित्य है, निरंजन है, स्वयं शुद्ध है, परिपूर्ण है... और उसका कुछ प्रयोग न बन पाये, जैसा हम उस स्वरूपके बारे में बोलते हैं, समझते हैं, चर्चा करते हैं, उसका हम प्रयोग रंच भी न कर पायें तो हम उस रसका पान नहीं कर सकते। उस अर्थको केवल एक तफरी कहो, व्यसन कहो, आदत कहो, बस इनमें शामिल हो गया। हम अवश्य ही यथासाध्य उस प्रयोगमें आयें, उस अनुभवमें आयें। अनुभवकी पात्रता उसके ही बनेगी जो इन्द्रियका पक्ष नहीं है, इसलिए सबसे पहले जितेन्द्रियपनेकी एक स्तुति की है। प्रभुका यह सबसे पहला कदम है, जो एक बड़ा कठिनसा दिखता है। जिनको कठिन दिखता उनको रुचि नहीं है इस ओर आनेकी। जिसकी रुचि होती है उसके लिए कितना कठिन श्रम कर लेते हैं? धन प्राप्त करनेकी रुचि होती तो उसके लिए न जाने कितनी ही भाग-दौड़ मचते, भूख-प्यास भी सहते, बड़ा श्रम भी करते। जिसकी रुचि होती है उसके लिए यह जीव सर्वस्व न्यौछावर कर बैठता है और आत्मस्वभाव की ओर हमारी रुचि है ऐसा हम अपने आपमें समझ बैठें, केवल दूसरोंको बतानेके लिए मुखसे कहते रहें और भीतरमें उसके प्रति रुचि न जगे इससे कोई लाभ नहीं है। अगर रुचि जगी हो अन्तस्तत्त्वकी तो उसके लाभके लिये इतनी धुन रखता कि सहज वह कष्टहिष्णु बनता, यह पहला गुण होता और इन्द्रियसंयमकी ओर उसकी कुछ न कुछ प्रवृत्ति होती। यद्यपि अविरत सम्यग्दृष्टिको बताया कि वह इन्द्रियमें विरत नहीं है और स्थावर व्रतमें भी विरत नहीं है, फिर भी उसकी सहज ऐसी ही वृत्ति होती है कि सदाचारकी तरफ प्रवृत्ति होती है।

असंयमकी आत्मप्रगतिमें बाधकता—देखो भैया, जब इच्छा हुई स्पर्शनइन्द्रियसे कोई विषयसाधनाकी अभिलाषा हुई, उसका नियंत्रण न करे और उस विषयसाधनाका दास बन जाय तो वहाँ इन्द्रियसंयम कहाँ रहा? और ऐसी पात्रताकी प्रवृत्ति रहे तो हम इस परमार्थ-संयमके क्षणमात्र भी अधिकारी कैसे रहेंगे? रसनाइन्द्रिय—जब जो चाहा होना ही चाहिए, ऐसा स्वादिष्ट बनना ही चाहिए, ऐसे मौजमें रहना ही चाहिए। अगर यह ही एक भीतरका संकल्प है, रसनाके प्रति ऐसी ही एक आसक्ति है तो उपयोग तो एकदम पल्टा हुआ है बाहर की ओर। बाहरमें रस है, उसका स्वाद है, उसमें ही मौज है, चित्त तो वहाँ बसा हुआ है। भीतरमें अन्तस्तत्त्वकी रुचिका प्रयोग कहाँसे आये? भोजन किया और तुरन्त आया कुछ मामने चाट पकौड़ी जैसी चीज तो उसे भी खा लिया, इस तरहसे जो एक विषयका, रसना का संस्कार भीतर बना रहे तो वहाँ निरन्तर उस तरहका बंध चलता रहता है। पहले था रिवाज कुछ ऐसा कि भोजन किया तो उसके बाद कमसे कम तीन-चार घंटेका त्याग। एक

पद्धति थी ऐसी । अब जिसके नहीं है त्याग, उसके निरन्तर खानेकी लालसा भीतर छिपी हुई बनी रहती है और जो मनुष्य इन इन्द्रियोंके विषयोंके प्रति आकर्षित हो वह अपने भीतरके इस निष्क्रिय निस्तरंग स्वरूपमें कैसे प्रवेश करे ? सभी इन्द्रियोंकी ऐसी ही बात है । तो यह बाह्य संयम जिसे यह कह देते कि क्या मतलब इन क्रियाओंसे, चेष्टाओंसे ? अपने आपमें रमण चाहिए, अपने भावोंमें संयतपना चाहिए, सो भाई यह तो हो जाता है कि कोई द्रव्यसंयम पाल रहा है, फिर भी उसके भावसंयम न हो, यह तो सम्भव है । किसीके हो, किसीके न हो, पर यह कभी सम्भव नहीं कि द्रव्यसंयम तो वहाँ आना ही नहीं है, और भावसंयम उसके बन जाय, याने द्रव्यसंयमकी स्थिति तो होती ही नहीं कभी और भावसंयम उसके बन सके, ऐसा कभी नहीं होता, और प्रत्येक मतमें जिसने अपना जो-जो आचारसंहिता बनायी है उसके प्रतिकूल चलनेमें उन्होंने बाह्यपनेकी घोषणा की, फिर यह जैनधर्ममें जो चरणानुयोगकी प्रक्रिया है वह अपने आप नपी-तुली प्रमाणिक है, प्रयोगसिद्ध है । इस चरणानुयोगकी प्रक्रियासे प्रतिकूलता बर्ती जाय और वहाँ अपनी अध्यात्मसाधनाके स्वप्न देखे जायें, यह सम्भव नहीं है । इसलिए जो चार अनुयोगोंकी बात कही गई है वह आत्माके प्रगतिके साधन हैं, और है क्या ? अगर मान लो शुभक्रिया बेकार है, बेकार है तो फिजूल काममें कौनसा श्रम होता ? अगर श्रम माना जाता है बड़ा कठिनसा समझते तो समझो, असंयम आत्मप्रगतिमें कितना बलिष्ठ बाधक है ?

व्यवहारसंयमकी साधकदशामें हस्तावलम्बता—अपनी मूल गुरुरूप प्रवृत्ति, यथा-ख्यातसंयमरूप प्रवृत्ति हमारे व्यवहारमें रहे तो हममें परमार्थसंयमकी पान्नता जगती है । तो यहाँ जो असंयतपना कहा गया है तो उसका अर्थ भावसे ही है, द्रव्यसे नहीं है, और द्रव्य क्रियामें, द्रव्यसंयममें कोई बंध अबंधका हेतुपना नहीं होता, सब भावोंसे ही होता है, मगर जिसके भावसंयम होता है उसकी जब चेष्टायें हों तो इस-इस प्रकारकी होती हैं और उससे अनुमान इस भावसंयमका हुआ करता है । चेष्टायें ही करना है तो कैसी करें ? कहीं बैठें नहीं, उठें नहीं, खड़े न हों, सोयें नहीं, कुछ न करें यह तो बड़ी अच्छी बात है, मगर बैठना ही पड़े तो कैसे बैठें, खड़े ही होना पड़े तो कैसे खड़े हों, सोना ही पड़े तो कैसे सोयें, यह भी तो एक आवश्यक जानकारी है । यह जीव कुछ खाये नहीं यह तो बहुत ऊँची बात है, खाना न चाहिए, पीना न चाहिए, क्यों विकल्प करे, क्यों उस प्रवृत्तिमें आये ? उसका निरादर रहे, अपने आत्मामें रमण करे, बड़ी अच्छी बात है, मगर न रहा जाय, खाना ही पड़े तो कैसे खाये, यह विवेक तो होना चाहिए । तो बस इसी विवेकको और इस ही प्रवृत्तिको कहते हैं व्यवहारसंयम ।

पञ्चानामिन्द्रियाणां च मनसश्च निरोधनात् ।

स्यादिन्द्रियनिरोधाख्यः संयमः प्रथमो मतः ॥१११६॥

इन्द्रियसंयमः—इन्द्रियनिरोध नामका संयम यह पहला संयम है । ५ इन्द्रिय और मन इनका निरोध करना । जैसे मन जिसका स्वच्छंद होना है उसकी अधीरता होती है । जो मनने चाहा वह तुरन्त होना चाहिए, उसके लिए व्यग्र हो जाता है, तो यह एक मनका असंयम है । यशकी भावना, कीर्तिकी चाह, प्रशंकीकी वाञ्छा, निन्दाका सुनना अप्रिय होना आदिक रूपसे जो मनकी वृत्तियाँ जगती हैं उन वृत्तियोंमें उपयोग किस ओर लग गया ? परकी ओर, परभावकी ओर । जहाँ बाहरकी ओर यह मन भागा तो वहाँ आत्माकी सुध कहाँ रही ? आत्माकी सुध न हो, स्वरूपकी दृष्टि न हो, उस ओर अभिलाषा न हो तो इस जीवका क्या हित है ? वहाँ तो अकल्याण ही है । इसी प्रकार पञ्चेन्द्रियका भी निरोध न हो तो वहाँ भी जीवको एक विकल्प विपत्तियाँ ही तो आती हैं । तो ऐसा एक अभ्यास बनाना चाहिए और यह इस कोटिमें डालनेकी बात नहीं है कि अजी यह तो व्यवहारकी बात है, इसका क्या निरोध करना ? इन्द्रियका क्या सम्बंध ? यह तो पुद्गलकी चीज है, ऐसी उपेक्षा न करना, क्योंकि उसके साथ विकल्प तो चल रहा । अन्दरमें विकल्पकी तो बड़ी बाधा है जो स्वानुभूति में बड़ी बाधा डालता है । जब जैसी इच्छा जगी, भाव जगा, वैसा ही करनेको मन चाहा करे, जरा भी नियंत्रण मनपर, इन्द्रियपर न हो सके, निरोध सह न सके, जहाँ इतनी तक असहनशीलता, सुकुमालता है, और ये भी नहीं, किन्तु एक स्वच्छन्दता जैसी वृत्ति रहे, वहाँ आत्मस्वरूपको निरखना और उसे ज्ञानमें लेकर एक निर्विकल्पस्थिति बनाते हुए एक आत्मोत्थ आनन्द प्रकट करना यह बहुत परेकी चीज है ।

इन्द्रियसंयमरूप प्रवृत्तिका कर्तव्य—अपनी प्रवृत्तिमें इन्द्रियसंयम लाइये, शुद्ध भोजनकी प्रवृत्ति, यह इन्द्रियसंयमका साधक ही तो है, जिसको एक खानेका स्वच्छन्द भाव है, क्या रखा, यों ही खाना, मनचाही चीजें खाना, बाजारकी दही, मिठाइयाँ आदि मंगाकर खाना, जो चाहे खाना और उसको खाकर मौज मानना और ऐसा समझना कि इसके खानेसे क्या नुकसान है, आत्मा तो भावस्वरूप है । अरे यह स्वच्छंद वृत्ति बने तो उपयोग कहाँ जा रहा है, किस ओर अपनी भावना कर रहा है, कहाँ वासना जम रही हैं इसको भी तो निरखियेगा । बाह्य वासनाओंमें अन्तर्भावना कहाँ पनपेगी ? तो संयममें बाह्य वासनाओंका त्याग रहता । और भी देखो जिसने इस लक्ष्यको नहीं पहिचाना और बाहर ही बाहर एक शुद्ध आचार रखकर वहाँ ही दृष्टि रखकर यों करेंगे, धर्म होगा, यह क्रिया होगी, धर्म होगा । धर्मस्वभावका जिसके भीतर पता नहीं, केवल बाहरी-बाहरी बातोंमें ही धर्म मान रहा, यद्यपि वह दुर्गंतिका पात्र नहीं है, मगर वह मोक्षमार्गमें नहीं है । एक जो अज्ञानी भी है और बाहरमें एक संयम

की प्रवृत्ति है, पानी छानकर पीना, रात्रिको न खाना अथवा और-और प्रकारसे संयममें रहना, यह क्या पापी व्यसनियोंसे भी गिरा हुआ है जो ७ व्यसनोका सेवन करने वाले हैं, पापमें आसक्त रहने वाले हैं। वह उनसे अधिक टोटेमें तो नहीं है। है तो यद्यपि टोटेमें ही, क्योंकि अज्ञान है, मोक्षमार्गमें नहीं है, फिर भी मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति जब करनी ही पड़ती है तो कोई जरा सम्हलकर प्रवृत्ति करे तो उसको इतना अवसर तो है कि वह किसी समय सत्संग जो उसने पाया है तो कभी अपना सुधार भी पा लेगा। प्रयोजन यह है कि अपने व्यवहारमें संयमरूप प्रवृत्तिकी प्रक्रिया रखें, जितना बन सके उतना अपनेमें प्रवृत्ति बनानी चाहिए। रंच भी इन्द्रियनिरोधमें क्यों कष्ट होता? इन्द्रियसंयम रखते हुए कष्ट अधिक क्यों हो रहा? यों हो रहा कि मन स्वच्छंद है और यह मनचाहे विषयोंमें लगनेको, रमनेको चाहता रहता है, ऐसी चाह जहाँ है वहाँ परमार्थ संयमकी बात कैसे बन सकती है? कितना आवश्यक है इन्द्रियसंयम? इन्द्रियनिरोध सबसे पहला कदम है आत्मप्रगतिके लिए।

भ्रान्ति, स्वच्छंदतासे विविक्त रहकर परमार्थ अन्तस्तत्त्वकी ओर अभिमुख होनेका अनुरोध—कभी किसीको ऐसा भ्रम हो जाता कि मेरेको सम्यग्दर्शन हो गया, ऐसा एक भ्रम मान लिया, क्योंकि यह भ्रम इतना जल्दी हो जाता है कि इस बातको हर एक कोई पसंद करता है। अपनेको मिथ्यादृष्टि कोई नहीं मानता है। कोई अगर कह बैठे तो वह उसे गाली समझता तो कोई अपनेको हल्का नहीं समझना चाहता, ऊँचा ही समझना चाहता है। तो जब कभी सम्यग्दृष्टिपनेका भ्रम हो जाता है कि मेरे सम्यग्दर्शन है, ऐसा भ्रम वाले जीवके जो एक असंयमकी प्रवृत्ति रहती है उसमें एक तो कंगाली और फिर गीला आटाकी कहावत चरितार्थ हो जाती है। प्रथम तो उसके अन्दर बन गया भ्रम कि मेरे सम्यग्दर्शन है, मैं ज्ञानी हूँ, सम्यग्दृष्टि हूँ और फिर मान लिया कि जिसमें सम्यग्दर्शन है उसके आस्रव बन्ध होता नहीं और कर लिया स्वच्छंद प्रवृत्ति तो उसकी वैसी ही दशा होती है। जैसे कि कहावत है कि कंगालीमें गीला आटा, याने गरीबीमें आटा गीला होना। देखिये यह बात बड़े ध्यानसे सुनने और उसे अपने आपपर घटित करनेके लिए कही जा रही है। अगर कुछ आत्मकल्याण जगी है तो कभी भी अपनी गलतियोंके खोजमें कृपणता न लायें। हममें क्या कमी है, अच्छाई है? इस बातकी खोज करनेमें कभी संकोच न करना चाहिए। दुनियाका दिखावा—दुनियामें हम अच्छे कहलायें, लोगोंके लिए भले जंचें, यह स्थिति शरण नहीं है। यहाँ कोई किसीका मददगार नहीं होता। खुदको खुद ही मददगार है। प्रवचनसारमें बताया है कि अपनी गलतियोंको शोध-शोधकर ऐसा धुनना चाहिए जैसे धुनिया रुईके छोटे-छोटे अंगोंको उठा-उठाकर देख-देखकर धुनता है। कोई रुई, कोई फुवा बिना धुने तो नहीं रह गया, इस तरहसे धुनना चाहिए, क्योंकि हम गलत रहें और उसीमें सन्तोष मानकर रहें तो इसमें आत्मोत्थानको अवसर नहीं

मिल पाता। तो भला जिसको हम एक थोथा समझें, मामूली बात समझें, क्रियाकी बात समझें तो उस मामूली बातके करनेमें क्या हर्ज है? क्यों कष्टका अनुभव होता? वह तो मामूलीसी बात है, पर मामूलीसी बात जो बहुत कष्टदायक मालूम होती तो समझना चाहिए कि भीतरमें उठी इच्छाओंके प्रति असंयोगकी बात, मिथ्याभावोंकी बात छिपी हुई है, वासना बनी हुई है अन्यथा छोटी-छोटी बातें पहाड़ जैसी क्यों दिखतीं? बाहरमें हमारा एक श्रावकोचित आचार बने और भीतरमें हम इस अविकार अंतस्तत्त्वकी साधना बनायें, यह तो है एक सही मार्ग, जैसा कि होता आया है और हमको श्रावकोचित आचार तो एक बड़ा भ्रमट दिखे, जो कि सहज होना चाहिए तो उसे हम क्या कहेंगे? अब भी देखो जैन कुल वालोंको अहिंसानुकूल आचरण करना बड़ा सुगम लगता। अन्य लोग तो बड़ा आश्चर्य करते कि जैन लोग अपने ये नियम कैसे निभा लेते होंगे? जैसे रात्रि भोजन न करना, जल छानकर पीना, शुद्ध भोजन करना, बार-बार न खाना आदि...। ये सब बातें अन्य मतावलम्बियोंको बड़ी कठिन लगतीं, जब कि जैन लोगोंको बड़ी सुगम लगती हैं। तो यह श्रावकोचित आचार है बड़ा सुगम, पर कठिन समझ रखा है। हमारे आचारमें ये सब बातें सुगमतया होनी चाहिए। सो व्यवहारके समय यह सब करें और अपने अन्दरमें इस निष्क्रिय, निस्तरंग, नीरंग अविकारस्वभाव चैतन्यमात्र, उसकी आराधनामें रहें।

परभावमें आत्मबुद्धि न कर निज अन्तस्तत्त्वमें संयत रहनेकी श्रेयोरूपता—मैं हूं, स्वतः हूं, अपने स्वभावरूप हूं वह चोज क्या है? निरपेक्ष केवल चैतन्य, केवल प्रतिभास। दर्शनमें तो विकल्प नहीं है। ज्ञानमें जो विकल्प है, वह केवल ज्ञेयाकाररूप विकल्प है। इससे आगे न बढ़ना। इससे आगे औदयिक विकल्पोंमें चले गए तो बस यह ही एक बोझ बन गया और ज्ञानका जो स्वरूप है तन्मात्र विकल्प तो कभी मिटता ही नहीं है। ज्ञानविकल्प ज्ञेयाकार अर्थज्ञान वह तो एक ज्ञानका शृङ्गार है। केवली भगवान भी तीन लोक अलोक सबका परिज्ञान करते रहते हैं। वह भी तो एक विकल्प है, वह है ज्ञानविकल्प, वह है ज्ञानके स्वरूपकी आदत, पर उससे आगे जो एक औदयिक भाव होता है वह विकल्प जीवके अनर्थके लिए है। ज्ञेय जाननरूप विकल्प न हो तो वह ज्ञान मरा हुआ समझिये, सो ज्ञानपरिणाम तो होगा मगर वह सामान्य प्रतिभासरूप याने रागद्वेषकी बाधासे रहित प्रतिभास स्वरूप होगा। इसका स्रोतभूत जो आत्मस्वरूप है उस स्वरूपमें ज्ञानका स्थिर हो जाना इसे कहते हैं संयम। ऐसे संयमका जो रुचिया है, अभिलाषी है वह इन्द्रिय असंयममें नहीं बढ़ता। जैसे जिसको धनकी रुचि है तो उसके ज्यादाह विकल्प नहीं उठते, वह सहनशील बनता है। ऐसे ही इस स्वरूपमें स्थिर होनेकी जिनको रुचि है उनके भी विकल्पकी बहुलता नहीं रहनी, क्योंकि रुचि एक उस परमार्थस्वरूप की ओर है। यह न हो सके और बाह्यके प्रति आकर्षण रहे, वह कहलाता है

असंयम और यह औदयिक भाव है, चारित्र्यमोहके उदयसे हुआ है, मेरा स्वरूप नहीं है। मैं तो अन्तः एक ज्ञायकस्वरूप मात्र हूँ। औदयिकपनेकी चर्चा सुनकर स्वभावदृष्टिकी प्रेरणा मिले, ऐसी एक अपनी दृष्टि होनी चाहिए।

स्थावराणां च पञ्चानां त्रसस्यापि च रक्षणात् ।

अनुसंरक्षणाख्यः स्याद् द्वितीयः प्राणसंयमः ॥११२०॥

प्राणसंयम नामका द्वितीय व्यवहार संयम—प्राणसंयम किसे कहते हैं? संयमका जो दूसरा भेद है उसका स्वरूप बताया जा रहा है। ५ स्थावर जीवोंका और त्रस जीवोंका रक्षण होनेसे यह अनुसंरक्षण नामका दूसरा संयम प्राणसंयम है। ज्ञानी पुरुषको विदित है कि ऐसे-ऐसे देहोंमें पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति, कीड़ा-मकोड़ा, पशु-पक्षी आदि इनमें जीव का सम्बन्ध है। यह चतुर्गतिरूप पर्याय अचेतन ही देहमात्र नहीं है। देह तो अचेतन ही है, जिसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श हो वे सब पुद्गल हैं और अचेतन हैं, किन्तु जरा खुदमें भी तो अनुभव करो, अभी आपके शरीरपर कोई चीटी चढ़ जाय, तो आप उसमें व्यग्रता क्यों मानते? बड़ी बड़ी डींग मारते कि आत्मा भिन्न शरीर भिन्न और जब एक चीटी चढ़ जाय तो वे सब बातें एक तरफ धरी रह जाती हैं। अरे यह हो क्या गया? देखो परिस्थिति ऐसी ही है कि यह शरीर सवित्त है, जीव सहित है, इसमें जीव है और इसमें रागद्वेष मोहादिक भाव पाये जा रहे हैं। तो शरीरमें एक चेतनावगाह होनेसे सब विदित है कि यहाँ यह जीव है। “जीव जाति जाने बिना दया कहाँ ते होय?” जब तक जीवजातिका पता नहीं तब तक वह दया धर्म कैसे पाल सकेगा? इस ज्ञानी सम्यग्दृष्टिको यह विदित है कि यहाँ यहाँ ये जीव हैं। और जो जीव हैं वे मेरे ही स्वरूपके समान ज्ञान, दर्शन, आनन्द, शक्ति, चारित्र्य ये शक्तियाँ, इनके ये पुञ्ज हैं और जैसे इस समय मेरे शरीरको कोई बाधा आये तो उसमें हम कष्टका अनुभव करते ऐसे ही वे जीव भी कष्टका अनुभव करते। जो दूसरे जीवोंको भी अपने समान समझ लेता है उसको दूसरेके कष्ट को देखकर कष्ट होने लगता है। जैसे अपने घरमें जो बच्चा है उसे अपना मान रहे, बाकी बच्चोंको गैर मानते, तो जिसके प्रति मोह है उसको तो बड़ा आदर देते और जिन्हें गैर मानते उन्हें घृणाकी दृष्टिसे देखते। तो अपने घरके बच्चे को जान रहे कि यह जीव है, क्योंकि उसे मान लिया कि यह मेरा बच्चा है, मेरे ही समान है। तो जब कभी उसे कोई पीड़ा होती, कष्ट होता, तो उसके पीछे यह भी बड़ा कष्ट मानता। और जो ज्ञानी पुरुष है वह यह समझता कि विश्वके सभी जीव मेरे ही स्वरूपके समान हैं तो उसके लिए सारा विषय बंधु बन गया। समस्त जीव उसके लिए एक समान हैं। वह कोई ऐसा प्रयत्न नहीं करता कि जिससे दूसरे जीवोंको बाधा हो, उनको संक्लेश हो। वह तो इन सबका संरक्षण करता है। गृहस्थ हो तो बिना प्रयोजन पृथ्वी न खोदे, बिना प्रयोजन

जल न बखेरे । देख लो लोग ५-५, ७-७ बाल्टी पानीसे खूब शरीरको साबुनसे मल-मल-कर नहाते हैं, बड़ा मौज मानते हैं वहाँ जलकायपर भी दृष्टि नहीं है । तो जानी गृहस्थ श्रावक ऐसी अप्रयोजक क्रिया नहीं करते, बिना प्रयोजन अग्नि नहीं जलाते, बिना प्रयोजन हवा नहीं चलाते, बिना प्रयोजन वनस्पतियोंका छेदन-भेदन नहीं करते । जानी गृहस्थने जान लिया कि यहां भी जीवजाति है और जैसे हमको जरा जरासी बातमें कष्ट महसूस होता ऐसे ही इन जीवों को भी नष्ट महसूस होता है । यहाँ तो हम आप आत्माकी चर्चा करते, उसके बलसे कहो आने वाले कष्टोंको भेट भी लें, पर उन बेचारे जीवोंको कहां इसकी गुंजाइश है ? वे तो आत्माकी चर्चा भी नहीं जानते । उनको तो कुछ बाधा हुई तो कष्ट मानेंगे । तो उन जीवोंके संरक्षणकी प्रवृत्ति है और जो शुद्ध भोजन बनानेकी प्रवृत्ति है वह इसी कारण तो है कि जीवोंकी रक्षा हो । किसीने बाजारकी चक्कीमें आटा पिसाया तो कहो उसमें सुरसुरी बगैरा जीव पिस जायें, तो उस आटेका भक्षण करनेमें भी हिंसाका दोष है । मर्यादासे बाहर की चीजें, उनमें जीवोंका जन्म होता है और उनके भक्षणमें हिंसाका दोष है । गृहस्थ श्रावक हिंसासे बहुत दूर रहता है और इसका विकल्प ही न उठे कि हिंसा न करना चाहिए । ऐसा शुभ विकल्प ही जहाँ न उठे वहाँ तो मनकी स्वच्छंदता है । ऐसे स्वच्छंद मन वालेके स्वानुभव की पात्रता कहांसे हो ? तब जीवोंकी रक्षा करना, धो को यों बड़ी सम्हालकर रखना, कोई इसमें जीव न पड़े, जीव पड़ जायगा तो वह मर जायगा । अपनी ऐसी क्रिया बनाता कि हर एक चीजको सम्हालकर धरता उठाता । शुद्धिकरणके जितने सब प्रयोग हैं वे सब हिंसा टालने के लिए हैं । शुद्धिकरणमें हिंसा टालनेकी बात प्रधान होती है । तो इन जीवोंकी रक्षा करनेसे अनुसंरक्षण नामका दूसरा प्राणसंयम होता है ।

ननु कि नु निरोधित्वकक्षाणां मनसस्तथा ।

संरक्षणं च किं नाम स्यावराणां त्रसस्य च ॥११२१॥

इन्द्रियसंयम और प्राणसंयमके स्वरूपतथ्यकी जिज्ञासा—यहाँ कुछ जिज्ञासा की जा रही है । यह बताया गया कि संयम दो प्रकारका है—(१) इन्द्रियसंयम, (२) प्राणिसंयम । देखो यह प्रयोगकी चीज है, इस प्रकारका आचरण रहेगा तो बहुतसे गड़बड़ कामोंसे निवृत्ति रहेगी और ऐसी स्थितिमें यह ज्ञान अपने आपके अभिमुख होनेके लिए सुगमतया काम करेगा । तो उन संयमोंके बारेमें पूछ रहे कि इन्द्रियका संयम, इसका अर्थ क्या ? इन्द्रियका निरोध, मनका निरोध, इसका खुलासा स्पष्टीकरण करना । इसी प्रकार तब जीवोंका और स्थावर जीवोंका संरक्षण क्या ? ऐसे दो संयमके लक्षणके बारेमें एक जिज्ञासा हुई है कि इसके मायने हैं क्या ? यद्यपि शब्दोंसे अर्थ एकदम आ गया है—इन्द्रियका निरोध करना मायने इन्द्रियके विषयोंमें अपनेको न फँसाना, दूसरे जीवोंके प्राणोंकी रक्षा करना, यह शब्दमें

अर्थ आ गया है, मगर इसका तथ्य क्या है ? और इसमें अपनेको स्वभावदृष्टिके लिए कैसे मदद मिलती है ? ये सब बातें भी जाननी आवश्यक हैं ।

धर्मवचनोंका प्रयोजन स्वरूपदृष्टिके लिये पौरुषका उद्यमन—देखिये—प्रत्येक वाक्यका अर्थ इस तरह सोचना चाहिए कि जिस प्रकार स्वभावदृष्टि हो । बारह भावनाओंमें गाते तो हैं—“राजा, राणा, छत्रपति, हाथिनके असवार । मरना सबको एक दिन, अपनी-अपनी बार ॥” ये राजा महाराजा आदि सब मरते हैं, यहाँ कोई सदा जीवित नहीं रहता, एक दिन हमको भी मरण करना होगा ।...अरे इस प्रकारका मरना ही विचारनेसे इस आत्माको भला क्या हुआ ? उससे तो एक घबड़ाहट ही बनेगी । जैसे कोई किसीको मार रहा हो तो वहाँ देखकर डर लग जाता कि कहीं खुदको भी न मार दे, ऐसे ही दूसरोंका मरना विचार-विचार-कर तो खुदके मरनेका भय बना देगा । तो ऐसा दूसरोंका मरना विचारनेसे लाभ क्या ? अरे वहाँ प्रयोजन है स्वभावदृष्टि करनेका । वहाँ विचार यह करना है कि ये राजा, राणा, छत्रपति, पशुपक्षी आदिककी सारी पर्यायें शाश्वत नहीं हैं, ये सब विनाशिक हैं, नष्ट हो जाने वाली हैं, जहाँ यह निरखा वहाँ यह दृष्टि भी जगेगी कि जो मैं चेतन हूँ, अंतस्तत्त्व हूँ वह तो ध्रुव है सदा रहने वाला है, वह मरणहार नहीं है । तो जहाँ पर्यायमें विनाशकी दृष्टि किया तो साथ ही यह झलक न होगी क्या कि यह जो मैं अंतस्तत्त्व हूँ तो यह सदा रहने वाला हूँ, तो स्वरूप दृष्टि बनी इस भावनामें । अशरण भावनामें बोलते हैं—दत्त बल देवी देवता, माता पिता आदिक कोई भी मरते समय इस जीवकी रक्षा करने वाले नहीं हैं याने मरनेसे बचाने वाले नहीं हैं, तो ऐसा सोचनेमें इतना ही मात्र सोचनेमें आये तो उससे तो एक घबड़ाहट होगी—अरे कोई मेरी रक्षा करने वाला नहीं, हाय कोई बचाने वाला नहीं तो क्या इस तरह की रंज पैदा करनेके लिए अशरणभावना है ? स्वरूपदृष्टि जिससे जगे उस पद्धतिकी भावना भावो । ये सब पर्यायें हैं जो मरणहार हैं । प्रत्येक जीव स्वतंत्र है, कोई किसी को बचा सकता नहीं, जिला सकता नहीं । तो जब आयु कर्मका क्षय होता है तो यह जीव भव छोड़ता है । इसका निमित्तनैमित्तिक भावके परिचयमें प्रधान रूपसे वर्णन किया गया शास्त्रोंमें । समयसारमें कितना विशिष्ट वर्णन है ? जो जीव मरता है वह अपनी आयुके क्षयसे मरता है । जो जीव सुखी दुःखी होता वह अपने कर्मके उदयसे सुखी दुःखी होता है । हे जीव तू अध्यवसान मत कर । मैं इसको सुखी करूँ, इसको दुःखी करूँ । तो इसमें दो बातें आयीं—एक तो आश्रयभूत पदार्थमें यह लिप्त न होवे । वह व्यर्थकी चीज है, निराधार बात है । एक तो उसमें यह शिक्षा मिलती है । दूसरी शिक्षा यह मिलती है कि यह जीव जो सुखी दुःखी हो रहा वह भूलसे हो रहा, यह तो स्वभावसे आनन्दस्वभाव है, चैतन्यमात्र है, चैतन्यप्रकाशमात्र है, निरापद है स्वभावसे तो, मगर पहले बाँधे हुए कर्मके विपाकका उदय ऐसा है, उसका

प्रतिफलन ऐसा है कि ऐसी ऐसी बात इस जीवमें गुजर रही है ।

वस्तुस्वातंत्र्य और विकारोंकी औपाधिकताके निर्णयका प्रभाव—देखो सर्वत्र यह बात तो मूलमें ही रखना कि एक द्रव्य दूसरे पर्यायकी परिणति नहीं करता, यह तो सत्ताका स्वरूप है ऐसा । उसमें कोई बात नहीं । मगर जितनी उपचार भाषा है उसके बोलते समय कभी उपादान उपादेय बुद्धिके प्रकारका ख्याल न करना । कोई भी द्रव्य दूसरे द्रव्यकी परिणतिका कर्ता नहीं, यह तो ठीक है, पर विकार जितने होते हैं वे निमित्तके अभावमें नहीं होते इसके खिलाफ एक भी दृष्टान्त न मिलेगा । इसलिए वे नैमित्तिक हैं, परभाव हैं, ये तो निरपराध हैं । स्वरूपतः ऐसी एक स्वरूपदृष्टि बनती है । तो ये सब पर्यायें हैं । भव छूटता है, कोई बचा सकता नहीं है । क्यों नहीं बचा सकता कि सब पदार्थ अपने आपमें अपनी परिणति करते हैं, मगर इस जीवका वास्तवमें शरण, परमार्थ शरण अपने आपकी स्वरूप दृष्टिका आलम्बन है । मैं सहज चैतन्यप्रकाश मात्र हूँ, इस ओर लगना क्यों नहीं बनता ज्यादा ? स्वरूप दृष्टिकी ओर ज्यादा आयें, उसमें समय दें, साहस बनायें कि किसी भी परिकरमें, वैभवमें, पक्षमें, पार्टीमें, मित्रोंमें किसीमें भी लगाव तो न रहे । अपनेको सबसे निराला अकेला ज्ञानमात्र निरखें, ऐसा भीतरमें उपयोग तो बनायें तो फिर क्यों न सिद्धि होगी ? जब विभावोंमें लगनेकी विधिसे संसार बढ़ रहा है तो स्वभावमें लगनेकी विधि बने तो मोक्ष क्यों न होगा ? होना पड़ेगा । पर वह विधि बनाता कौन है ? बड़े मौजमें हैं । विभावोंमें ऐसी आत्मदुष्टि लगी हुई है कि मना करते जा रहे कि विभाव मेरे स्वरूप नहीं और बहुत उछल उछलकर व्याख्यान भी देते जा रहे और भीतरमें यह रंग चढ़ा है कि मैं कैसा अच्छा बोल रहा हूँ, मैं लोगोंको किस तरहसे कह रहा हूँ, लो मिथ्यात्व तो बसा है रंग-रंगमें । उस आत्माकी एक लम्बी उचककर चर्चा करनेमें सिद्धि क्या मिलेगी ? अधीरतासे, भावुकतासे, स्वच्छंदतासे काम न चलेगा । इसके लिए तो बड़ा त्रिवेक चाहिए, धीरता चाहिए, समझ चाहिए, गुप्त ही गुप्त अपनेमें स्वरूपका विलास चाहिए ।

स्वरूपदृष्टि बिना संसारकी दुःखरूपता और असंयमवृत्तिकता—संसारभावनामें बोलते—सब दुःखी, यह दुःखी, वह दुःखी, धनी दुःखी, निर्धन दुःखी, जानी दुःखी, मूर्ख दुःखी, ऐसा दुःखी दुःखी देखना यह तो दुःख बढ़ानेकी ही बात बानी । दुःखियोंके बीच बैठग तो कुछ तो दुःखका कोई अपनेमें अपना असर तो बन ही जायगा । तो ऐसा सारे संसारको दुःखी देखनेसे क्या प्रयोजन बनाया इस भावनामें ? स्वरूपदृष्टिकी मदद मिले, इस ढंगसे संसारको दुःखी देखना होगा । यह सारा संसार दुःखी है । क्यों दुःखी है ? अपने स्वरूपकी इसे सुध नहीं है और परभावोंमें, परपदार्थोंमें इन विकल्पोंमें यह रंग गया । तो भला जो मछली अपने धामसे, पानीसे हटकर किसी भी प्रकार रेतीलो जमीनपर चलो जाय तो वह तो बेचैन होगी

ही, ऐसे ही जो जीव अपने घरसे, आनन्दधामसे, ज्ञानस्वरूपसे चिगकर इस श्रीपाधिक भूमिमें अर्थात् विभावोंमें, इन बाह्य पदार्थोंके आश्रयमें पहुंच जाय तो वह तो बेचैन ही होगा, शान्ति का वहाँ नाम नहीं हो सकता । यों दुःखी हैं ये सब । इनके पास धन नहीं है, इसलिए दुःखी, ऐसी दृष्टि करानेके लिए नहीं है यह भावना, किन्तु स्वरूपकी इसको सुध नहीं, और बाहरी पदार्थोंमें यह लग रहा है, विभावोंमें लगाव बनाया है, इस कारण यह सारा संसार दुःखी है । इसके सोचते ही स्वरूपकी सुध तो हुई है उसे । यहाँ उपयोगको लगाया तो उसे कष्ट न होगा । ऐसे ही सभी भावनाओंकी बात है । और सभी उपदेशोंकी बात यही है कि उसमें स्वभावदृष्टि बने, उस प्रकारसे उसको निरखना होगा । शंकाकार यहाँ यह शंका कर रहा है कि इन्द्रिय और मनके निरोधका मतलब क्या ? साधारण अर्थसे तथ्य न परिज्ञात होगा और त्रस और स्थावरके संरक्षणसे मतलब क्या ? उसके उत्तरमें कहते हैं—

सत्यमक्षार्थसंबंधाज्ज्ञानं नासंयमाय यत् ।

तत्र रागादिबुद्धियां संयमस्तन्निरोधनम् ॥११२२॥

इन्द्रियासंयमका स्वरूपतथ्य — इन्द्रियसंयम जब न हो तो क्या परिस्थिति होती है कि इन्द्रिय और पदार्थका सम्बंध होनेसे ज्ञान होता है । पहली बात तो यह होती ही है और उस समयमें इसके असंयम बनता है । तो यहाँ यह समझना विवेक करके कि इन्द्रिय और पदार्थका सम्बंध होनेसे जो ज्ञान बनता है वह ज्ञान असंयमके लिए नहीं, किन्तु उस ज्ञानमें जो रागादिक बुद्धियाँ बनती हैं, बाह्य वस्तुके आलम्बनसे जो रागद्वेषकी बुद्धि जगती है उसे असंयम कहते हैं । घीका दूध मिल गया और जरासा ही पिया कि ऐसा गुस्सा आया कि गिलास दूर फेंक दिया या कुछ जरासा मीठा अधिक पड़ गया तो नाक-भौं सिकोड़ना, गुस्सा करना शुरू कर दिया, अरे इन्द्रिय और पदार्थका सम्बंध होनेसे ज्ञान हुआ कि नहीं ?...हुआ । अगर हुआ नहीं तो फिर आगेका यह ऊधम कैसे किया गया, तो ज्ञान हुआ यह तो अपराध न था, मगर उस समय जो इष्ट अनिष्टका विकल्प होकर रागद्वेष बना वह असंयम बन गया । तो इन विषयभूत पदार्थोंमें रागद्वेषकी बुद्धि जगना यह कहलाता है असंयम, और रागादिक बुद्धियोंको रोक देना, बस ज्ञाता रहना यह कहलाता है संयम । देखा होगा कि किसी किसीको यह बाहरी सफाई बहुत तेज पसंद होती है, जो एक सीमासे बाहर होती । हाँ, साधारण रूपसे सफाईका रखना, यह तो ठीक है, मगर इतना तेज सफाईका ध्यान देना कि कहीं जरासा तिनका या कंकड़ भी रह जाय, कुछ कूड़ा रह जाय तो बड़ी ग्लानि करे, अरे इसको तो एक ऊधम माना है । विशेष करके जो अध्यात्मप्रेमी लोग हैं, जो कुछ घर-द्वारका भी त्याग करते हैं, अध्यात्मसाधनाका जिन्होंने विशेष लक्ष्य बनाया है, वे यदि सफाईके बारेमें विशेष विकल्प रखें—खूब साफ तरस्त हो, चोकी हो, चटाई हो, वस्त्र भी खूब साफ स्वच्छ हों, सभी चीजें

देखनेमें बड़े अच्छी हों, जरा भी गंदगी न हो....अरे ये सब उसके लिए कोई शोभाकी चीज है क्या ? एक अध्यात्मप्रेमीको तो चाहिए कि वह सीधे-सादे ढंगसे रह ले, जब जो है सो ठीक है, चल रहा है, उसके कहीं इष्ट अनिष्टकी बुद्धि न जगे । जरा जरासी बातमें अपने विषय-साधनोंमें कोई बाधा आये और वह उसमें खेद माने, अटके तो जरा विचारो तो सही कि उसकी भावना सही रूपमें अभी किस ओर लगी हुई है, जिसका कि यह सब प्रभाव बन रहा है । तो जहाँ इष्ट अनिष्टके विकल्प हों, रागादिककी बुद्धि हो, प्रीति हो, द्वेष हो, बस यह ही तो असंयम है ।

आत्मनिरीक्षणका अनुरोध—सम्यग्दृष्टिका अंग है एक निर्विचिकित्सा अंग । ग्लानि न करना, इसका बहुत बड़ा अर्थ है । प्रथम तो यह ही निरखो कि सम्यग्दर्शनके ८ अंगोंमें से हमारा किसी अंगरूप पालन होता है या नहीं । नहीं होता है तो फिर उसकी डींग मारनेसे क्या लाभ ? जरा अपनी गलती तो सोचो और मार्ग निकालो, ढंग निकालो, तो सही । केवल एक ऐसा ही कर लिया कि जैसे किसी बच्चेसे कह दिया—अरे तेरा कान कौवा ले गया तो अब वह बच्चा उस कौवाके पीछे दौड़ लगाता है, रोता है, उसे कोई समझाये कि अरे बच्चे पदले तू अपने कान टटोलकर देख तो सही, कौवा कान ले भी गया या यों ही भागता फिरता, रोता फिरता । जब उस बच्चेने अपने कान टटोला तो बस उसका दुःख खतम । ऐसे ही यह संसारी प्राणी अपने आत्मस्वरूपको भूलकर बाहर बाहर उपयोगको दौड़ा रहा, कितने ही ऊधम मचा रहा, फिर भी वह धर्मपालनकी डींग मारता फिरे तो उसे काम न बनेगा । उसे तो अपने आपके अन्तःस्वरूपको अपने ही अन्दर टटोलकर देखना होगा तब इसके उपयोगकी बाहरी भटकन खतम होगी ।

सम्यक्त्वके अष्टाङ्ग व्यवहारके निरीक्षणका स्मरण—पहले ८ अङ्गोंकी ही बात सोच लो । निशंकता—जिनवाणीमें शंका न करना, आत्मस्वरूपमें संदेह न होना निशंकता अङ्ग है । निःकांक्षा—विषयसाधनोंकी चाह न होना तथा धर्मसाधनाके एवजमें तो अन्य कुछ वांछा होना ही नहीं सो निःकांक्षित अंग है । निर्विचिकित्सा—धर्मात्मा जनोसे ग्लानि न करना सो निर्विचिकित्सा अंग है । मान लो कभी कोई धर्मात्मा पुरुष मल-मूत्रादि भी कर दे तो उससे ग्लानि न करना । जैसे कोई अपने बच्चेसे घृणा तो नहीं करता उसके मल-मूत्रादि कर देनेपर, ऐसे ही धर्मात्मा जनोसे भी ग्लानि न करना सो निर्विचिकित्सा अङ्ग है । दूसरी बात—जब कभी अपनेमें विभाव कष्टकर होते हैं तो उन विभावोंको यह जानना कि ये नैमित्तिक भाव हैं, आये हैं, ये चले जायेंगे । उनके आनेपर घबड़ायें नहीं, ग्लानि न करें, मनको दुःखी न बनायें—हाय अब क्या करूँ, मुझपर बड़ी विपत्ति आ गई.... अरे क्या विपत्ति आ गई ? ये तो प्रौपाधिक भाव हैं, तिरे स्वरूपमें तो विपत्ति नहीं । तू अपने निरापद स्वरूपको तो देख । इसमें क्षुधा,

तृषा आदिक वेदनायें आयें तो उनमें ग्लानि न होना । मानो कोई सामायिक कर रहा या शास्त्र प्रवचन कर रहा आधा घंटाको और उसीके बीचमें प्यास की सुध लग गई तो उसे छोड़कर पानी या दूध वगैरह कुछ पी ले तो क्या यह उसके लिए कोई भली बात है ? अरे इन विभावोंसे तुम इतना भी ग्लानपनाको नहीं रोक सकते । यदि नहीं रोक सकते तो फिर यह डींग क्यों मारते कि ये विभाव हैं, परभाव हैं, ये मेरे स्वरूप नहीं हैं । तो कहाँ निर्विचि-
कित्सा अंग है जरा ढूँढ़ो तो सही । अच्छा यह भी एक उसका रूपक है । चले जा रहे हैं, कोई अशुद्ध पदार्थ मार्गमें पड़ा है तो उसे देखकर भट नाक भी सिकोड़ने लगते । अरे जरा अपने उपयोगको तो देखो—तुमने परपदार्थकी ओर अपना उपयोग भटकाया । इसके तो ज्ञान है, वस्तुका स्वरूप है, दिख गया ठीक है, यह भी पदार्थ है । जरा सम्यग्दर्शनके अंगोंकी बात तो देखो उनका पालन हो रहा कि नहीं हो रहा । अब कोई ऐसी चतुराई की बात करे कि ये तो सब बाहरी बातें हैं, इनसे मेरा क्या मतलब ? भीतर तो मेरे सब कुछ जग रहा, तो भाई ऐसा नहीं होता । जरा थोड़ा विवेक बनावें, ढंगसे चलें, लक्षण देखें कि इन ८ अंगोंका पालन हो रहा कि नहीं हो रहा । यदि पालन नहीं हो रहा तो वहाँ सम्यग्दर्शन कहाँ ? देखिये—जैसे हाथ पैर बिना शरीर किसका नाम, ऐसे ही अष्टांग बिना सम्यग्दर्शन किसका नाम ? हाँ वहाँ यह बात रख सकते कि एक तो उन अंगोंको व्यावहारिक रूप दे सकते और एक पारमार्थिक । जहाँ खा पी रहे मनचाही चीजें, दुकान धंधा भी है, लड़ाई भगड़ेके अनेक प्रसंग भी हैं और वहाँ यह कहें कि व्यावहारिक अंगका क्या मतलब ? सो बात ठीक नहीं है । थोड़ा विवेकपूर्वक देखो तो सही, यदि पारमार्थिकता आयी है तो व्यवहारमें क्या यह झूठ, चोरीकी ही बात आयगी, जैसा कि जीवनमें चल रहा है । अरे उसका व्यवहार भी तो इतने सही ढंगसे चलता है जो कि परमार्थका अनुमापक बनता है । उपगूहन अंग—धर्मात्माके दोषों का आच्छादन करना उपगूहन कहलाता है । अगर जनताके समक्ष दोष प्रकट करेंगे तो वहाँ धर्मकी अप्रभावना होगी । लोग यही कहने लगेंगे कि धर्म तो ढोंग है, बेवल इन भावोंसे उप-
गूहन करना । फिर यह कर्तव्य है कि उनको समझाना, उनके दोषोंको दूर करना यह उप-
गूहन अङ्ग है । स्थितिकरण—कोई धर्मात्मा कभी धर्मसे च्युत हो रहा हो तो तन, मन, धन, वचन सब प्रकारसे उसको धर्ममें स्थिर करना स्थितिकरण अंग है । वात्सल्य—धर्मात्मासे निष्कपट प्रेम करना, देखते ही आल्हाद होना यह सम्यग्दर्शनका अनुमापक, और देखते ही जहाँ भीतरमें कष्ट हुआ—हाय यह ब्रती क्यों आ गया, न जाने कब जा रहा, न जाने क्या होगा……
वहाँ वात्सल्य अंग कहाँ पला ? थोड़ा अपनेमें दृष्टिपात करो कि हम अपनेमें कितना तो पतन की ओर चल रहे हैं और कितना हम अपना उत्थान कर रहे हैं । कल्पन ओंसे हम अपनेको अच्छा मान रहे ह ७९ से गुजरा तो न चलेगा । प्रभावना अङ्ग—ऐसे ही अपने आचरण द्वारा

प्रभावना अंगका पालन करें। अपना आचरण, अपना व्यवहार इतना निर्मल हो कि दूसरे जीवोंपर धर्मकी छाप पड़े। तो यह बात अष्टांग रूप हममें होना चाहिए और भीतरमें आत्म-दृष्टिका पौरुष होना चाहिए।

त्रसस्थावरजीवानां न बधायोद्यतं मनः।

न वचो न वपुः क्वापि प्राणिंतरक्षणं स्मृतम् ॥११२३॥

प्राणि संयम नामक द्वितीय व्यवहारसंयमका स्वरूपतथ्य—यह प्रकरण चल रहा है औदयिक भावोंका। पञ्चाध्यायीका यह अन्तिम प्रसंग है, औदयिक भावोंमें गति, कषाय, त्रिङ्ग, मिथ्यादर्शन, ज्ञानका तो वर्णन हो चुका, अब यहाँ असंयमका वर्णन चल रहा है। असंयमका अर्थ है अपनेमें अपने इस अविकार स्वभावमें स्थिर न हो सके, उसका नाम है असंयम। जिसके असंयम होता है उसके बाहरमें इन्द्रियासंयम और प्राणिअसंयम रूप प्रवृत्ति होती है। यह असंयम औदयिक भाव है। किसके उदयसे हुआ है यह? तो यह उदय हुआ चारित्रमोह कर्मके उदयसे। चारित्रमोहका विपाक हुआ, वहाँ आत्मामें उसका प्रतिफलन हुआ और यह स्वभावसे चिगता हुआ उन कषायों में लीन हुआ यह अपने स्वरूपमें स्थिर नहीं हो पाता। उस असंयमके दो भेद बताये गए थे—इन्द्रिय असंयम और (२) प्राणि असंयम। यह बात संयमके लक्षणमें कही जा रही है। त्रस और स्थावर जीवोंके वधके लिए न मन उद्यमी हो, न वचन और न काय (शरीर) उद्यमी हो उसे कहते हैं प्राणिसंयम। ज्ञानी पुरुष ने जब आत्मस्वरूपका अपनेमें निर्णय बनाया और बाहरमें सब जीवोंके प्रति ठीक उसी प्रकारसे स्वरूप दर्शन किया, उसकी यह भावना रहती है कि किसी भी जीवको संक्लेश न हो और मुझसे कोई प्रवृत्ति ऐसी न बने कि जो दूसरेके संक्लेशका कारण बने। वह प्राणिसंयमकी प्रवृत्ति करता है। एक बात और ध्यान देनेकी है कि जीवरक्षा, जीवकी दया, किसीका वध न हो, मेरे कारण मेरे निमित्त तो किसी जीवका प्राणघात न हो। इसमें लौकिक बात तो यह है कि उसको तुरन्त कष्ट हो रहा है, उसमें संक्लेश कर रहा है और उसको बड़ी वेदना हो रही है, तो उसकी वेदनाको कोई विवेकी पुरुष कैसे बरदाश्त करे? जो सहृदय है वह दूसरेके दिलको दुःखी देखकर खुद दुःखी हो जाता है इसलिए वह दयापालन करता है। दूसरी बात यह है कि कोई जीव संक्लेशपूर्वक मरण करे तो यह निश्चित है कि जिस भवमें वह जीव था उस भवसे गिरा हुआ भव मिलेगा। संक्लेशमरणका ऐसा ही एक काम है कि जिस भवमें रहे उस भवसे और गया-बीता भव उसको मिलेगा। तो मैं जरासा प्रमाद करूँ, असावधानी बर्तूँ और उस प्रसंगमें कोई जीव संक्लेशसे मरण करे और वह गये-बीते भवाम जन्मे, जैसे मानो चारइन्द्रिय जीव था वह मरकर तीनइन्द्रिय, दो इन्द्रिय, एकेन्द्रियमें जन्मे तो वह तो और नीचे की ओर गया। जो उठा था, जिसका ज्ञान बढ़ रहा था वह और

पत की ओर गया तो वह तो मोक्षका मार्ग तो खैर वहां था ही नहीं, फिर भी देखो तो सही उसकी दशाकी ओरसे तो वह बहुत दूर नीचे पहुंच गया। प्राणिरक्षा, जीवदया यह ही तो प्राणिसंयम है।

इत्युक्तलक्षणो यत्र संयमो नापि लेशतः।

असंयतत्वं तन्नाम भावोऽस्त्यौदयिकः स च ॥११२४॥

औदयिक असंयतभावके स्वरूप तथ्यका उपसंहार—इस प्रकार उक्त लक्षण वाले, संयम जहां लेशमात्र भी नहीं है उसको कहते हैं असंयमपना और ऐसा असंयमभाव औदयिक है। चारित्रमोहनीय कर्मके उदयका निमित्त करके यह जीव असंयमरूप जीवकी परिणतिमें प्रकट होता है। ज्ञानी पुरुष संयमकी ओर इतना झुका हुआ होता कि संयम कुछ नहीं पाल सकता तो भी उसकी सहजवृत्ति ऐसी बनती है कि वह लोकाचार या दूसरोंके अनर्थके लिए नहीं रहती और इस अंतःसंयमकी ओर उसकी चटापटी रहती है। दौलतरामजी ने भी इस चटापटी शब्दका प्रयोग किया है—संयम धर न सकें, पर संयमधारणकी चटापटी तो सम्यक्त्व धारण करनेके बाद तीव्र अभिलाषा रहती है आत्मस्वरूपमें स्थिर होनेकी और जो संयमकी ओर चले तो मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति जब जब हो उसकी तब तब कैसी हो? यही तो व्यवहारसंयममे कहा है। देखो किसीके कमरेको सजा हुआ देखकर आप झट यह ज्ञान कर लेंगे कि इसमें रहने वाला मालिक इस प्रकारके आचरण वाला है, ऐसी-ऐसी वासना भावना वाला है, वहाँके चित्रोंको देखकर, वहाँकी बाहरी बातोंको देखकर आप उसके बारेमें झट जान जायेंगे। देखो वह चित्र बिल्कुल अलग चीज है, न शरीर है, न मन है, न वचन है, पर उन चित्रोंकी सजावट कलाकी अपेक्षा तो यह बहुत नजदीककी चीज है—शरीर, मन और वचन। जिसको जैसी भावना होती है उसके मन, वचन, कायकी उस प्रकारकी चेष्टा बनती है। उससे जाना जाता है कि इस जीवका कितना संयमकी ओर परिणाम है? तो ये दोनों प्रकारके संयम जहाँ लेश भी नहीं होते हैं उसे कहते हैं असंयम।

ननु बाऽसंयतत्वस्य कषायाणां परस्परम्।

को भेदः स्याच्च चारित्रमोहस्यैकस्य पर्यायात् ॥११२५॥

असंयम भाव व कषायमें अन्तर समझनेकी जिज्ञासाके प्रसंगमें परभावके स्वरूपका विवरण—देखो यह भीतरके ऊधमकी चर्चा चल रही है। अन्दरमें क्या ऊधम मच रहा है और यह जीव किस तरह परेशान है, वह सब ज्ञान इसमें आप पाते जायेंगे। चारित्र मोह-कर्पका विपाक है, उसकी बात उस कर्ममें है, पर चूंकि यह स्वच्छ है, जीव उपयोगस्वरूप है, ज्ञानस्वरूप है, प्रतिभासना इसका निरन्तरका काम है तो उस विपाक समयमें उस कर्मरसके प्रतिफलनके साथ ही यह जीव अपने से बाहरमें लंगा, यह चल रहा है भीतरमें ऊधम। उस-

की ही चर्चा हो रही कि यह ऊधम औद्यिक है। हमारे निजके स्वरूपकी चीज नहीं हैं। परभावका यह अर्थ नहीं है कि इन विषयसाधनोंकी ओर जुटनेका भाव बना उसे परभाव कहते हैं। इसमें तो अनेकांतिक दोष है, क्योंकि ऐसे भी परभाव होते हैं कि बाहरी विषय-साधनोंकी ओर नहीं जुट रहा कोई और परभाव चल रहे हैं, क्योंकि ये परभाव बुद्धिपूर्वक और अबुद्धिपूर्वक दोनों तरहके होते हैं। बुद्धिपूर्वक रागद्वेषमें तो बाहरी विषयसाधनोंमें उपयोग जुटता है, पर अबुद्धिपूर्वक रागद्वेषमें, विकारोंमें, बाह्य विषयसाधनोंमें उपयोग नहीं जुटता है, दोनों तरहके परभाव हैं। यदि यह कल्पना करे कोई कि विषयोंमें उपयोग जुटता तो विकार हो तो फिर दूसरी बात यह है कि उपयोगका बाह्य साधनोंमें जुटना कारण बना और विभावोंका होना कार्य बना, यह विपरीत स्थिति आती है। तब वास्तविकता क्या है? यह है कि परमायने कर्म। पौद्गलिक कर्मोंका उन पौद्गलिक कर्मोंका विपाक हुआ, उदय काल आया और उसमें वे कर्म जिस प्रकृति अनुभाग वाले थे उस ढंगमें वैसा विकार बना और अनिवारित प्रतिफलन होता ही है, बस परभाव बना। अब उस प्रतिफलनमें उस कर्मरस की छायामें जो जीव जितना भुके उसको उतनी नीव्रताकी बात आती है। तो पौद्गलिक कर्मका उदय पाकर जो भाव होते हैं उसे कहते हैं परभाव। विषयसाधनोंमें जुटनेका भाव बनता इस कारण परभाव नहीं, किन्तु पौद्गलिक कर्मका उदय होने पर जो विकार बनता है जीवमें उसे कहते हैं परभाव, परका निमित्त पाकर अपने आपमें होने वाले भाव। तो ये असंयमभाव परभाव हैं, क्योंकि ये सब चारित्र्यमोहके विपाकसे हुए हैं।

जीवविकारके प्रसंगमें कारणोंका विवेचन—देखिये—तीन बातें फिर याद कीजिए। जीवविकारके प्रसंगमें तीन कारण होते हैं—(१) उपादान कारण, (२) निमित्त कारण और (३) आश्रयभूत कारण। उपादान कारण तो यह अशुद्ध जीव है रागद्वेष वाला और निमित्त कारण है कर्मोदय और आश्रयभूत कारण। कर्मके सिवाय बाकी जगत्के वे सब पदार्थ जिनको जीव उपयोगमें लेता है और व्यक्त कषायमें आता है ये सारे साधन जितने दिखने वाले हैं वे सब आश्रयभूत कहलाते हैं। आश्रयभूत कारण उपचारित कारण है, भूता कारण है, इसका नैमित्तिकके साथ अन्वयव्यतिरेक सम्बंध नहीं है। न जुटे बाह्यमें उपयोग तो भी विकार होते हैं, क्योंकि बुद्धिपूर्वक विकार इसीको ही कहा करते हैं। तो बाह्य पदार्थमें उपयोग जुटना यह निमित्त कारण नहीं कहलाता, जिससे कि यह बात समझी जाय कि देखो यह नौकर सामने था, फिर भी क्रोध नहीं आया। यह जीव भगवानके समवशरणमें गया, फिर भी सम्यग्दर्शन नहीं हुआ। तो समवशरण सम्यग्दर्शनका निमित्त कारण नहीं, नौकर-चाकर आदिक जिन-जिन बातोंपर गुस्सा आती है वे वे क्रोधादिकके निमित्त कारण नहीं हैं, ये सब उपचारित कारण हैं, और ये बुद्धिपूर्वक कषाय जगनेके प्रसंगमें आश्रय हुआ करते हैं। निमित्त कारण तो

सम्यग्दर्शनके लिए ७ प्रकृतियोंका उपशम, क्षय, क्षयोपशम और क्रोधादिक विकारके लिए क्रोधप्रकृति आदिकका उदय ये निमित्त कारण हैं, क्योंकि इनका अन्वयव्यतिरेक सम्बंध है नैमित्तिकके साथ अर्थात् क्रोधप्रकृतिका उदय न हो तो जीवमें क्रोधभाव हो नहीं सकता। यह व्यतिरेक सम्बंध है, इस कारण नैमित्तिकताकी सही बात ध्यानमें लायें। लोग प्रायः इन बाहरी बातोंमें जो देखा बस उनमें ही कारणकी कल्पना करते हैं। सो समझना चाहिए कि ये सब उपचरित कारण हैं, वास्तविक कारण नहीं हैं, एक बात। दूसरी बात—इसमें कारण की बात केवल एक जीव विकारके प्रसंगमें ही आती है, बाकी सर्वत्र दो ही कारण होते हैं—(१) उपादान कारण और (२) निमित्त कारण। जैसे बाहरमें इतने अचेतन पदार्थ हैं उनमें अनेक परिणतियाँ हो रही हैं। आगका सन्निधान पाकर तिनका जल गया तो तिनका जला वह है उपादान कारण, आगका सन्निधान मिला वह निमित्त है। वहां आश्रयभूत कारण नहीं होता। आश्रयभूत कारण तो केवल जीवविकारके प्रसंगमें है। जिसपर उपयोग दें, जिसको ज्ञानमें लें और यह उपयोग व्यक्त विकृत हो वह आश्रयभूत कारण होता है। तो असंयम भावमें ये सब आश्रयभूत कारण हैं।

आश्रयभूत कारणके परिहारकी आवश्यकता—आश्रयभूत कारणके त्यागका समय-सारमें उपदेश किया गया है। जहाँ कहा गया कि बाह्य पदार्थोंका आश्रय किए बिना अध्यवसान अपना स्वरूप नहीं रख पाता। तो वहीं प्रश्न किया गया तो फिर बंधका कारण कौन है ? बाह्यवस्तु बंधका कारण है क्या ? नहीं नहीं, बंधका कारण तो अध्यवसान है और उस अध्यवसानका कारण बाह्यवस्तु है, जिसपर आश्रय करके अध्यवसान बना, सो इसी कारण बाह्य वस्तुका प्रतिषेध किया जा रहा है। यह ही कुञ्जी समस्त चरणानुयोगकी है कि अध्यवसानका कारणभूत, आश्रयभूत कारण नहीं हो तो यह बहुत सम्भव है कि अध्यवसान इसके न हो। कोई ऐसी वासना वाले भी पुरुष होते हैं कि बाह्यवस्तुका त्याग कर दिया, फिर भी वह उसकी चिन्ता, उसका शल्य, उसका विकल्प रखता है, तो हो कोई ऐसा हो जाय तो उत्सर्गके उपदेशमें तो यह ही विधि है कि बाह्य वस्तुका त्याग करे। जब अन्तःभाव उमड़ते हैं, अपने आपकी ओर भाव जगते हैं, बाह्यपदार्थोंका त्याग आसानीसे हो जाता है, तो असंयमभावमें बाह्यवस्तुका आश्रय भी आया यहाँ और चारित्रमोहनीयका उदय यह निमित्त है, वह भी आया यहाँ और स्वयं जो असंयमरूप परिणम रहा है जीव, वह है अशुद्ध उपादान।

असंयम भाव व कषायभावमें परस्पर अन्तर जाननेकी जिज्ञासा—यहाँ प्राणियोंकी दया, प्राणियोंकी रक्षाको बताया प्राणिसंयम और इन्द्रियोसे विरक्त होनेको बताया इन्द्रिय-संयम। तो यहाँ एक प्रश्न किया जा रहा है कि असंयम और कषायमें परस्पर अंतर है क्या ? चारित्रमोहके उदयमें कषाय हुई और चारित्रमोहके उदयमें ही असंयम हुआ, अन्तर क्या रहा कषायमें और असंयममें ? कषायमें भी क्लृप्त परिणाम है, असंयममें भी क्लृप्त परिणाम है,

फिर दो बातें अलगसे जो कही गई हैं, कषायको भी औपाधिक भाव बताया, असंयमको भी औपाधिक भाव बताया, और दोनोंका निमित्त है चारित्रमोहका उदय, फिर इनमें अन्तर क्या रहा, एक ऐसा प्रश्न हो रहा है। यह सब भीतरमें एक बहुत तथ्यकी बात अभी बताई जावेगी इसी अन्तरके परिचयमें, उस अन्तरको बतलाते हैं।

सत्यं चारित्रमोहस्य कार्यं स्यादुभयात्मकम् ।

असंयमः कषायाश्च पाकादेकस्य कर्मणः ॥११२६॥

असंयमभाव और कषायभावमें परस्पर अन्तर बतानेके प्रसंगमें समाधानकी संक्षिप्त दिशाका दिग्दर्शन—कहते हैं कि बात तो सही है कि चारित्रमोहका कार्य असंयम है और चारित्रमोहका कार्य कषाय है, एक ही कर्मके विपाकमें ये दोनों बातें हुईं, सो होओ, इसमें विरोधकी बात कुछ नहीं। आगे बतायेंगे कि एक ही कर्ममें दो प्रकारकी शक्तियाँ हैं। जैसे अनन्तानुबन्धी कषायमें सम्यक्त्व घातनेकी शक्ति और चारित्र घातनेकी शक्ति—ये दोनों शक्तियाँ हैं तो चारित्रमोहमें कषाय और असंयम दोनोंकी शक्ति है। भले ही एक ही कर्मके उदयमें ये दोनों भाव होते हैं। यहाँ एक बात और समझनी है अन्तर समझनेके लिए। कषाय मायने क्रोधरूप विकल्प। क्रोध, मान, माया, लोभ रूप विकल्प ये तो हुए कषाय और असंयम क्या कि आत्मस्वरूपमें न लग सकना, वहाँ भी अभिमुख न हो पाना, उसमें स्थिर न होना, उसकी ओर चलना भी नहीं, यह हुआ असंयम। अब यहाँ अन्तर आप ताड़ गए होंगे कि बात एक ही है और एक ही समयमें हो रहे हैं और एक ही कर्मविपाकमें चल रहे हैं, मगर देखो क्या एक कारणसे दो प्रकारकी बात नहीं होती क्या? अनेक वस्तुओंमें ऐसी सामर्थ्य है, अग्नि है, प्रकाश भी करती, जला भी देती, ये दोनों काम एक साथ तो कर ही रही है—गर्मी बढ़ाये और प्रकाश भी हो, तो एक ही परिणाम है वह, मगर उसकी दृष्टि देखिये—आत्मस्वभावमें स्थिर न होना यह तो हुआ असंयम और क्रोध, मान, माया, लोभ रूप विकल्प चलना, यह हुआ कषाय और दोनों का निमित्त चारित्रमोहका उदय है।

निमित्तनैमित्तिक भावके परिचयसे प्रयोग योग्य शिक्षण—एक शिक्षा इस निमित्त-नैमित्तिक भावके परिचयसे अवश्य लेनी कि जब यह परिचय होता है कि यह मलिनता, यह कलुषता इस जीवमें स्वयं अपने आपके स्वभावसे नहीं आयी है, किन्तु पर-उपाधिका सन्निधान पाकर आयी है, जिसमें कि रंज भी विवाद नहीं। हाँ, कर्ता कर्मकी बुद्धि कोई करे तो वह निश्चय है। कोई भी पदार्थ किसी दूसरे पदार्थरूप कभी परिणम ही नहीं सकता। स्वरूपमें ही यह बात नहीं है। वस्तुस्वरूप ही नहीं कि परसे कुछ मिले। अगर कोई भी विकार, कोई भी विषमता चाहे छाया हो, प्रकाश हो, गर्मी हो, सर्दी हो, क्रोध हो, मान हो, कहीं भी हो अचेतनमें हो, चेतनमें हो, जितना विषम परिणाम है, जो एक समान नहीं रह सकता, विर

काल तक, ऐसी जितनी भी स्थितियाँ हैं वे स्थितियाँ पर-उपाधिके अभावमें हो ही नहीं सकतीं। कोई भी उदाहरण न मिलेगा ऐसा, न चेतनमें, न अचेतनमें कि कोई भी विसम स्थिति पर-उपाधिके सन्निधान बिना हुई हो। बात यहाँ यह कही जा रही है कि निमित्तनैमित्तिक भाव के परिचयसे स्वभावदृष्टि पाना कितना सुगम है? जहाँ यह बोध हुआ कि यह सब ऊधम, विपत्ति, यह कषाय, यह विकल्प, ये सब क्या हैं? यह सब कर्मरसकी झलक है। मैं तो अपनेमें सहज चैतन्यस्वरूप हूँ, अपने आप अपने स्वभावसे तो मैं एक चैतन्यप्रकाश मात्र हूँ। जैसे दर्पणको निरखकर यह ज्ञान हो जाता है सहसा कि इसमें यह प्रतिबिम्ब सम्मुख आया, हाथका फोटो आया, जो छाया आयी है सो ये परभाव हैं अर्थात् परनिमित्तका सन्निधान पाकर होने वाली परिस्थिति है। यह उस दर्पणकी, स्वयंकी झिलमिलसे उत्पन्न नहीं हुआ है। यद्यपि यह बात है कि स्वयंकी झिलमिल न हो तो वहाँ फोटो नहीं आ सकती, मगर वह प्रतिबिम्बका आना, फोटोका आना, परसन्निधान पाकर हुआ है इसलिए परभाव है, और लोग प्रक्रिया करके हटा देते हैं। न चाहिए फोटो, खाली दर्पण चाहिए, तो उसकी प्रक्रिया कर लेते हैं, तो यहाँ तो प्रक्रिया इस तरह है, पर अपने आत्माकी विभाव हटानेकी प्रक्रिया स्वभावदर्शन है, स्वभावदृष्टि है। ये विभाव फेंके तो जा नहीं सकते, छुवे तो जा नहीं सकते कि इन कषायोंको, इन असंयमोंको मुट्ठीमें बांधो और दूर फेंक दो। यह विभावविवृत्ति तो स्वभावदृष्टिसे सहज बन जाती है। स्वभावका उपयोग कीजिये, स्वभाव केवल ज्ञानप्रकाश मात्र है। अपने आपके सत्त्वके कारण, अपने ही अगुरुलघुत्व गुणके कारण, निरन्तर परिणामन-शीलताके स्वभावके कारण यहाँ निरन्तर जो अज्ञान अनुरूप एक प्रकाश है, प्रतिभास है वह मेरी समृद्धि है, ऐसा निरखकर उसका सामर्थ्य, उसकी शक्तिको निरखते हुए वैसा ही अपने ज्ञानको स्थिर करना यह है विकार, विभावको फेंक देनेका उपाय। उन विभावोंपर, उन विकारोंपर दृष्टि रखकर ये नहीं हटा करते, बल्कि जैसे कोई अपनी छायाको पकड़कर हटाना चाहे तो वह उसे यों हटा नहीं सकता, क्योंकि ज्यों-ज्यों वह उसे पकड़नेकी कोशिश करेगा त्यों त्यों वह छाया बनती ही चली जायगी और उस छाया को हटानेका विकल्प छोड़ दें, उससे मुख मोड़ लें, उसे देखें ही नहीं तो वह छाया आपके उपयोगसे दूर हो जायगी। तो इसी तरह हम इन विभावोंको, इन विकारोंको दृष्टिमें रखकर हटाना चाहें तो ये इस तरहसे हट नहीं सकते, बल्कि उनको हटानेका विकल्प बनाया तो अपने ऊपर एक विकल्पका विकार और सवार कर लिया। हटानेकी बात तो दूर रही। इन विभावोंको हटानेका उपाय केवल स्वभावाश्रय है, उनकी ओर दृष्टि करना उनके हटानेका उपाय नहीं है। तो यहाँ असंयमके प्रकरणमें बताया जा रहा है कि यह असंयम औपाधिक भाव है। चारित्र्यमोहका उदय पाकर हुआ है। तो अब क्या करना? अर करना क्या? ज्ञान लें सही कि ये औपादिक हैं, मेरे

स्वरूप नहीं हैं। मैं परमें लगूँ क्यों? मैं औदयिकमें क्यों जाऊँ? नहीं नहीं, मैं तो अपने में ही रहूँगा। मैं तो अपने स्वरूपमें ही रहूँगा, मैं तो अपने स्वभावकी ओर ही रहूँगा। तो भले ही ये असंयमभाव एक चारित्रमोहके उदयमें हुए हैं, पर जो स्वभावमें न लगना यह बात चल रही है वह तो है असंयम और विकल्प उखड़ रहे हैं, उखल रही हैं कषायें ये हैं कषायें यह इन दोनोंमें अन्तर है।

पाकाच्चारित्रमोहस्य क्रोधाद्याः संति षोडश ।

नव नोकषायनामानो न न्यूना नाधिकास्ततः ॥११२७॥

असंयम और कषायमें अन्तर बतानेके प्रसङ्गमें कषायके हेतु व भेदोंका कथन— चारित्रमोहके उदयसे क्रोधादिक आते हैं और वे १६ प्रकारके भेद हैं—अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ। और ६ नोकषाय हुआ करते हैं—हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, और तीनों वेद ये सब १६ व ६ मिलकर २५ कषायें हैं। ये चारित्रमोहके उदयसे होते हैं, और साथ ही यह भी तो निरखना कि इन कषायोंके समय, इन विकल्पोंके समय यह जीव क्या अपने स्वरूपमें स्थिर है या अलग है? उसके असंयम बन रहा है। उस असंयमकी जातियाँ अनेक हैं और तुलनामें सूक्ष्म दृष्टिसे स्वरूपमें स्थिर न होने तक किसी भी स्थितिमें हो, उस असंयतताको देखा जा सकता है, फिर भी चूँकि संयमासंयम और संयमके भेद भी हैं। इस कारण लेशमात्र भी संयम नहीं होना, उसे असंयम कहा गया है। इस तरह कषायमें और असंयममें यह अन्तर स्पष्ट हुआ। तो इसका खुलासा आगे भी किया जायेगा। इस प्रकरणमें बस यह शिक्षा लें कि असंयम मेरा स्वरूप नहीं, ये भोगने पड़ रहे हैं। मैं तो केवल चैतन्यप्रकाश मात्र हूँ। मैं अपने ही स्वभावकी ओर जाऊँगा। इस कर्म-लीला और कर्मरसकी ओर मैं न दौड़ूँगा।

पाकात्सम्यक्त्वहानिः स्यात् तत्रानन्तानुबन्धिनाम् ।

पाकाच्चाप्रत्याख्यानस्य संयतासंयतक्षतिः ॥११२८॥

अनन्तानुबन्धी कषायोंके उदयसे सम्यक्त्वकी हानिका कथन— असंयम भाव औदयिक है, इसी प्रसंगमें असंयमभावके कारणभूत कषायोंकी चर्चा चल रही है। चारित्रमोहमें दो प्रकारकी शक्तियाँ हैं कि वह असंयमका भी कारण हो और कषायोंका भी कारण हो। तो १६ कषायोंमें कौनसी कषाय किस कार्यका निमित्त है? यह बात इस श्लोकमें कही जा रही है। अनन्तानुबन्धी कषायके उदयसे सम्यक्त्वकी हानि होती है। अनन्तानुबन्धी कहते हैं मिथ्यात्वका अनुबन्धन करने वाली कषायको। उस कषायप्रकृतिके उदयमें सम्यक्त्वकी हानि है। देखिये—इन सब घटनाओंसे निश्चयनय और व्यवहारनय—इन दोनोंसे क्या ज्ञात होता है कि जीवमें जो कुछ होता है वह जीवकी परिणतिसे होता है, यह निश्चयनय बतायगा। निश्चय-

नय दूसरे द्रव्यपर दृष्टि नहीं देता । उसका एक ही द्रव्यसे काम रहता है—स्वाश्रितो निश्चयः, केवल एक ही स्व, जिसकी चर्चा हो उसमें ही जो अभिप्राय बनता है उने निश्चयनय कहते हैं । तो निश्चयनयसे देखते जाओ तो एक ही चीज दिखेगी । तो वहाँ जीवमें यह मिथ्यात्व परिणति है, सम्यक्त्व परिणति है । ये परिणतियाँ होती जा रही हैं, उसका कारण वही है । शुद्ध हो वह भी अपनी परिणतिसे परिणमता, अशुद्ध हो तो भी अपनी परिणतिसे ही परिणमता है, यह दिखेगा । व्यवहारनयसे देखेंगे तो निमित्तनैमित्तिक भाव दिखेगा कि वस्तु तो अपने आप अपने स्वरूपमें अपने ही स्वरूपमात्र है, उसमें जो कार्य होना चाहिए वह तो शुद्ध परिणमन ही होना चाहिए । मगर यह ऊधम कैसे आया ? यह तो व्यवहारनय निर्णय बता-यगा कि पर-उपाधि का सन्निधान पाकर यह बात बनी है । व्यवहार और निश्चयनयसे हुए जो ज्ञान हैं उन दोनोंको बहुत संक्षिप्त भाषामें जानें तो कहियेगा—घटित ज्ञान और फलित ज्ञान । निश्चयनयमें जो वर्णन हुआ वह फलित ज्ञान है और व्यवहारनयने जो वर्णन किया वह घटित ज्ञान है । कैसे घटा, क्या बात हुई, यह निर्णय व्यवहारनयने बनाया और घटना के फलस्वरूप क्या बात गुजरी ? वहाँ तो घटनापर दृष्टि न देकर केवल एक उस गुजरे गुजरे पर ही ध्यान दिया जाय तो वह फलित कार्यका ज्ञान कहलाता है ।

द्रव्य या पर्यायविषयक किसी भी बोधका प्रतिपक्षका विरोध कर एकान्त करनेमें अश्रेय—द्रव्य व पर्याय—इनमें अगर कोई एकांत बने, जैसे फलित कार्यका एकांत बनता, वह तो पदार्थमें उसकी योग्यतासे ऐसा होता ही चला जा रहा, इसमें परकी क्या बात ? निमित्त सन्निधान हो न हो, अपेक्षा हुई तो हुई, न हुई तो न हुई । इस प्रकारका अभिप्राय बनाकर जो एक फलित अर्थका ही एकान्त किया जाय तो वह मिथ्या इस कारण हो जाता कि जब एक अपने आपसे ही यह सब कुछ हुआ, वहाँ पर-उपाधिके सन्निधानकी बात ही नहीं है तब यह विकार तो नित्य हो जायगा । सदा विकार होते रहेंगे, और विषमता क्यों हो रही है ? यह भी एक समस्या सामने आयेगी । और निमित्तनैमित्तिक भावका आशय बदलकर एकान्त कर दिया जाय तो क्या दोष ? यह भी देखिये यहां एकान्तका अर्थ क्या है कि प्रतिपक्षनयकी बात न मानकर विवक्षितनयको ही मानने को एकान्त कहते हैं । एकान्तका अर्थ ही यह है कि जब वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक है तो आत्मामें पर्यायकी बातका विरोध करके द्रव्यकी ही बात मानना एकान्त है तथा द्रव्यकी बातका विरोध करके पर्यायकी ही बात मानना एकान्त है । जैसे द्रव्य और पर्याय दृष्टिसे दो एकान्त ज्यादाह प्रसिद्ध है—(१) सांख्य (२) बौद्ध । सांख्यने किया द्रव्यका एकान्त, बौद्धने किया पर्यायका एकान्त । तो सांख्यने द्रव्यका एकान्त किया तो वहाँ उन्होंने यह घोषणा की कि ब्रह्म है, एक है, अद्वैत है, अपरिणामी है, उसमें कुछ बदल ही नहीं है, यह एकान्त बनता और बौद्धने पर्यायका एकान्त किया तो एक क्षणको जो पर्याय

है उसे ही पूरा सर्वस्व पदार्थ मान लिया तब ही तो वह एकान्त बना। तब जब पर्यायको पूरा एक द्रव्य मान लिया तब वहां ये निर्णय चले, जैसे कि बौद्ध शास्त्रोंमें बहुत भरे हुए हैं कि बस एक वही क्षण, उसका नाम है क्षण। पर्याय शब्दसे वे नहीं बोलते, द्रव्य शब्दसे भी नहीं बोलते, किन्तु उसका नाम रखा है क्षण। सायने वह पूरा पदार्थ एक समयका क्षणिकवाद में एक समयका ही पदार्थ होता है, दूसरे समय ठहरता ही नहीं पदार्थ। आप पर्याय शब्द बोलते जावो ताकि उसके साथ समन्वय हो सके कि पर्यायके एकान्तमें और बौद्धमतका कैसा समन्वय चलता है? क्षणिकवादका सिद्धान्त है कि वह अपने समयमें होता है। उसका कोई हेतु नहीं है। क्षणकी (पर्याय की) उत्पत्ति अहेतुक है। हाँ थोड़ा सा उनको यह कहना पड़ा कि विनाश सहेतुक है। क्यों कहना पड़ा, क्या बात थी? विनाशको भी अहेतुक कह देते तो उस क्षणका नाम आप पर्याय लेते जाइये, उस क्षणका कोई कारण नहीं, उस क्षणका कोई कार्य नहीं। वह स्वतंत्र है, उसका किसी भी पूर्वसे, परसे कोई संतान नहीं। एक पर्यायको ही पूरा द्रव्य माना और सूक्ष्म ऋजुसूत्रनयकी दृष्टिसे जो जैनसिद्धान्त कह सकता है उसीको ही सर्वथा कह डाला, यह पर्याय एकान्तकी बात है। मगर वस्तु तो द्रव्यपर्यायात्मक है। एक बार तो यह कहा जा सकता कि वस्तुमें जो गुणकी चर्चा है वह काल्पनिक है। यद्यपि वह बलाना कोरी नहीं है, क्योंकि वस्तुस्वभावके अनुरूप उतरी है, फिर भी भेद करके ही तो कहा। तो एक बार गुणकी कल्पनाओंको गौण कर दो, अथवा दृष्टि ही न दो, काम चल जायगा एक बार, क्योंकि गुणोंका जो एक पुञ्ज है वह स्वभाव अखण्ड है वह तो माना ही जा रहा है। मगर पर्यायका प्रतिषेध करके काम बिल्कुल नहीं चलता, क्योंकि वस्तु मूलतः द्रव्य-पर्यायात्मक है। केवल द्रव्य द्रव्य नहीं, केवल पर्याय पर्यायरूप नहीं। पर्यायशून्य द्रव्य सांख्य का है। द्रव्यशून्य पर्याय बौद्धोंका क्षण है। तो जब हम एक निश्चयनयसे निरखते हैं तो उस ही वस्तुमें उस ही की पर्यायें सब दृष्टगत होती जाती हैं। मगर घटितका निषेध करके फलित का ज्ञान करना उतरेगा नहीं। अब घटित ज्ञान ज्ञानमें भी याने क्या घटना हुई, किस उपाधि का सन्निधान हुआ, उपादान किस रूप परिणाम गया, इस चीजको अगर उपादान और उसकी परिणति ये न कबूल करें तो उसका भी एकान्त बने। वहाँ कर्ता कर्म बुद्धि बन जाती है।

स्याद्वाद शासनके उल्लंघनमें अहित—भैया ! स्याद्वादकी ऐसी हितमयी कला है कि इसमें बड़ा संतुलन करना होता है। जैसे किसीको कोई गर्मीका रोग है तो उसको तेज ठंडी बढ़ाने वाली दवा न दी जायगी। कुशल वैद्य क्या करता है कि गर्मी और सर्दी इन दोनोंका मिश्रण उत्पन्न करने वाली दवा देगा। न अधिक गर्मी बढ़ाये और न अधिक सर्दी, गर्मी भी रहे और सर्दी भी ऐसी संयुक्त औषधि देता है। अगर गर्मीके रोगमें रोज सदा चीज दे दी जायगी तो भी मर्ज काबूमें न रहेगा और अगर सर्दीके रोगमें तेज गर्म चीज दे दी जायगी तो

भी रोग काबूमें न रहेगा। तो जैसे गर्मीके रोग वालेको गर्म दवा अधिक और शीतदवा कम, ऐसी संयुक्त बात होती है वह असर करती है, ऐसे ही दो नय हैं—(१) व्यवहारनय और (२) निश्चयनय। व्यवहारनयने तो निमित्तनैमित्तिक बतलाया और निश्चयनयने एक फलित बात बतलायी। अब इनमें किसीको मान लो, किसीको निश्चयएकान्तका रोग हो गया तो अब उसे यदि तेज दवा दी जाय, मायने कर्ता कर्मत्व बुद्धिकी बात सुना करें, लो कर्मने ही तो किया यह, ऐसी तेज दवा दी जाय और वह उस दवाको अंगीकार कर ले तो वह वहाँ से भ्रष्ट हुआ तो यहाँ भी उसका रोग बढ़ गया। इसी तरह जो व्यवहारका रोगी है उसको निश्चय एकान्त ही तेज दवा दी जाय, अजी वहाँ निमित्त कुछ नहीं है, वह तो कहने मात्रको है। यह सब उसकी योग्यतासे चल रहा मानो इस भाषामें कि हो तो क्या, न हों तो क्या, वह तो हो ही रहा, तो ऐसी तेज दवा देनेसे इसका भी रोग काबूमें न रहेगा याने रोग काबूमें रहनेके मायने यह हैं कि यह जीव स्वभावदृष्टिका पात्र बने। स्वभावदृष्टिका पात्र बनना है तो प्रतिपक्ष नयको अंगीकार करके विवक्षित नयकी मुख्यता लेकर स्वभावदृष्टिके लिए उद्यम करें, बस यह है एक सही उपाय।

स्वभावदृष्टिके पौरुषका लक्ष्य करके नयोंका विषय जाननेकी उपयोगिता— देखिये—जब अनुभव जगता है तो अनुभवते पहले शुद्ध नय होता है। शुद्ध नयका विषयभूत जो एक अवक्तव्य अखण्ड अभेदस्वरूप है उस तक आये कोई तो अनुभवमें उतरेगा, मगर उससे पहले निश्चयनय, व्यवहारनय ये सब उसके प्रयोगमें आते हैं। जैसा यहाँ वर्णन औदयिक भावोंका चल रहा और यह निरखा जा रहा है कि कषाय प्रकृतिका, उदयका सन्निधान पाकर ये विभाव मच रहे हैं, ये आत्माके स्वभावकी वस्तु नहीं। आत्मा इनसे निराला अपने स्वरूप मात्र है। ऐसा ध्यान यहाँ आ और उस अखण्ड स्वरूपमें इसका ज्ञान बने तो वह स्वानुभव के निकट वाला ज्ञान है। इसी तरह निश्चयनय द्वारा यह पदार्थ है, इसपर यह परिणति हुई है, इसकी यह परिणति है, इस तरह ध्यान दे तो किसकी परिणति है, यह मुख्य विषय बन जायगा। तो एक उसपर दृष्टि रहनेसे शुद्ध नयके विषयभूत अखण्ड तत्त्वका ज्ञान बनता है और उससे फिर स्वानुभव होता है। तो जिससे काम निकले उस दृष्टिको अपना मुख्य बनावें, मगर उसके प्रतिपक्ष बातका विरोध न करें, अन्यथा एकान्त हो जाता है। तो औदयिक भाव के इस प्रकरण इसी तरहसे सब निरखने वाली बातें हैं। अनन्तानुबन्धी कषायोंके उदयसे सम्यग्दर्शनकी हानि होता है और अप्रत्याख्यानावरण कषायके उदय। संयमासंयमकी क्षति होती है। देखो कर्म क्या वस्तु है, उसका भी तो पूरा निर्णय होना चाहिए। कर्मके बारेमें कर्मसिद्धान्त की बातको हम कुछ भी न जानना चाहें तो भी बात स्पष्ट न बनेगी। उसका भी विषय उतना है कि जितना आत्मतत्त्वके विषयमें वर्णन हो सकता है, चलता है और ग्रन्थोंमें

लिखा है उससे तिगुना चौगुना वर्णन, कर्मके सिद्धान्तस्वरूप और उसकी स्थितियोंके जाननेके लिए शास्त्र हैं और वर्णन है। याने आत्मतत्त्वके वर्णनमें जितने ग्रन्थ हैं, जितना विषय है, जितनी बात है उससे कई गुनी बात कर्मसिद्धान्तके विषयमें ग्रन्थ हैं, वर्णन है। हमें जब कर्म की बात भली प्रकार जानने होती है तो बहुत जल्दी निर्णय हो जाता कि यह सब कर्मरस है, कर्मविपाक है, कर्मछाया है, इससे मेरा मतलब नहीं। जब उसका पूरी तरहसे ज्ञान हो कर्म सिद्धान्तका तो यह निर्णय दृढ़ होना है और फिर यह अपने सहजस्वरूपके लक्ष्यमें निःशंक पहुंचता है।

प्रत्याख्यानकषायाणामुदयात् संयमक्षतिः।

संज्वलननोकषायैर्न यथाख्यातसंयमः ॥११२६॥

संयम और यथाख्यातसंयमके घातक कर्मके विवरणके प्रसंगमें कर्मास्त्रव विधानका दिग्दर्शन—प्रत्याख्यान/वरण कषाय नामक चारित्रमोहकर्मके उदयसे संयमकी क्षति होती है और संज्वलन नोकषाय नामक चारित्रमोहके उदयसे यथाख्यात संयम नहीं होता। देखिये कर्म क्या चीज है? जैसे यहाँ दिखने वाले ये बाहरी पदार्थ हैं ना? ये अजीव हैं, अचेतन हैं, ऐसे ही न दिखने वाले बहुत सूक्ष्म एक कार्माण जातिके पुद्गलस्कंध हैं। सो जैसे हैं सो हैं वे, जिस समय जीवमें रागत्रिभाव हुआ, विकार हुआ तो उसका सन्निधान पाकर जो कर्म उदयमें आये हैं वे नवीन कर्मबन्धके कारण बन जाते हैं। अभी आस्रवके बारेमें भी यह चर्चा बहुत कम है और यह समयसारके आस्रवाधिकारकी प्रथम दो गाथाओंमें बताया है कि नवीन कर्म का जो आस्रव होता है उसका कारण रागद्वेषभाव नहीं, नवीन कर्मके आस्रवका कारण उदयमें आये हुए कर्म हैं। यह चर्चा जरा कम है और एकदम सब जानते हैं कि नवीन कर्मके आस्रव का कारण जीवके विकार भाव है याने जीव विकार परन्तु सूक्ष्म दृष्टिसे वर्णन करें तो यह समझमें आयेगा कि नवीन कर्मके आस्रवका कारण वर्तमान कर्मोदय है। द्रव्यप्रत्यय बोलते हैं उसे और द्रव्य प्रत्ययमें नवीन कर्मके आस्रवका निमित्तपना आ जाय उसका निमित्त हैं रागादिक भाव। तो अब देखना, डोर किसके हाथ है? हिलाय तो पतंग चली, वह है रागादिक विकारके हाथ। जैसे एक दृष्टान्त लो—डलते दोपहरके समय कोई बालक घरके बाहर धूल में दर्पणको इस तरहसे ले कि दर्पणका वह प्रकाश घरमें चला जाय, करते ही हैं ऐसा, तो अब यह बतलावो कि उस घरमें जो वह तेज प्रकाश पहुंचा तो प्रकाश मायने उस घरमें रहने वाली चीजें प्रकाशित हुईं, उसका निमित्त कारण क्या है? मोटी दृष्टिसे तो कहेंगे कि सूर्य है, मगर सूक्ष्म दृष्टिसे विचारें तो घरमें जो प्रकाश पहुंचा है उसका निमित्त दर्पण है, सूर्य नहीं है, पर दर्पणमें उस घरमें पहुंचे हुए प्रकाशका निमित्तपना आ जाय उसका निमित्त सूर्य है। तो अब डोर किसके हाथ है? मूल बात कान है? मूल बात है सूर्य। बहुत साध शब्दोंमें कहा

जायगा कि घरमें जो प्रकाश पहुंचा उसका भी निमित्त सूर्य है। कहनेमें कुछ हर्ज नहीं। ग्रंथों में भी सीधा इसी तरह लिखा है, उसमें कोई विरोध नहीं, मगर बहुत उसकी सूक्ष्मतासे चिन्तन चले तो घटना इस तरह होती है। तो जब रागादिक विचार हुए, कर्मका आस्रव हुआ। कहाँ? यहाँ ही एक चेत्तावगाहमें। जितने कर्मरूप परमाणु हैं उनसे अनंतगुणो उम्मी-दवार कर्म परमाणु रहते हैं जीवके साथ जो कर्मरूप नहीं बने, मगर कर्मरूप बन सकेंगे। ऐसी वर्गणायें इसके साथ उतनी हैं जितनी कि कर्मरूप वर्गणायें हैं उनसे भी अनंत। तो वे कार्माण-वर्गणाके परमाणु कर्मरूप बन गए, मायने उनमें प्रकृति आ गई कि ये कर्म इस प्रकारके फल वाले होंगे, उसमें स्थिति आ गई कि ये कर्म इस जीवके साथ इतने दिन तक रहेंगे, उनमें प्रदेश आ गए कि ये कर्म इतने परमाणुओंमें हैं, उनमें अनुभाग आ गया कि ये कर्म इतनी डिग्री तकका तीव्रता व मंदताका फल बनायेंगे। ये चारों बातें उसी समय बन गईं।

असंयतभावके औदयिकत्वकी संसिद्धि—अब यह ध्यानमें दीजिए कि जब प्रकृति प्रदेश स्थिति अनुभाग चारों बातें करोड़ों भव पहले बँध गईं। उन कार्माणवर्गणाओंमें तो अब सहसा यों कहना कि जब जीवमें राग आया तो निमित्त हाजिर हो गया, यह मनमानी बात अब न बनेगी। ऐसा कहनेमें तो यह सिद्ध हो जाता है कि राग होना निमित्त है और कर्मोदय होना नैमित्तिक है, पर ऐसी परिभाषा तो आगममें है ही नहीं और न हम विकारोंसे हटनेका रास्ता पा सकते हैं। बात बहुत सीधी है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कर्ता नहीं है। यह वस्तुमें एक त्रैकालिक स्वरूप पड़ा हुआ है। उसमें कभी रंचमात्र भी गड़बड़ी न हो सकेगी। निमित्त उपादानकी परिणति कभी भी नहीं करता। अगर करने लगे तो जगत शून्य हो जायगा, क्यों कि निमित्तने उपादानकी परिणति कर दी। सब चीज तो एक रहनी चाहिए ना, दो द्रव्य न रह सकेंगे। अब कौन रहे तो वस्तुका उच्छेद हो जायगा। पर यह भी जानें कि जो भी विकार होता है वह निमित्तकी अनुपस्थितिमें हो ही नहीं सकता। चाहे चेतनका देखो चाहे अचेतनका। जो भी वस्तु होती है वह निमित्तकी अनुपस्थितिमें नहीं होती। तब ये दोनों बातें सामने हैं कि निमित्त बिना जीवविकार होता नहीं, निमित्त जीवविकारको करता नहीं। जब ये दोनों बातें हैं तब उसके एक सही अवबोधको अपनी प्रज्ञामें तो ले लीजिए कि तत्त्व ऐसा है।

हाँ तो जो प्रकृति बँधी, अनुभाग बँधा, वर्गणाओंका उदय आया तो उदयकालमें उस कर्ममें ही फुटाव हुआ, बिगाड़ हुआ, विस्फोट हुआ, पर एक चेत्तावगाहमें है, बंधनमें है तो उसका ज्ञान भूलका, प्रतिफलन हो रहा अबुद्धिपूर्वक यानि आश्रय लेकर नहीं हो रहा, अनि-वार्य हो रहा। आश्रयमें तो यह है कि आश्रय करे तो हो, न करे तो न हो, मगर यहाँ जब विकार होता है तो प्रतिफलित अविवारित है। वह चाहे गृहस्थ हो, चाहे मुनि हो, चाहे श्रेणि-

गत साधक हो। जहाँ-जहाँ उदय है वहाँ-वहाँ उसका प्रतिफलन है। अब यह अपने-अपने सामर्थ्यकी बात है, अपने ज्ञानबल और निर्मलताकी बात है कि वह प्रतिफलन प्रतिफलनमात्र रहकर खिर जाय और वह प्रतिफलन उपयोगमें गड़कर भर दे, यह जीवकी एक अपनी-अपनी योग्यता वाली बात है। मगर होता यह ढंग है। तो जब इन कषायोंका उदय होता है तो यहाँ जीवमें प्रतिफलनके कारण यह अपनी-अपनी योग्यतासे उस-उस रूप ज्ञानविकल्पमें आता है, तो देखते जाना। वस्तुस्वातंत्र्य और निमित्तनैमित्तिक भाव इन दोनोंका परस्पर विरोध नहीं है। जो वस्तुस्वातंत्र्यके मिटनेके भयसे यहाँ निमित्तनैमित्तिक भावोंका प्रतिषेध किया जाय या निमित्तनैमित्तिक भावोंके मिटनेके भयसे परिणति स्वातंत्र्यका प्रतिषेध किया जाय, दोनों अविरुद्ध हैं, एक साथ चल रहे हैं। वही बात इस प्रकरणमें सब देखते हुए जानना है कि किस कषायके उदयमें जीवमें किस प्रकारका विकार बना, जो वह औदयिक है।

इत्येवं सर्ववृत्तान्तः कारणकार्ययोर्द्वयोः।

कषायनोकषायाणां संयतस्येतरस्य च ॥११३०॥

कषाय नोकषाय नामक चारित्रमोहका व असंयमादिक परस्पर कारणकार्यभावकी सूचनाका प्रासंगिक उपसंहार—यह सारा वृत्तान्त कारण कार्यका बताया है। कषाय, नोकषायका बताया है और यह ही वृत्तान्त संयम और असंयमका है। अनन्तानुबंधी कषायके उदय में असंयम भाव होता है, क्रोध, मान, माया, लोभ भी होता है। जैसे कि कल कहा था कि कषाय क्या है? उस जातिके ज्ञान विकल्प। और असंयम क्या है? अपने आपके स्वरूपमें स्थिर न हो पाना, अपने स्वरूपमें न लग पाना तो ये दोनों बातें क्या विरुद्ध हैं? ज्ञानविकल्प है उसी कालमें असंयम है। तो वह ही कषाय चारित्रमोह उनका ही उदय कषायका भी कारण है और असंयमभावका भी कारण है। यहां प्रयोजन वह होना है कि यह जो मालिन्य है, असंयम है, कषाय है यह औदयिक है, यह मेरा स्वरूप नहीं है, औपाधिक है। है तो मेरा परिणमन, मगर यह मेरे स्वरूपसे नहीं, कर्मविपाकका प्रतिफल न होकर मेरेमें विभाव बना है। कर्मका परिणमन कर्ममें होता है, जीवका परिणमन जीवमें होता है। अगर जीवके परिणमन न माने और सब कर्मोंके ही परिणमन माने जायें तो फिर एकदम कह दो कि मुझे क्या गरज पड़ी धर्म करनेकी? कर्मने किया तो कर्म रहे, कर्म भोगे। तब तो यहाँ ये कर्म बचस्वी हुए ना, सो ऐसा नहीं है। कर्म विपाक है, कर्ममें हुआ है और उस कालमें उस साभि-
ध्यका निमित्त पाकर जीवने अपनेमें उस प्रकारका ज्ञानविकल्प किया है। तो ऐसा ज्ञानविकल्प यह तो है जीवविकार और कर्ममें जो बँधनेके समयमें अनुभाग वगैरह पड़ गया था वह फूट गया आती स्थितिपर, वह सब है कर्ममें। दोनों बातें देखते जाइये। क्या यहाँ देखते नहीं कि दर्पणके आगे लाल कपड़ा किया तो लाल पीला रंग कपड़ेमें, और लाल पीला ही रंग दर्पणमें

भी है, वह भलक रूप है, तो जैसे-जैसे रंग दो जगह आया है ऐसे ही उपयोग दो जगह आया है। कपड़ेका रंग कपड़ेमें ही है और दर्पणके प्रतिबिम्बका रंग दर्पणमें ही है, मगर वह परस्पर निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है। निमित्तको अनुपस्थितिमें वह फोटो वाला रंग नहीं आ सकता। तो यह नैमित्तिक है, दर्पणकी चीज है, ऐसे ही निरखिये कि असंयम नैमित्तिक है, औदयिक है, मेरे स्वरूपकी चीज नहीं है।

किन्तु तच्छक्तिभेदाद् वा नासिद्धं भेदसाधनम् ।

एकं स्याद्वाप्यनेकं च विषं हालाहलं यथा ॥११३१॥

असंयमभावकी औदयिकताके विवेचनका प्रसंग एवं औदयिकताके प्रतिपादनका प्रयोजन स्वभावदृष्टिका लाभ—यह पंचाध्यायीका अन्तिम प्रकरण है। इसमें औदयिक भावों का वर्णन किया गया है। औदयिक भावोंके मायने कर्मोंके उदयका निमित्त पाकर होने वाले परिणाम। तो उन औदयिक भावोंमें अनेक भावोंका वर्णन हुआ। यह असंयमभावका प्रसंग चल रहा है जैसा कि तत्त्वार्थसूत्रमें बताया—गति, कषाय, लिङ्ग, मिथ्यादर्शन, अज्ञान, असंयम असिद्ध और लेश्या। इनके भेद मिलाकर २१ औदयिक भाव हैं। उनमें यह औदयिक असंयम भावका प्रकरण है। असंयमभाव औदयिक है, किसका उदय पाकर हुआ? कषाय प्रकृतियों का उदय पाकर हुआ। सामान्य रीतिसे यह वर्णन है। देखिये जितने भी विकारभाव होते हैं वे परउपाधिका निमित्त पाकर होते हैं। परिणामता तो उपादान है मगर उस परिणामके लिए एक उस अनुकूल वातावरण होता है और उस अनुकूल वातावरणमें यह अशुद्ध उपादान अपने विभावपरिणामनको करता है। यह भाव औदयिक है ऐसा निमित्तनैमित्तिक भावका परिचय स्वभावदृष्टि करानेके लिए होता है, कर्ताकर्मबुद्धि बतानेके लिए नहीं। जहाँ निमित्तनैमित्तिक शब्द बोला तो तुरन्त ही यह अर्थ हुआ कि कर्ताकर्मभाव नहीं है। शब्दके साथ ही यह बात ज्ञात हो जाती है। एक पदार्थका दूसरे पदार्थमें कुछ भी कर्तृत्व नहीं है। इस लिए जानी कुछ करना ही नहीं चाहता। निमित्तनैमित्तिक भावके परिचयसे यह उमंग बनी कि मुझमें जो ये असंयम, विकार, बिगाड़ ये जो परिणामन हो रहे हैं सो वे परका सन्निधान पाकर हुए हैं, ये मेरे स्वरूपके गाँठकी चीज नहीं हैं। स्वभाव दृष्टि करानेके लिए इस परिचय को कराते हुए समयसारमें तो एकदम पौद्गलिक कह दिया, याने रागादिक विकल्प विभाव और इतना ही नहीं, ये गुणस्थान, जीवसमास, संयमस्थान, लब्धिस्थान, अध्यात्मस्थान—ये सब पौद्गलिक हैं। इसका अर्थ क्या है? कुछ तो ऐसा भाव है कि जिसका उपादान वह पुद्गल है। जैसे वर्ण, रस, गंध, स्पर्श इनका तो उपादान ही पुद्गल है, पर जैसे संक्लेश, अध्यवसान आदिक ये पुद्गलकर्मका निमित्त पाकर उत्पन्न हुए हैं इसलिए पौद्गलिक हैं। विवादात् एक दृष्टि शुद्ध निश्चयनय अर्थात् आत्माके स्वरूपको सब सही सुरक्षित स्वभावरूपसे

निरखनेके लिए चर्चा चलती है याने अन्तःदृष्टि रखकर जब विभावोंकी चर्चा चलती है तो यह ही कहने हैं कि ये पौद्गलिक हैं, मेरो चीज नहीं हैं। तो यह निमित्तनैमित्तिक परिचय स्वभावदृष्टि करानेके लिए होता है।

चारित्रमोहमें असंयम और कषाय उत्पन्न करनेका शक्तिद्विबिध्य—यहाँ यह बतना रहे कि यह असंयम भाव कषायके उदयसे होता है इसलिए औदयिक है। तो इस प्रसंगमें एक शंका हुई कि कषायप्रकृतिके उदयसे तो, चारित्रमोहके उदयसे तो क्रोध, मान, लोभ आदि कार्य उत्पन्न हुआ करते हैं। असंयमका निमित्त तो कोई अन्य कर्म होना चाहिये। उसके उत्तरमें बोल रहे हैं कि चारित्रमोहमें दो शक्तियाँ पड़ी हुई हैं कि असंयमको करे और कषाय को करे। जैसे कि पहले जब अज्ञानभावका प्रकरण चल रहा था तो यह बताया था कि अज्ञान औदयिक है। कुमति, कुश्रुत, कुअवधि को नहीं कह रहे, किन्तु ज्ञानकी कमी होना जो औदयिक भावमें है वह अज्ञान औदयिक है तो पूछा कि किस कर्मके उदयसे ये अज्ञान औदयिक भाव हैं? तो उत्तर दिया कि यह जो औदयिक अज्ञान है सो यह ज्ञानावरणके उदयसे हुआ। अच्छा और यह अज्ञान क्लेशरूप है। अब देखना कैसा-कैसा फुंमामें फुंसा फूटता है? अच्छा तो यह अज्ञान बंधका कारण है क्या? नहीं। यह ज्ञानकी कमिरूप अज्ञान भाव औदयिक होकर भी, क्लेशरूप होकर भी बंधका कारण नहीं, क्योंकि बंधका कारण क्लेश नहीं, किन्तु संबलेश है। फिर पूछा गया कि यह क्लेशरूपता इस अज्ञानभावमें किस कारणसे आयी है? क्लेश होता कैसे है? कहते हैं कि आनन्दगुणका घात होनेसे क्लेश होता है। तो इसका घात करता कौन है? तो कहते हैं—आठों कर्म। अच्छा अब देखिये—तो फिर चर्चा हुई कि सुना तो हमने यह है, ग्रन्थोंमें लिखा है कि ज्ञानावरणकर्म ज्ञानगुणका घात करता। निमित्तनैमित्तिक परिभाषामें समझना—दर्शनावरण दर्शनगुणका घात करता। कोई कर्म इन आठोंमें नहीं है कि किसको कहें कि यह कर्म आनन्दका घात करता? निर्णय की बात निरखते जाना। कहते कि वेदनीय कर्म तो वह है जो आनन्दगुणका घात करे। तो उत्तर दिया कि वेदनीय कर्म आनन्दगुणका घात नहीं करता, किन्तु क्या करता कि दुःखके साधन और इष्ट अनिष्टके समागम उत्पन्न करता। आनन्दगुणका घात करने वाले तो आठों ही कर्म हैं। भले ही फिर उसमें छूट बनेगी कि देखो जहाँ मोहनीय कर्म नष्ट हो गया वहाँ क्लेश नहीं हैं, चारों घातिया कर्म जहाँ नष्ट हो गए, क्लेशका बनना नहीं रहा, पर सूक्ष्मतासे देखे तो आनन्द होता है, आत्मामें चारों ओरसे समृद्धि होती है और चूँकि ये चारों अघातिया कर्म उन घातिया कर्मोंके दोस्त तो बहुत रहे आये, उनका सहभावी रहकर वे क्लेशके साधन बने थे। उन अघातिया कर्मोंमें तो वह ऐब अब भी है। भले ही वे पूर्णतया असमर्थ हैं। यों आठों कर्मके उदयसे आनन्द गुणका घात होता है। सो यहाँ जब आठों कर्मोंके उदय

बताया। आनन्दका घात, तो वहाँ भी प्रश्न था कि कर्मोंमें तो ज्ञानघात आदि भिन्न-भिन्न कार्य करनेकी शक्ति बतायी ? तो कहा—नहीं। कर्ममें दो प्रकारकी शक्तियाँ हैं—(१) सामान्य-शक्ति और (२) विशेषशक्ति। सामान्यशक्तिसे तो आनन्द का घात है और विशेषशक्तिसे जो आठों कर्मोंको जो जुदी-जुदी बात कही है सो है। तो ऐसे ही इन कषायोंमें, प्रकृतियोंमें, चारित्र्यमोहमें जो सामान्य शक्ति है वह तो असंयमको उत्पन्न करती है और जो विशेषशक्ति है वह क्रोध, मान, माया, लोभको उत्पन्न करती है। तो चारित्र्यमोहमें दो प्रकारकी शक्तियाँ हैं—(१) असंयम करें और कषायें करें। देखो जिस कालमें कषाय है, क्रोध, मान, माया, लोभ, उस कालमें यह जीव अपनेमें नियंत्रित है क्या, अपने स्वरूपमें मग्न है क्या ? उससे हटा हुआ है जीव तथा यह लगा कहाँ है ? यह लगा है ज्ञानविकल्पमें। यह स्वभावसे हटा, यह तो है असंयम और विकल्प लगा है यह है कषाय। तो दोनों एक साथ हुए और किस का निमित्त पाकर हुए ? चारित्र्यमोहके विपाकका।

निमित्तनैमित्तिक भाव और एकत्वके प्रतिपादक नयोंका दिग्दर्शन—देखिये—यह परस्परका निमित्तनैमित्तिक भावका प्रतिपादन व्यवहारनय करता है और अध्यात्मदृष्टि या निश्चयदृष्टि एक ही वस्तुको निरखकर प्रतिपादन करता है। भले ही एक वस्तुके प्रतिपादन वाले निश्चयनयमें जब अंतरंग और बहिरंग दो तरहकी तुलनात्मक बात सामने आती है तो अंतरंग निश्चय बहिरंग व्यवहार हो जाता है। जैसे अशुद्ध निश्चयनयने बताया कि जीव रागी है, शुद्ध निश्चयनयने बताया कि जीव केवलज्ञानी है। अब इन दो का मुकाबला करते हैं तो शुद्ध निश्चयनयका विषय अंतरंग विषय रहा और अशुद्ध निश्चयनयका विषय बहिरंग रहा। विकार तो लिया ना, तो यह व्यवहार बन गया, किन्तु जब एक दृष्टि और सामने आती है कि जीवका तो चैतन्यस्वभाव है तो उसकी तुलनामें जीव केवलज्ञानी है। यह व्यवहारका विषय बनता है। साधारण लक्षण का अपेक्षा एक ही वस्तुमें प्रतिपादन जो किया जाय वह निश्चयनय है, अध्यात्मदृष्टि है और जो सम्पर्क, घटना, भेद सभी प्रकारके जो सही वर्णन हैं उन्हें व्यवहारनय करता है। जैसे कर्मोदयका निमित्त पाकर जीवने अपनेमें ज्ञान-विकल्प किया—यह घटना सच है कि भूठ ? सच है। चाहे वह हमारा इष्ट नहीं है और ऐसा हमको चाहिए नहीं, उससे हमें हटकर स्वरूपमें मग्न होना है, मगर घटना तो सही है। जैसे यहाँ प्रकाशमें हाथ किया तो नीचे जमीनमें छाया आयी, तो हाथका सामना पाकर यह जमीन छायारूप परिणाम गई। यह बात सच है या भूठ ? है तो सच बात, मगर जब एक निश्चयदृष्टि हो करेंगे तो वहाँ हम देखेंगे कि जमीन है, वह अभी तो अंधकाररूप था, प्रकाश रूप था, छायारूप था, बस जल्दी जल्दी आया गया। यहाँ दृष्टिसे देखनेके तरके हैं। जैसे सामना हम दान लिए हैं और पाछे दो बार लड़के उछल कूद रहे हैं तो उनकी छाया उस

दर्पणमें प्रतिबिम्बित हो रही, अब हम वहाँ दर्पणको देख रहे और उसके सम्बन्धका विकल्प कुछ न चले तो यह क्या केवल दर्पणकी बात जानी नहीं जा सकती ? हम दर्पणको देख रहे और उसके सम्बन्धमें सब कुछ बता रहे । अब ऐसा चित्रण हुआ दर्पणमें, दर्पणसे हुआ, दर्पणमें ही चलता, क्योंकि वह एक दृष्टिमें दिखता है ना, इसलिए यह ही यह दिखेगा । जब हम घटनाके मूडमें होंगे तो यह देखेंगे कि वे चार पाँच लड़के, उनका सम्बन्ध पाकर दर्पणमें ये प्रतिबिम्ब चल रहे हैं । बात सब सत्य है, किस मूडमें देखो तो क्या निरख होती है, किस में देखें तो क्या निरख होती है ?

प्रतिपक्षनयका विरोध न करके प्रयोजनवश विवक्षित नयकी प्रधानता करनेमें स्याद्वादशासनकी सम्मति—आत्महितैषी मुमुक्षु जनोंका यह तरीका होता है कि उसके प्रतिपक्षी विषयोंका प्रतिषेध नहीं करते, है ऐसा, फिर प्रयोजनके वशसे जिस नयकी प्रधानतामें इसको स्वभाव दृष्टिकी सुगमता होती है उस नयको यह प्रधान करता है और प्रतिपक्ष नयका विरोध करके एक नयकी प्रधानता रहे, किसी एक नयका ही आग्रह करे तो वह स्याद्वाद शासन से बहिर्भूत है, बस यह ही कुञ्जी है । तभी तो आग्रहवश सांख्य वैशेषिक मोमांसक बौद्ध आदिक अनेक दर्शन प्रकट हो गए हैं । जैसे यह वर्णन है ब्रह्माद्वैत । एक ब्रह्म है, सर्वव्यापक है, अपरिणामी है । अब देखिये जब हम दृष्टि ऐसी ले जायेंगे और इस तरह जायेंगे तो यद्यपि कुछ अद्भुत लगे ऐसी जगह दृष्टि गई कि जिससे कुछ अच्छा तो लगता है, क्योंकि बाहरके बहुत विकल्प हटे, बाहरकी बात बहुत दूर हुई तो अच्छा तो लगा, मगर वह वस्तुस्वरूप नहीं है । द्रव्यार्थिक नयका विरोध करके पर्यायको ही पूर्व वस्तु मानकर क्षणिकवाद हुआ है उसमें भी उमंगें हैं किन्तु वास्तविकता नहीं । वस्तुस्वरूप पूर्ण न होकर भी अच्छा लगनकी दशायें हुआ करती हैं, मगर स्याद्वाद शासनने तो यह बताया कि तुम निर्णय पूरा रखो हर प्रकार से और फिर आगे बढ़नेके लिए विवक्षित नयको मुख्य करके चलो तो कहीं धोखा नहीं है, कहीं भी अपने को आपत्ति नहीं है और वास्तविकता जो बताते हैं वे सब सहज इसके बन जाया करती हैं ।

असंयमकी औदयिकताके कथनमें शैक्ष्य लक्ष्य—यहाँ चल रहा है घटनाका प्रकरण । ये औदयिक भाव असंयम भाव किस प्रकार हुए ? तो चारित्र्यमोहके उदयसे दुःखोंकी शक्तियां हैं । अब उसमें यह बात दूसरी है कि कहीं असंयम उतना हा है कि जिसे हम संयम, संयम कहते, कहीं असंयम उतना ही है कि जिसे हम यथाख्यात चारित्र्य नहीं कहते, महाव्रत कहते, वहाँ पर भी तो अनियंत्रित हैं । तो ये सब भेद क्यों पड़े ? तो पड़ गए भेद । अनेक प्रकार की प्रकृतियां होती हैं, जैसे—विष और हालाहल । अब इनमें मंदता और तीव्रता तो है ही । इस प्रकार यह असंयमभावकी उत्पत्ति होती है । यह बात सुनकर क्या सोचना है कि यह

असंयम मेरे लिए दुःखदायी है, यह मेरा स्वरूप नहीं यह हटाये हट जायगा। क्यों मैं परकी और लगूँ, क्यों मैं परको सुहावना मानूँ, क्यों असुहावना मानूँ? कौन मेरे लिए बुरा, कौन भला? जगतकी ये सब बातें जहाँ जैसी हैं वैसी हैं। मेरेमें तो मेरा सहज चैतन्यस्वरूप है, वही मेरा सर्वस्व है। ऐसा निरखनेकी उमंग इस औदयिक भावकी चर्चामें होती है।

अस्ति चारित्रमोहेऽपि शक्तिद्वैतं निसर्गतः।

एकं चासंयतत्वं स्यात् कषायत्वमथापरम् ॥११३॥

चारित्रमोहकी शक्तिद्वयसे असंयतपने व कषायका प्रादुर्भाव—चारित्रमोहमें जैसे कि अनन्तानुबंधी कषायमें दो शक्तियाँ हैं—सम्यक्त्वकी घातिनी व चारित्रकी घातिनी, इसी प्रकार चारित्रमोहमें दो शक्तियाँ निसर्गसे (स्वभावतः) हैं कि कषाय बनना और असंयमभाव होना। तो ये दोनों बातें हैं ही। (१) स्वभावमें न लग पाना और (२) विकल्पमें लगना। सो यह बात स्वाभाविक ही है। जो बाहरी विकल्पोंमें लगेगा वह स्वभावमें लगा हुआ कहाँ है? तो ऐसे ही दो बातें वहाँ हैं? जैसे अग्निमें कई करामात हैं—प्रकाश कर दे, जला दे... उसका रूप ही ऐसा है। ऐसे ही चारित्रमोहमें ये दो बातें निरूपित हैं कि इसके उदयमें यह जीव अपने स्वरूपसे हट गया और परविकल्पमें लग गया। देखो निमित्तभूत पदार्थ कोई एक अस्तित्व लिए हुए है होवा आदिक जैसा तो कल्पना मात्र नहीं है। पर वहाँ यह बात समझनी है कि कर्ममें परका कर्तृत्व नहीं, वहाँ दो पदार्थोंमें परस्पर कर्तृकर्मत्वपना नहीं है। खास बात यह जाननेकी है, क्योंकि दोनों एकान्तोंमें ही इसकी असुविधा है।...कैसे?... जहाँ हम यह जानें कि कर्मने जीवको रागी कर दिया तो अब जीव विवश हैं, करे क्या? यह खुद परिणाम नहीं, यह खुद बनता नहीं, जबरदस्ती कर्मने जीवको रागी किया। जहाँ कर्तृकर्मत्वबुद्धि है उसमें यह उमंग कहाँसे आये कि मैं ऐसे स्वभावरूप हूँ और वह जो परिणाम बन गया है वह निमित्तमात्र है, निमित्त पाकर बनता है। कहीं दूसरेने हमारा परिणाम नहीं किया। अगर मेरा परिणामन कोई दूसरा कर दे जा हम अपना परिणामन बदल कैसे सकेंगे? तो कर्ता कर्मत्वकी बुद्धिसे अपने उपयोगको हटाने की उमंग नहीं आयी। इसी प्रकार अपने स्वरूपसे ही विकार आया, मेरी सामर्थ्यसे आया, मेरी योग्यतासे आया, निमित्तकी उपस्थिति की क्या आवश्यकता? मेरेमें ये चलते ही रहते हैं—इस तरहका अगर एकान्त हो और वहाँ इस प्रतिपक्षीको यह पड़ी हो कि यह नैमित्तिक है उस प्रकारके कर्मोदयका निमित्त पाकर हुआ है, उस वातावरणमें बनता है ऐसा कषायभाव इसको बिल्कुल मिटा दें तो वहाँ यह ही असुविधा है कि जैसे एक दार्शनिक है जिसका यह सिद्धान्त है कि यह जीव अगर मुक्त भी हो जाय तो भी रागद्वेष मोहका अभाव नहीं होता, वहाँ कम हो गया, उसीको कहते हैं यह मुक्त हो गया, क्योंकि रागद्वेष तो इसका स्वरूप है। रागद्वेष बिना जीव रहेगा कैसे? ऐसा

मानकर उनकी मुक्ति इस प्रकार की है कि बस हो गई मुक्ति, ऐसा एक दार्शनिकता सिद्धान्त है। जैसे अपने यहाँ बैकुण्ठमें उत्पन्न होना मानते, ग्रैवेयकमें उत्पन्न हो गए, मंद कषाय है और उसकी वजहसे खूब आनन्द है, प्रसन्नता है, प्रवीचार नहीं है, खूब मौजमें रहते हैं ३१ सागर तक। पर वह मूलसे भीतरका विकार कहाँ मिटा तो उनको उतने वर्ष बाद फिर संसारमें आना पड़ता है ऐसे ही एक सिद्धान्त है, दार्शनिक है, जिसका यह कथन है कि जीवका स्वरूप ही है रागद्वेष। स्वरूपसे ही उठता है रागद्वेष। वह रागद्वेष कभी मिटेगा नहीं। भले ही उसकी मुक्ति हो गई, मगर कुछ काल बाद ही उसे संसारमें आना पड़ेगा। उस तरहका विकार हमें स्वभावजन्य जंच जायगा। हम उसको हटानेकी उमंग कहाँसे लायेंगे? तो यह निमित्तनैमित्तिक भावका परिचय कहता है कि यह तो कर्मविपाककी भलक है, छाया मात्र है, प्रतिफलन है, तेरा स्वरूप नहीं है। तू अपने स्वरूपमें एक विशुद्ध चैतन्यमात्र है। हां तो बात यह चल रही है कि यह असंयमभाव यह हुआ है चारित्रमोहके उदयमें, जिसमें दो शक्तियाँ हैं। एक शक्तिसे तो यह असंयतपना आया और एक शक्तिसे कषाय आया। इस बातको सुनकर एक शंका होती है, उसे कह रहे हैं।

ननु चैवं सति न्यायात् तत्संख्या चाभिवर्द्धनम् ।

यथा चारित्रमोहस्य भेदाः षड्विंशतिः स्फुटम् ॥११३३॥

संयमावरण मानकर चारित्रमोहकी संख्या बढ़ानेकी एक आशङ्का—शंका यह उत्पन्न हुई कि चारित्रमोहके भेद बताये २५, मगर काम जब ये दो देखे जा रहे हैं कि कषाय भी हुए और असंयम भाव भी हुए तो फिर औदयिक भावोंकी गणना बतानेमें थोड़ी संख्या रखनेकी कंजूसी क्यों की, असंयम भी कह देते और भगड़ासा मिट जाता। इतना दिमाग पचो न करते याने चारित्रमोहके २५ भेद क्यों रखे? एक असंयमका घात करने वाली भी प्रकृति भी मानकर २६ संख्या कर देते। जब यह देखा गया है तब फिर उस चारित्रमोह की एक संख्या और बढ़ा दो, याने २५ की जगह २६ कर दो। हाँ तो एक रख दीजिए संयमावरण। कुछ भी नाम रख दो। जब मान ही लिया कि चारित्रमोहमें दो प्रकारकी शक्तियाँ हैं और उन शक्तियोंसे आत्मामें दो असर हो रहे हैं—एक तो असंयम होना और एक कषायभाव होना। तब फिर चारित्रमोहके २६ भेद क्यों न किए गए? इसके उत्तरमें कहते हैं—

सत्यं यज्जातिभिन्नास्ता यत्र कार्माणवर्गणाः ।

आलापापेक्षया संख्या तत्रैवान्यत्र न क्वचित् ॥११३४॥

असंयम और कषायके निमित्तभूत चारित्रमोहमें जातिभिन्नताका अभाव—कहते हैं कि तुम्हारी बात ठीक है थोड़ी, जब तक कि विचार न किया जाय, लेकिन कार्माणवर्गणों

की जाति तो दूसरी नहीं है । जाति अगर होती तो भेद बढ़ा दिए जाते, पर जाति तो एक है, उसमें शक्तियां दो प्रकारकी हैं—जैसे कि अनन्तानुबंधी कषाय । जाति तो एक है उसमें शक्तियां दो हैं, जैसे कि विष, महाविष, हालाहल । तो विष एक है, मगर उसमें शक्तियोंके प्रकार बहुत हैं । प्राणघात करे और दुःखी करे, जैसे इसमें यहां दो बातें पायी जाती हैं, चीज तो वह एक है, विष तो वह एक ही है । कैसे दो बात कही जाय कि इसको दुःख भी होता है ? यह जीव दुःखी भी हुआ और प्राण भी गए इसके । तो क्या वे दो विष हैं, विष तो दो नहीं हैं, वह तो एक ही है, मगर शक्तियां उसमें ऐसी दो हैं कि इसमें कार्य यहां बना । इसी प्रकार चारित्रमोहमें जो कार्माणवर्णना है वह तो उसी जातिकी है, उनमें ये दो शक्तियां हैं कि चारित्रमोहके उदय होनेपर असंयमभाव भी बने, कषायभाव भी बने । देखिये—यह सब परभावोंका वर्णन चल रहा है । परभाव मायने क्या ? परपदार्थका निमित्त पाकर होने वाले भावको कहते हैं परभाव । इसका नाम परभाव नहीं कि परपदार्थमें उपयोग जुटानेसे होने वाला भाव । यद्यपि वह भी परभाव है, मगर वह अव्याप्ति अतिव्याप्ति दोषसे रहित लक्षण नहीं है, क्योंकि ऐसा भी उपयोग होता है कि जिसमें उपयोग परकी ओर नहीं जुटता और विकार होता है, उन विकारोंको कहते हैं अबुद्धिपूर्वक विकार । कहीं कर्ममें जुटनेसे विभाव नहीं होता, किन्तु विषयसाधनोंमें जुटनेसे बुद्धिपूर्वक विकार होता है । जुटनेकी बात आश्रयभूत पदार्थमें है । कर्मविपाकको तो एकेन्द्रियसे लेकर असंज्ञी जीव तक तो जानते नहीं । यहां कुछ जैन लोग जानते कि इतने प्रकारके कर्म हैं, पर कर्मविकारके निमित्तसे विकार तो सबमें हो रहा है अर्थात् होता क्या है वहां ? वह अबुद्धिपूर्वक ही ज्ञेय होता । झलक हो गई, उपयोग उनसे छूटा नहीं, किन्तु जब एक विचित्रता आयी है और ऐसा निमित्तनैमित्तिक बंधनके प्रसंग में है तो ये सब चीजें चलती हैं, इसलिए परभावका अर्थ ऐसा भी है जैसे कि समयसारमें कहते कि—एये सब्बे भावा पुग्गलदव्वपरिणामणिप्पण्णा अर्थात् ये समस्त रागादिक भाव पुद्गल कर्मसे निष्पन्न भाव हैं अर्थात् पुद्गल कर्मके उदयका निमित्त पाकर हुए भाव हैं, इसलिए ये परभाव हैं, मेरे स्वभाव भाव नहीं हैं ।

समस्त धर्मवचनोंका प्रयोजन स्वभावदृष्टि—देखिये हर एक दृष्टि, हर कथन इस आत्माका स्वभावाश्रय करानेके लिए हुआ करती है अन्यथा प्रयोजन क्या ? इस जीवका स्वभावाश्रय बिना जगतमें कुछ भी दूसरा शरण नहीं है । कहां उपयोग दें, किसमें प्रेम बनावें कि मोक्षमुख मिले ? बहुत आज्ञाकारी पुत्र हों, बहुत ही आपके सुखके निमित्तभूत हों, आपकी बड़ी इज्जत सेवा करते हों, तिसपर भी उसकी दृष्टि, उसमें उपयोगका फंस न, उससे अपनेको बड़ा भला मानना, सुखी समझना, यह तो प्रवृत्ति है यह कष्टके लिए बनेगी । कभी तो बियोग होगा । उस समय क्या होगा कि सारे जीवनमें जितना सुख भोगा है, जिस इष्टका आश्रय

कर करके बड़ा मौज माना था, उससे भी ज्यादा दुःख उसके एक-दो मिनटके विछोहके समय में होगा। उस समय इतनी विह्वलता मानेंगे कि विकट कर्मबन्ध होता और किसी किसीका तो हार्ट फेल भी हो जाता। तो आज जगतमें ऐसा कौनसा पदार्थ है कि जिसका सहारा लें, जिसके प्रति हम कुछ लगाव बनायें और हमको सुख मिल जायगा? कोई पदार्थ ऐसा नहीं है। केवल अपने आप अन्तःप्रकाशमान जो सहजभाव है वस उसमें जो एक प्रतीति बनी या आस्था हुई कि मैं यह हूं, बस यह ही ठीक है, दूसरा कोई भी विकल्प, दूसरी कोई भी स्थिति हमारे लिए मददगार न बनेगी। इसलिए प्रत्येक धर्मवचनका प्रयोजन हर तरहसे जीवकी स्वभावदृष्टि कराना, स्वभावश्रय कराना। समयसारमें ही आस्रवाधिकार पहले कहा, सम्बर अविकार बादमें कहा। एक आचार्यकी दृष्टिसे, दूसरी टीकाकी दृष्टिसे वह आस्रवाधिकार भी सम्बर हो गया। अच्छे वर्णनकी दृष्टि क्या रही? आप स्वभावका वर्णन करते जाइये—वर्णन करके और एक लटक लीजिए कि वह जहाँ नहीं है वह भाव इस जीवको मिलता है। सारा वर्णन करके आप सम्बरके प्रसंगमें आयेंगे। हाँ तो कह रहे थे कि प्रत्येक धर्म वचन एक अपने स्वभावका, मार्गका, सन्मार्गका दर्शन करनेके लिए होता है। मान लो एक पापके ही स्वरूप का वर्णन है, आप उसे खूब सुनते जाइये। बस जरासा यह हेय है, जहाँ पाप नहीं है वहाँ ही कल्याण है, इतनी शिक्षा और जोड़ दीजिये। वर्णन तो आप खूब करते जाइये पापका, कुछ बात नहीं है। बस जरासा सुनने भरकी बात है। अज्ञानका वर्णन, दुःखका वर्णन, जाल का वर्णन, मायाका वर्णन और फिर अन्तमें जैसे राजा भोज अग्नी कविता बना रहे थे उसमें अपने वैभवका वर्णन कर रहे थे। उसमें तीन चरण जा बन गए थे, पर चौथा चरण नहीं बन पा रहा था। मेरे ऐसी स्त्री हैं, ऐसे भाई बन्धु हैं, ऐसे नौकर हैं, ऐसी सेना है, ऐसे-ऐसे ठाठ हैं, सब कुछ दुहरा रहे थे। तब एक कवि जो कि चोरी करनेके लिए गया हुआ था, और राजा भोजके पलंगके नीचे छिपा हुआ था, वह झट चौथा चरण बोल उठा—सम्मीलने नयनयोर्न हि किञ्चिदस्ति। याने नेत्र बन्द हो जानपर अर्थात् मरण कर जानेपर सब वैभव फिर कुछ नहीं रहते। लोग शंका करते कि प्रथमानुयोगमें तो रानियोंका ऐसा वर्णन, वैभवका ऐसा वर्णन, एक बड़ा भारी वर्णन हुआ, इतना-इतना ज्यादा वर्णन करनेकी क्या जरूरत थी? अरे जरूरत यह थी कि इतना-इतना वर्णन पढ़ लेनेके बाद जब अन्तमें यह बात पढ़ते कि ज्ञान और वैराग्य जगनेपर फिर इस सब वैभवको ठुकरा दिया, उसे त्यागकर चले गए। तो उस सब वर्णनसे त्यागका महत्त्व वहाँ बढ़ जाता है। तो ये धर्मके वचन कोई भी व्यर्थ नहीं हैं। उससे दृष्टि अपनी ऐसी बनावें कि जिससे स्वभावदृष्टि बने।

नात्र तज्जातिभिः सास्ता यत्र कार्माण्यवर्णाः।

किन्तु शक्ति विशेषोऽस्ति सोऽपि जात्यन्तरात्मकः॥११३५॥

कर्मविपाकका निमित्त पाकर उठी हुई स्वयंमें विपत्तिका निर्देशन—अपने आपपर क्या बीत रही है, इसको अन्दरमें देखो। बाहरमें आत्मा नहीं है, न बाहरमें कुछ बीतती है, न बाहरके पदार्थसे आत्मामें कोई बात व्यतीत होती है। आत्मा अन्दर है, अपने प्रदेशमें है, अपने प्रदेशसे बाहर इसका कोई कार्य नहीं होता। तो अन्दरमें ही स्वभाव है कि मेरे पर क्या बात बीत रही है? शरीर तो यह रखा है। अष्ट कर्मोंके उदय हैं, आक्रमण हैं, कर्मों से घिरे हैं, यह भी बात ठीक है। हैं जरूर कर्म हैं। उनसे घिरे हैं, बंधनमें हैं। पर खुदकी बात तो देखो—खुदमें क्या बीत रही है? यह तो एक ऊपरकी बात है। खुदमें बीत रहे हैं रागद्वेष मोहभाव याने ज्ञानको इस ढंगसे छुपा देना, ज्ञानका इस तरहसे परिणामन बना देना, विकल्प बना देना कि जिसमें यह जीव परमें आपा मानता, परको अपना मानता। ऐसा ज्ञान विकल्प बनाता कि परपदार्थको अपना मानता। मेरे बच्चे बड़े सुहावने लगते, मेरा घर कई खण्डका है, बड़े विस्तारका है, बड़ा सुहावना लगता है। मेरे परिजन बड़े सुन्दर हैं, आज्ञाकारी हैं, ऐसी बातें सोचना यह ही तो राग कहलाता। और द्वेष क्या? किसी परके बारेमें अपना विचार यों बनाना कि अमुक मेरा विरोधी है, मेरे काममें बाधक है, यह कब टले, कब हटे, इस तरहकी बात सोचना, ख्याल बनाना इसीका नाम तो विरोध है। तो ख्याल ही तो बनाया गया। वास्तविकता तो कुछ भी नहीं है। मकानको यह सोचना कि यह मेरा है, तो इस सोचनेसे मकान आपका हो जायगा क्या? आपके मकानकी रजिस्ट्री तो होगी या जिस जमीनपर आपका मकान बना है उसकी तहसीलमें रजिस्ट्री होगी न? हाँ है। मकानकी भी रजिस्ट्री है, नक्शा भी पास है म्युनिसिपल्टीमें, इतनी तो खास बात है, फिर मकान मेरा, कैसे नहीं? ऐसा सोचा जा सकता। आप ही ऐसा सोच रहे। अगर यह बात भगवानके ज्ञानमें आ जाय कि मकान इसका है तो वह पक्की रजिस्ट्री कहलायगी। नगरपालिका और तहसीलकी रजिस्ट्रीसे मकान आपका न बनेगा? कैसे न बनेगा? प्रथम तो यहीं का यहीं ले लो। सरकारको जरूरत पड़े तो किसीके भी मकानको खाली करा सकती है। कानून है ऐसा। चाहे वह कैंटकी जगह हो, चाहे सिटी में हो, मूलमें बात है। अच्छा इसे भी जाने दो, मरण हो गया तो छूट गया कि नहीं? रजिस्ट्री कहाँ आपके साथ जाती? शरीर जल गया, आत्मा भाग गया, अब कुछ भी न रहा। रजिस्ट्री आपके क्या काम आयी? तो यह सब माया है, इसमें जो लगाव है, प्रीति है ऐसा जो ज्ञानविकल्प है यही एक विपत्ति है।

विभावविपदारहित आत्माको पूजनेका आदर्श और उसका हेतु—भैया! आप सब पञ्चपरमेष्ठियोंको क्यों पूजते कि उनपर विपत्ति नहीं है। वे अमीर हैं अरहंत भगवान! ये अमीर हैं, क्योंकि इनके विकल्प नहीं रहा, इनके आकुलता नहीं है, अज्ञान नहीं है।

अपने परमात्मस्वरूपसे ही इनका सम्बन्ध है। इनको वास्तविक आत्मवैभव प्राप्त हुआ है। ये अमीर हैं। लोकमें भी तो गरीब अमीरका सहारा तकते हैं तो धर्मकार्यमें भी तो अमीर का सहारा तकते। संसारी जीव गरीब है, प्रभु अमीर है, यह अंतर बंधनके होने न होनेका है। तो उन अमीरोंकी (भगवान् अरहंतकी) हम उपासना करे। तो हम आपपर जो विपत्ति लगी है, उसको यह चर्चा चल रही है इस श्लोकमें कि यह विपत्ति बनी कैसे? तो आप लोग जानते होंगे, पढ़ते भी हैं कि “अष्टकर्म रिपु जोर, एक न काम करें—ये कर्म जो एक जोरदार हैं, जो ये शत्रु हैं, ये मेरी बरबादीके हेतुभूत हैं, तो उन अष्टकर्मोंमें एक मोहनीय कर्म है। ज्ञानावरण—जो आत्माका ज्ञानगुण प्रकट न होने दे, दर्शनावरण—जो आत्मामें दर्शनगुण प्रकट न होने दे, वेदनीय—जो अलूलजलूल बातोंमें लगाकर आपके अनन्त आनन्दको मिटा दे। वेदनीयका काम—जो जीवमें मोह पैदा करा दे, विपरीत दृष्टि करा दे और आयु—शरीरमें जीव को रोके रहे। नामकर्म—जो शरीरकी नाना रचनायें बना दे, गोत्र कर्म—जो जीवको उच्च नीच कुलमें उत्पन्न करा दे, अन्तराय—जो, दान लाभ, भोग, उपभोग वीर्य आदिकमें आपको विघ्न पैदा करा दे, ये सब अष्टकर्मकी बातें हैं।

दर्शनमोहके उदयमें महती विपत्ति—आठ कर्मोंमें जो मोहनीय कर्म है, जिसके दो भेद हैं—(१) दर्शनमोहनीय, (२) चारित्रमोहनीय। दृष्टि विपरीत बन गई, यह दर्शन मोहके उदयसे। कोई समझे तो समझमें थोड़े ही आता। जब खूब हैरान हो लेंगे तब समझ में आयगा, ओह यह भूल हुई। यों ही समझमें नहीं आता। एक गांवके किनारे एक बड़ई रहता था। वह बड़ा मसखरा था। वहांसे एक मुसाफिर निकला। उसे जाना था दूसरे गांवको, तो उस गांवसे उसका रास्ता था। तो शुरू शुरूमें उस बड़ईका घर मिला, उसने उसने पूछा—क्यों भाई अमुक गांवका रास्ता किधरसे गया? तो रास्ता तो मानो था पश्चिममें और बता दिया दक्षिणमें और साथ ही यह भी कह दिया कि देखो इस गांवमें मसखरे बहुत हैं, सब उल्टी बात कहेंगे, तुम किसीकी मानना नहीं। उस बड़ईकी बातपर वह मुसाफिर विश्वास कर गया। जब दक्षिणकी गलीसे जा रहा था तो कई लोगोंसे उसने रास्ता पूछा तो सबाने उस रास्तेको गलत बताया, पर मानी उसने किसीकी नहीं। समझ लिया कि वास्तवमें यहांके सब लोग मसखरे हैं, बड़ई ठीक ही बताता था। खैर वह काफी दूर निकल गया। जब आगे दूसरा गांव मिला, वहां उसने रास्ता पूछा तो लोगोंने बताया कि तुम रास्ता भूल गये, उस गांवका रास्ता तो उस पिछले गांवसे पश्चिमकी ओरको जाता है। तो फिर उस मुसाफिरको वापिस लौटकर आना पड़ा तब सही रास्ता पाया। तो मतलब यह है कि जब दृष्टिमें यह बात आ जाती भूट बातके प्रति कि यह सच्ची बात है तो उस पर कितनी बड़ी भारी विपत्ति है सो समझिये। यह ही तो यहां हो रहा है जीवोंको। क्रोध

करने वाला क्रोध कर रहा है दूसरों पर और बीचमें कोई समझाने आता है कि भाई क्या बात है, क्यों इस पर नाराज होते ? तो वह सोचता कि यह तो बड़ा अज्ञानी है, इसको कुछ पता नहीं, मैं जो कर रहा सो ठीक है। उसके ध्यानमें कभी नहीं आता कि मेरेमें गलती चल रही है। उल्टी बात करे, कषाय करे और सोचे कि मैं बिल्कुल ठीक कर रहा। अच्छा बतलावो, रोज रोज धन बढ़ता है, धन पैदा करते हैं, हाथों गिनते हैं, मौज मानते हैं, ऐसा करते हुए कभी यह विचार चला क्या कि यह मेरी बड़ी गलती हो रही है। मैं इस धनमें इतनी ममता कर रहा हूं, इतनी उमंग रख रहा हूं, इतनी तृष्णा कर रहा हूं, यह तो मैं गलती कर रहा हूं। तृष्णाका मुझमें स्वभाव नहीं है। मैं तो अपने विगुद्ध ज्ञानस्वरूपमें ही दृष्टि लगाऊँ, यही काम मेरे करनेको पड़ा है, ऐसा किसी दिन मनमें आता है क्या ? सभी लोग अपने-अपने हृदयसे समझ लो। यह बात जान लें कि हम भूलको सही समझ रहे हैं तो उसे कहते हैं महाभूल, और वह सुधारके मार्गमें न आ पायगा याने भूलको जो सही समझता उसके सुधारका मार्ग आना कठिन है। तो यह क्या है ? यह दर्शनमोहनीय कर्मका उदय है और वहाँ यह आत्मा ऐसा बेहोश है।

विभावविचारोंमें अनर्थकारिता—अच्छा किसी के दर्शनमोह न हो तो भी कषाय जगती है, और दर्शनमोह वालेको भी कषाय जगती है। तो क्रोध, मान, माया, लोभ ये क्यों होते ? चारित्रमोहका उदय है, उस निमित्तको पाकर जीवमें ऐसा ज्ञानविकल्प जगा करता है। यहाँ जरा अपनेपर दया करना और एक बातको अपना लेना कि जो कुछ मुझपर गुजर रहा है कोई विकल्प ख्यालात विचार यह सब एक छाया माया नैमित्तिक व्यर्थ की बात है, मेरा स्वभाव नहीं है। वहाँ कभी अहंकार न लेना चाहिए कि मैं बड़ा विचारक हूं, मेरेको बड़ी ऋद्धि है। मैं बहुत सोच विचारकर सब काम करता हूं। अरे उन सोच विचारोंका क्या करें वे गलत हैं सोच विचार। एक सेठ था, सो देहातकी बात है। वह प्रति दिन सवेरे अपने द्वारके चबूतरे पर बैठकर दातून किया करता था। पहले रिवाज इसी तरह का था। आजकलकी जैसी मंजन करनेकी पद्धति न थी। नीमकी डाल तोड़कर उसको दातूनसे मंजन किया करते थे। उसमें एक प्राकृतिक गुण भी था, स्वास्थ्यकी दृष्टिसे भी वह पद्धति ठीक थी। तो वह सेठ प्रतिदिन प्रातःकाल अपने द्वारके चबूतरेपर बैठकर दातून किया करता था और उसी समय वहाँसे कोई पजाबीने हरियाणा जैसी नश्लकी भैंस रोज रोज निकला करती थी। उस भैंसकी सींगें बड़ी मुहावनी लगती थीं। वह सेठ उस भैंसकी सींगें देखकर अति प्रसन्न होता था और चाहता था कि यदि ऐसी ही सींगें मेरे सिरार लगी होतीं तो मैं भी कितना सुन्दर लगता ? इस तरहसे देखते और विचारते हुए करीब ६ माह बीत गए। एक दिन उससे न रहा गया, सच, कि अब तो सींग लगा हो लेना चाहिए। सा जब

भैंस सामनेसे निकली, उस सेठने उठकर भैंसकी सींगोंमें अपना मस्तक भिड़ा दिया, भैंसके गले से लिपट गया। वह भैंस डरकर भागी। सेठ मजबूतीसे गर्दन पकड़े तथा सिरसे सिर भिड़ाये था। वह बड़ा लहू-लोहान हो गया। करीब आधा फर्लांग दूरपर जाकर वह भैंससे अलग हो पाया। काफी चोट भी आ गई। बड़ा शिथिल सा हो गया। वहां लोग जुड़े, पूछ बैठे कि सेठजी क्या बात हो गई? तुमने बिना विचारे यह काम क्यों कर डाला? तो सेठने कहा—भाई हमने यह काम बिना विचारे नहीं किया। हमने पहले ६ माह तक विचार किया तब यह काम किया। अरे वहां तो ६ माह ही विचार किया, पर इस जीवने तो परपदार्थोंके बारेमें अनादिकालसे अब तक खूब विचार किया। पर विचार किया मोहका? कोई हितकारी विचार नहीं किया, जिससे यह जीव अनादिकालसे अब तक परेशान हो रहा है।

पारतन्त्र्यके रहस्यके परिचयमें सन्मार्गकी उपलब्धि—यहाँ परेशानी जो हो रही है यह क्या है? इसको सही जान जावे तो परेशानी दूर हो जायगी। लोग तो अपनी सुख शान्तिके लिए बड़े-बड़े कष्ट सहते हैं। दश विदशमें भ्रमण करते, अनेक प्रकारके कष्ट उठाते, पर सुख शान्ति नहीं पाते। अरे अब जरा एक बार ऐसा भी तो पौरुष करें, जाने तो सही कि परके बारेमें जितने ख्यालात होते हैं, यह सब कर्मकी छाया हैं, मेरा स्वरूप नहीं है। मैं दूसरेकी छायामें क्यों रमूँ, क्या जरूरत पड़ी? जोवम कर्मजालकी मायाजालकी जड़ तो काटो। आपको अपनेमें बसा हुआ यह ज्ञानदर्शन स्वरूप, सहज आनन्दमयी यह परमात्म-स्वरूप आपके अनुभवमें आयगा और आप आनन्द पायेंगे। जो पुरुष यहाँकी मायासे, छायासे, कर्मरससे बद्ध रहा और अपनेको मान रहा तो वह पुरुष तीर्थंकर प्रभुके गुण भी गो रहा, फिर भी यह बात बैठती नहीं कि यह परिग्रह, यह परका लगाव, इस ओरका ख्याल, यह सारा विपत्ति है, इन सबको त्यागकर निर्भर होओ। कहते ना—जैसे नाक छिनक दिया। नाटक समयसारमें एक दृष्टान्त आया, जो नाक छिनक दो तो उस छिनकी हुई नाकको कोई लौटकर देखता है क्या कि कहाँ पड़ी, कैसे पड़ी? कोई उसकी ओर दृष्टि भी करता है क्या? नाक छिनक दी, दूर कर दी, उससे हट गए, उससे मुख मोड़ लिया, भीतरमें नाक साफ हो गई, ऐसा अनुभव करते और अपनेमें एक अच्छासा महसूस करते। तो जिन तीर्थंकरोंने, जिन्होंने इस परिग्रहका त्याग किया सो नाक छिनकनेकी तरह त्याग दिया, उनकी ओर फिर मुड़े भी नहीं। अकेले रहे, जंगलमें रहे। अपने प्रभुसे बात की, अपने स्वरूपसे बात की, पर भोगे हुए भोगोंका स्मरण तक नहीं किया। तो इस विभूतिको त्यागकर वे प्रभु बने और अनन्तआनन्दका स्वाद जिसके ध्यानमें आ गया उसको यह परिग्रह और यह सब जाल लिपटाव ये सब उसे भार लगेंगे कि मैं गलतीपर हूँ। देखो करनेकी बात और श्रद्धाकी बात और जाने श्रद्धाके अनुरूप हम पूरे नहीं चल पाते, फिर भी ज्ञानीकी श्रद्धा अडिग है, परिस्थितिमें

कर रहे । जान यदि इस श्रद्धासे भर गया कि मेरा स्वरूप तो समस्त परपदार्थोंसे विविक्त केवल चैतन्यस्वरूप है तो उस पुरुषकी बात वह सही है । क्या करें, दूकान करनी पड़ती है, घरमें रहते हैं तो घरके सब काम करने पड़ते हैं, मगर उसकी श्रद्धामें यह बात रहती कि यह सब मेरी गलती है । ये सब काम करना मेरा कर्तव्य न था । अपने आत्माका स्वरूप क्या है, उसपर दृष्टि रखकर यह बात कही कि अपने स्वरूपकी सुध छोड़कर जो जो भी काम जो-जो भी ख्यालात करते हैं वे सब हमारी गलतियाँ हैं । गलतियोंको करना पड़ रहा है । करना न चाहिए । ऐसा होता है क्या ? हाँ होता है । देखो एक कैदीको जेलके अन्दर चक्की पीसनी पड़ती है । सिपाहियोंके हंटरके डरसे सारे काम करने पड़ते हैं, फिर भी उसके चित्तमें सदा यह बात बसी रहा करती कि यह मेरे करनेका काम न था । यह तो मुझे करना पड़ रहा है । बस यही बात ज्ञानी गृहस्थकी है । उसके सम्यग्ज्ञानका उदय हुआ, अपने अन्तः बसे हुए सहज परमात्मतत्त्वका उदय हुआ, अब वह यही चाहता है कि मुझे तो स्वभावमग्नता ही चाहिये । अन्य तो यह सब कुछ परिस्थितिवश करना पड़ रहा है । मेरा कर्तव्य यह न था । मेरा कर्तव्य था सहजस्वभावका आश्रय करना और कुछ करने लायक मेरा काम नहीं है ।

जीवनमें शीघ्र शिवोपाय बनानेमें बुद्धिमानों—देखो काम कर रहे काम, चल-फिर रहे हैं, पर अचानक किसीकी मृत्यु हो जाय तो लोग तो पीछे कहते कि देखो अभी तो वह छोटी ही उम्रका था, वह कैसा असमयमें मर गया । अरे उसका क्या सोचते, यही हालत हम सबकी है । क्या एक-दो दिन भी जीवित रहनेकी बात कोई दृढ़तापूर्वक कह सकता ? प्रायः सभी लोग यह सोचते हैं कि अभी तो हमें बीसों वर्ष तक जिन्दा रहना है, पर उनका यह सोचना क्या सही है ? अरे मृत्युका कोई भरोसा नहीं ? अचानक ही किसी भी समय मृत्यु हो सकता है । तो यों समझिये कि मानो यह काल यम मृत्यु हमारे सिरपर मंडरा रही है । न जाने किस दिन यह दबोच दे ? “जगत चबेना कालका, कुछ मुखमें कुछ गोद । विषयभोग के साधनहि, मूरख माने मोद ॥” यह सारा संसारी प्राणी कालका चबेना बन रहा है । जैसे गोदकी भोलीमें चबेना लेकर चबाते तो कुछ चने भोलीमें रहते, कुछ मुखमें । थोड़ी ही देरमें भोलीमें रखा हुआ चबेना भी मुखमें जाने वाला है, ठीक ऐसे ही ये संसारी प्राणी भी काल के सम्मुख खड़े हैं । कुछ जीव कालके द्वारा ग्रस लिए गए हैं और कुछ कुछ ही समय बाद ग्रसे जाने वाले हैं । तो यों मानो कि ये संसारी प्राणी कालकी गोदमें बैठे हुए हैं, इनकी कुछ खैर नहीं है । ऐसी हालत है इस संसारी मोहो प्राणीकी । फिर भी आश्चर्य है कि यह इन विषयभोगके साधनोंमें मौज मानता है । अपने आपको विषयकषायोंमें लगा करके अशुभोपायों में फंसा करके यह प्राणी बड़ा हर्ष मान रहा है । हिसाब सबके होते हैं । जैसे यहाँ ऐसा है कि कोई सस्ती चीज ल आता तो थोड़े ही दिनांक वर दूट-फूट जाती, निगड़ जाती और

जरा कुछ अच्छी कीमती चीज ले लिया तो वह बहुत दिनों तक चलती है। तो यहाँ सुख दुःखका भी हिसाब बराबर है। कोई एक वर्ष तक भोग विषयोंका खूब सुख पावे। पा लो बच्चू, जैसे मानो कोई कहता हो नैपत्यमें, कर लो खूब मौज, पर कुछ ही समय बाद वह उससे कई गुना दुःख देकर जायगा। तो जितना यहाँ सुख माना उससे भी ज्यादा दुःख भोगा। तो संसारके इन बाह्य पदार्थोंको निरखकर खुश मत हो कि मैं तो बड़ा अच्छा हूँ, मुझे बड़ा सुख है, बड़ा मौज है ?....अरे यह सुख, यह मौज तो बड़ा दुःख देकर जायगा, इससे प्रीति मत करो। प्रीति करो उस अरहंत सिद्ध प्रभु जैसे आनन्दसे। बही आनन्द मुझमें प्रकट हो। इन बाहरी पदार्थोंसे अपना महत्त्व न समझें। ऐसी बात दृष्टिमें बिताये रहें तो भला होगा, शान्ति मिलेगी, सन्मार्ग मिलेगा। और जो बेहोशी रहेगी तो इस तरह कष्ट होगा, विपत्ति मिलती रहेगी। यह किस कारणसे है ? चारित्रमोहसे। अच्छा तो चारित्रमोह के दो काम हैं—एक तो कषाय करना और दूसरा—संयम न पालना याने असंयम होना। तो वह चारित्रमोह तो एक ही है, मगर शक्तियाँ भिन्न हैं। वे जातिमें दो नहीं हैं कि इससे तो असंयम बना और इससे कषाय बनी। एक ही मोहप्रकृतिमें ये शक्तियाँ हैं कि एक शक्ति से असंयम बने और एक शक्तिसे कषाय बने। चीज एक है। वहाँ दो प्रकारकी कार्माणवर्ग-णायें नहीं हैं, किन्तु उनमें शक्ति इस प्रकारकी है और वे शक्तियाँ एक अलग प्रकारकी जात्यन्तर मायने एक ऐसी दोमुखी शक्ति हैं कि दोनों काम हो रहे कषायमोहके उदयमें। कषाय चल रही है और स्वरूपसे हट भी रहे हैं, स्वरूपमें लग नहीं पा रहे, यह विपत्ति है हम आप पर। यह कैसे मिटे, इसका उपाय तो बनाओ। बस सत्संग, स्वाध्याय, आत्मचिन्तन, आत्ममनन यह ही एक इस विपत्तिको मिटायेगा, दूसरा कोई विपत्तिको नहीं मिटा सकता।

तत्र यन्नाम कालुष्यं कषायाः स्युः स्वलक्षणम् ।

व्रताभावात्मको भावो जीवस्यासंयमो मतः ॥११३६॥

कषाय और असंयमका स्वरूप—प्रकरण यह चल रहा है कि असंयमभाव और कषायभाव—ये दोनों चारित्रमोहनीय कर्मके उदयसे होते हैं। तो चारित्रमोहमें ऐसी शक्ति है दो प्रकारकी कि एक शक्तिसे तो जीवमें असंयम बने और एक शक्तिसे जीवमें कषाय बने। वे असंयम और कषाय क्या चीज हैं ? जो परिणामोंमें कलुषता है वह तो कहलाती है कषाय—क्रोध, मान, माया, लोभ। ऐसा जो कोई कलुष परिणाम है उसका नाम है कषाय, और जो व्रतका अभाव है, व्रत नहीं कर पाया है, ऐसे व्रतके अभावका नाम है असंयम। एक दृष्टान्त ले लो, जैसे आपका हाथ घुटनेपर रखा है और उठाकर चौकी पर मारा तो दो काम हुए कि नहीं ? क्या कि हाथका अलग होना। जहाँ रखा था हाथ वहाँसे अलग हुआ और चौकीपर लग गया तो जब यह जीव परिणाममें कलुषता करता है तो दो बातें हुई कि नहीं ?

अपने स्वभावसे चिग गया और कलुषतामें लग गया। तो जो कलुषता है वह तो है कषाय और जो स्वभावसे हट गया है वह है संयम। अब ये दोनों भाव इस जीवका कल्याण करने वाले हैं, क्योंकि कषाय हो गई, कलुषता हो गई; क्रोध, मान, माया, लोभ जग गया तो यह जीव चैनमें रहता है या बेचैन? सभीको अनुभव है? जिस समय गुस्सा होता उस समय यह बेचैन हो जाता, इसकी आँखें लाल हो जाती हैं, मुख फड़फड़ाने लगता है, बोल साफ नहीं निकलता तो यह क्या कोई शान्तिका ढंग है? ऐसी ही हर एक कषायकी बात है। जिस समय जीव मान कषाय कर रहा है, अपनेमें ऐंठ रहा है, शरीर तन रहा है, आँख भौं और तरहके हो रहे हैं, दूसरोंके प्रति तुच्छताका भाव बन रहा है तो उसमें इसे शान्ति मिल रही या अशान्ति? अशान्ति मिल रही। जो कोई मायाचार करता है उसका दिल ठिकाने नहीं रहता। थोड़ी ही देरमें यह शल्य फिर वह शल्य। इसकी चिन्तामें, इसकी उधेड़-बुनमें रहता है। तो जो छल करता है उसको शान्ति रहती या अशान्ति? जो तृष्णाके रंगमें रंग रहा, लोभ कषायमें पड़ा, उसे शान्ति है कि अशान्ति? तो भट कह देंगे कि अशान्ति, पर दिलमें ऐसा नहीं लेते कि फिर क्यों ऐसी कषाय करना? घरमें रहते, धंधा करते, यह तो घरमें रहनेके कारण कर्तव्य है, मगर परिणाममें भीतरमें यह समझते कि मेरा सर्वस्व तो यह धन है, यह ही मेरा प्राण है, इस तरहका भीतरमें भाव बनना—यह कहलाता है लोभकषायका रंग। तो कषायमें यह जीव बेचैन होता है। अच्छा और जहाँ असंयम है वहाँ भी बेचैनी है, अपने स्वरूपसे हटे हुए हैं। तो जैसे पानीसे हटकर मछली जमीनपर पड़ जाय तो वह तड़फती है, ऐसे ही यह जीव, यह उपयोग अपने स्वभावसे हटकर कलुषतामें पड़ गया, कषाय-भूमिपर आ गया वह उपयोग बेचैन होता है, तड़फता है। तो असंयमभाव भी जीवके लिए कष्ट है और कषाय जीवके लिए कष्ट है। ये दो बातें होती हैं दुःखदायी और ये सब हो रही हैं चारित्रमोहनीय कर्मके उदयसे।

एतद्वैतस्य हेतुत्वं स्याच्छक्तिद्वैतैककर्मणः।

चारित्रमोहनीयस्य नेतरस्य मनागपि ॥११३७॥

असंयम और कषाय दोनोंका निमित्त शक्तिद्वयोपेत चारित्रमोहका उदय—ये दो बातें हुईं ना जो ऊपर कहा—असंयम और कषाय। तो इन दोनों बातोंके होनेका कारण यह है कि इस चारित्रमोहनीय कर्ममें दो शक्तियाँ हैं—एक सामान्यशक्ति और एक विशेषशक्ति। सामान्यशक्तिसे तो असंयम बन रहा और विशेषशक्तिसे कषाय जग रही। यह काम और दूसरेका नहीं, चारित्रमोहकी ही बात है। देखो आठों कर्मोंमें सरदार कौनसा कर्म है? मोहनीय कर्म। और मोहनीय कर्ममें भी परिवार बहुत है। जैसे कहते हैं ना कि हमारे गाँवमें यह आदमी मुख्य है, हमारे घरमें यह आदमी मुख्य है। अच्छा, और उस घरमें आदमी बहुत

हैं तो कहते हैं कि इस घरमें अमुक आदमी मुख्य है। तो आठों कर्मोंमें मोहनीयकर्म सरदार है। सरदार कहा तो कोई अच्छी बात नहीं समझना। सरदार प्रजा, पार्टी, डाकुओं, बेईमानों का भी होता, तो सरदार तो सबमें होता है। तो आठ कर्मोंमें जो सरदार मोहनीय है उसका अर्थ यह है कि जब तक मोहनीय कर्म ज्वलंत रहता है, जीवित रहता है तब तक उसके साथ सातों कर्म पनपते हैं, हरे होते हैं और जहाँ मोहनीय कर्म नष्ट हो जाता है तो बस इन सब कर्मोंका विनाश होना शुरू होने लगता है, इसलिए यह सरदार है। जैसे सेनापतिके मरनेपर सेनाके हाँसले नष्ट होते हैं ऐसे ही मोहनीय कर्मके नष्ट होनेपर पूरी कर्म गुत्थियाँ उखड़ जाती हैं। और मोहनीयकर्ममें भी सरदार कौन है? दर्शनमोहनीय, जो सम्यक्त्वका घात करता और दर्शनमोहनीयमें भी सरदार कौन है? मिथ्यात्वप्रकृति। मिथ्यात्वके नष्ट होनेपर फिर सभी नष्ट हो जाते हैं। तो ये जो दो बातें हुई—असंयम और कषाय, तो ये दोनों चारित्रमोह के उदयसे होते हैं। ऐसा जानकर क्या सोचना कि मुझपर जो गड़बड़ी आयी है, असंयम कषाय, कलुषता, ये सब कर्मके उदयसे हैं। मेरे स्वरूपसे नहीं उठे। मुझपर तो यह बोझ आ गया। है मेरा ही परिणामन ज्ञानविकल्प, मगर यह औदयिक है, इसमें प्रीति न करना, और जो निजस्वरूप है उसमें प्रीति करना।

योगपद्यं द्वयोरेव कषायासंयतत्वयोः।

समं शक्तिद्वयस्योच्चैः कर्मणोऽस्य तथोदयात् ॥११३८॥

शक्तिद्वयोपेत चारित्रमोहके विपाक समय भी ज्ञानबलसे विभावको पछाड़ दिये जाने की संभवता—कषाय और असंयम, ये दोनों एक साथ हैं। स्वभावसे हटे हुए रहना और कलुष परिणाम रहना, ये दोनों एक साथ हैं। सो एक साथ ही उस चारित्रमोहनीयमें दो शक्तियाँ हैं। ऐसा नहीं है कि जब असंयमकी शक्ति काम कर रही हो तो कषायकी शक्ति खाली बैठे। दोनों शक्तियाँ एक साथ हैं और दोनोंका एक साथ काम हो रहा है। चारित्रमोह का उदय ऐसा बलिष्ठ है। देखो यद्यपि प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है, किसीकी परिणति किसीमें नहीं जाती। सब अपने-अपनेमें परिणाम रहे हैं। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यकी परिणति नहीं कर पाता, लेकिन जो विकार होते हैं, विषम परिणाम होते हैं वे किसी न किसी पर-उपाधिका जो निमित्त हो उसके सान्निध्यमें ही होता है। तो ये विकार सब इस कर्मके सान्निध्यमें हो रहे। बातें दोनों माननी होंगी। करता यह जीव ही अपना काम। विकार करे, कुछ करे। करना ही पाता है कर्मके उदयमें। इन दोनों बातोंमें एकको मना करके तो देखो—कितना दोष आता है? मगर कोई कहे कि कषायादि जीवके परिणाम नहीं हैं कर्म ही करता है अपने आप सब कुछ, तो फिर जीवको कुछ मौका न मिला, क्योंकि खुद तो कर नहीं पाता। कर्म ही सब कर रहा तो विकार कैसे मिटेंगे? और यह मना जाय कि जीवमें अपने आप हो रहे हैं

कषाय, कर्मके उदयकी क्या ज़रूरत ? उसका नाम मत लो । अच्छा तो जब केवल जीवके स्वरूपसे ही हो रहे विकार तो वे स्वभाव बन जायेंगे, क्योंकि अपने स्वरूपसे हुए, अपने आप हुए, परके सम्बंध बिना हुए तो वे स्वभाव बन गए । जब विकार जीवके स्वभाव बन गए तो मिटेंगे कैसे ? तो असली बात यह ही है । कर्मके उदयका सन्निधान पाकर जीव अपनेमें विकार-गरिणमन करता है । इसको कहते हैं निमित्तनैमित्तिक योग । ऐसा माननेमें दो बातें आयीं । अरे मैंने अपनी कायरतासे विकार किया । अब मैं विकारको न होने दूँगा । यह तो औदयिक है । मैं तो अपने स्वभावमें ही रहूँगा । जब स्वभावकी सुध होती है तो यह बन प्रकट हो जाता है । एक ऐसी कहावत है कि कोई क्षत्रियका लड़का था और कोई बनियाका लड़का । दोनों लड़ रहे थे तो बनियाका लड़का था मोटा-ताजा बलवानसा तो उसने उस लड़केको पटक दिया और छातीपर बैठ गया । सो वह लड़का बैठ तो गया, नीचे तो पड़ा, पर थोड़ी देरमें पूछता है कि भाई तुम किसके लड़के हो ? तो वह बोला कि मैं बनियेका लड़का हूँ । तो इतनी बात सुनकर भीतरसे ऐसी तेज उमंग उठी कि अरे मैं तो क्षत्रियका बेटा तो ऐसी ताकत लगाया कि उसे नीचे कर दिया । तो ऐसे ही ये कर्मोंके उदय, भावकर्म, इन्होंने दाब रखा इस आत्माको । पर कभी यह आत्मा पूछ तो देवे कि तुम किसके हो ? तो उत्तर मिलेगा कि ये जड़कर्मके हैं, पुद्गलकर्मके हैं, और मैं परमात्माकी जातिका स्वभावका हूँ । जहाँ यह ध्यानमें आया कि आत्मासे ऐसा बल प्रकट होता कि मैं परमात्मस्वरूप भगवान आत्मा और मुझपर ये कर्म लद जायें, विकार लद जायें, फल देंगे । जो एक भीतरसे ऐसा सोचा गया तो बस विभावोंकी पछाड़ हो गई, स्वभावकी उमंग जगी ।

कायरता तजकर आत्मशीर्यमें उमंग लानेका अनुरोध—भाई अभी यह ही कमी है कि स्वभावकी उमंग नहीं बन रही जो ढंग खला आया है घरमें मोहका, ममताका । बूढ़े हो गए, नाती-पोते वगैरा हो गए, उनको देखकर खुश हो रहे, भीतरसे बड़ी मौज मान रहे कि मैं बड़ा हरा-भरा हो गया । हमें कुछ चिन्ता नहीं... । अरे कहते कि चिन्ता नहीं और काम कर रहे चिन्ताका ही । अरे जो ममता है, लगाव है वही तो दुःख है । पहले ऐसा रिवाज था कि जब कोई घरका बुजुर्ग मर जाता था तो उसके साथमें चितापर एक सोनेकी नसैनी बनाकर रखते थे । चाहे तोला भरकी या दो-चार आनेकी ही सही । क्यों रखते थे ? तो यों रखते थे कि यह बूढ़ा बड़ा भाग्यवान निकला, इसने नाती-पोता, बड़पोता, सड़पोता आदि सब देखे तो यह इस सोनेकी नसैनीपर चढ़कर स्वर्ग पहुंच जायगा, पर उन्हें यह नहीं मालूम कि यह नसैनी चढ़नेके भी काममें आती है और उतरनेके भी । सो आप समझ लो कि जिस बूढ़ेने लड़का, नाता-पाता, बड़पोता, सड़पोता आदि सभीने मोह बसाया तो उसके लिए वह

नसैनी ऊपर चढ़नेका काम करेगी या नीचे उतरनेका । यह तो नीचे उतरनेका ही काम करेगी । यहाँ नीचे उतरनेका अर्थ नरकोंमें जानेसे है । उसमें तो इस आत्माकी बरबादी होती है । इस आत्माकी रक्षा करनेकी उमंग विरजे ही ज्ञानी पुरुषको होती है । नहीं तो जैसी बरबादी अभी तक करते आये वैसी ही बरबादी आगे करते चले जावेंगे । जरा भी नहीं चेतते कि भाई जगतमें जो कुछ दिख रहा है यह सब कोरा मायाजाल है । यहाँका एक जरासा कण भी आपका साथी न होगा । आप तो अपना काम करो, अपने आत्माकी सुध लो । आत्मामें अपने अनन्तआनन्द स्वभावको देखो और धीरज धरो, प्रसन्न होवो । हम तो सुखी हैं, शान्त हैं, कोई कष्ट नहीं । जो हमारा आत्मा है वह पूराका पूरा हमारे पास है, इसमें बाहरसे डेला पत्थर नहीं आते, ऐसा अपने आपको देखें सो जीवन सफल होगा, कर्म कटेंगे, भविष्य सुधरेगा, और न किया जाय यह काम, मोह मोहमें ही रहा जाय तो बस उसके लिए तो नसैनी नीचे उतरनेके लिए साथ रहेगी ।

अस्ति तत्रापि दृष्टान्तः कर्मानन्तानुबन्धि यत् ।

घातिशक्तिद्वयोपेतं मोहनं दृक्चरित्रयोः ॥११३६॥

बात यह चल रही थी कि जीवमें असंयम और कषाय, ये दोनों भाव चल रहे हैं । उसका कारण है चारित्रमोहका उदय । तो एक कर्ममें दो तरहकी शक्तियाँ होती हैं—क्या ? तो इस गाथामें दृष्टान्त देकर समर्थन किया है कि देखो जैसे अनन्तानुबन्धी कषाय प्रकृति है ना ? उसमें दो शक्तियाँ पड़ी हैं—कैसी दो शक्तियाँ कि एक शक्तिसे तो सम्यक्त्वका घात होता और एक शक्तिसे चारित्रका घात होता । तो जैसे अनन्तानुबन्धी प्रकृतिमें दो शक्तियाँ हैं—(१) सम्यक्त्वका घात करे, (२) चारित्रका घात करे । मायने स्वरूपाचरण रंच भी स्वरूपाचरण वाला नहीं हो सकता, तो ऐसे ही चारित्रमोहमें दो शक्तियाँ हैं—(१) असंयमको उत्पन्न करे और (२) कषायभावको उत्पन्न करे । जैसे अग्निमें कई शक्तियाँ हैं—प्रकाश कर देवे, जला देवे...तो पदार्थोंमें होती हैं भिन्न-भिन्न शक्तियाँ । तो यों चारित्रमोहके उदयमें जीव को दो प्रकारकी विपत्ति होती है । यह विपत्ति है ना खुदमें । निरीक्षण तो करो । ये आत्मा के शत्रु पड़े हैं ना आत्माके घरमें—असंयम और कषाय । जो आपके अनन्त आनन्दस्वभावको लुट रहे हैं । तो इनको मिटाओ । देखो घरमें सब आप, आपकी पत्नी, आपके बच्चे सभीकी यह चाह बन जायगी कि यह जगत मायारूप है, इसमें क्या लवलीन होना ? धर्म करो, सत्संग करो, ज्ञान सीखो, ज्ञानके लिए उमंग बनाओ । तो फिर आपको आसान हो जायगा, क्योंकि घरमें एक तो मोह कर रहा, अज्ञान है उसके और एक ज्ञानी बन रहा । तो वह जो अज्ञान का, मोहका जो रात-दिनका संग है तो उसमें यह सम्भव है कि उसका वह ज्ञान आलेमें धरा रहे । तो जब घरके सभी सदस्य धर्मभावनाको लिए हुए हों तो कितनी सुगमता मिलती है

पाथा ११३३

धर्ममार्गमें बढ़नेको ? तो धर्म क्या है ? [सच्चा ज्ञान करें, निर्मल परिणाम रखें, असंयममें मत पड़ें । यह ही अपनी प्रगतिका एक उपाय है ।

ननु आप्रत्याख्यानादिकर्मणामुदयात् क्रमात् ।

देशकृत्स्नव्रतादीनां क्षतिः स्यात्तत्कथं स्मृतौ ॥११४०॥

अब यहां एक शंका और बन रही है, जिसने थोड़ा भी स्वाध्याय किया हो कर्मसिद्धांत का, वह जानता है कि अप्रत्याख्यानावरण प्रकृतिके देशचारित्र नहीं होने देती । प्रत्याख्यान प्रकृति महाव्रत नहीं होने देती । ऐसा जब ग्रन्थोंमें वर्णन है और यहां यह कह रहे कि चारित्र-मोह असंयम करता तो यहां ये भेद क्यों पड़ गए कि यह प्रकृति तो देशसंयम न होने दे और यह प्रकृति सकलसंयम न होने दे । एक ही बात रहनी चाहिए । सब संयमका घात करते हैं । तो इस शंकाका समाधान करते हैं ।

सत्यं तत्रःविनाभावो बन्धसत्त्वोदयं प्रति ।

द्वयोरन्यतरस्यातो विवक्षायां न दूषणम् ॥११४१॥

देशसंयम व सकलसंयमके जुदे-जुदे गुणस्थानोंमें निरूपणका कारण —ये जो अलग-अलग बात बतायी कि अप्रत्याख्यानावरण देशसंयमका घात करता, प्रत्याख्यानावरण सकल-संयमका, मुनिव्रतका घात करता तो यह कहा गया इस कारण कि अप्रत्याख्यानावरणका बंध-विच्छेद और उदयविच्छेद, एक ही साथ चौथे गुणस्थानमें हुआ । इसमें यह बात लगाना कि पांचवें गुणस्थानमें संयम तो बना, मगर ५वें गुणस्थानमें प्रत्याख्यानावरण कषायकी बंधवि-च्छुत्ति नहीं, उदयविच्छुत्ति नहीं । सो यहाँ सकलसंयम नहीं होता ५वें गुणस्थानमें, पर हाँ देशसंयम हो गया, और छठेमें सकलसंयम हो गया । तो एक सामान्यरूपसे कह तो देते हैं देशसंयमको भी असंयम, पर साथ ही कुछ संयम है, इसी कारण इसका दूसरा नाम है संय-मासंयम । तो यह असंयम भाव यह चारित्रमोहके उदयसे हुआ । यह जानकर आपको क्या उमंग लाना है कि हम अपने स्वरूपसे चिग रहे हैं सो वह हटाव औपाधिक है, सदा रहे ऐसी बात नहीं । जब हमने अपने स्वरूपकी सम्हाल की कि स्वरूपमें लग गया ।

ज्ञानके विपरिणामनसे सुख दुःखका हिसाब—देखो जितने सुख दुःख हैं वे आपके विचारसे हैं या बाहरी चीजके हिसाबसे हैं, यह ही पहले निर्णय बनालो । अगर कहो कि बाहरी चीजके हिसाबसे सुख दुःख हैं तो देखो—अगर अभी किसीके पास एक लाख रुपयेका धन है तो वह अपनेको सुखी मानता और अगर एक हजारका ही धन मिट गया, नुकसान हो गया तो वह अपनेको दुःखी मानता और कोई दूसरा जिसके पास कुछ धन नहीं है, १००-५० रुपयेका खोम्चा फेरकर २-४ रुपये कमाकर ही अपना गुजारा करता है, वह यदि किसी तरहसे एक हजार रुपया पा जाय तो वह तो अपनेको बड़ा सुखी अनुभव

करता है। अब भला बतलाओ जिसके पास अभी ६६ गुणा ६० धरे हैं वह तो दुःखी है और जिसके पास मात्र एक हजार रुपया है वह सुखी है। जिसके पास एक लाख रुपये थे उसकी दृष्टि उस टोटे वाले एक हजारपर ही रहती है, ६६ हजारपर नहीं रहती। यही कारण है कि वह अपनेको दुःखी अनुभव करता। तो बाहरी चीजके हिसाबसे सुख दुःखकी बात बन सकी क्या? नहीं बनी। तो फिर मनके विचारसे, ज्ञानके उस प्रकारके विकल्पसे सुख दुःखका हिसाब है। तो जब ज्ञानके विकल्पसे विचारसे सुख दुःखका हिसाब है तो यह नफेका काम करो ना, टोटेका काम क्यों करते? ऐसा ही विकल्प, ऐसा ही ज्ञान जगाओ ना जिसमें कष्ट न हो, आनन्द ही आनन्द बने। ऐसा अज्ञान क्यों बने कि जिसमें कष्ट-होता है? सब सोचनेकी ही तो बात है। तो अपना ज्ञान बनायें मायने अपने आत्माके स्वरूपका बोध करें—मैं क्या हूँ? जितने क्षण आपकी दृष्टिमें अपना स्वरूप रहेगा उसकी प्रीति हो, मैं यह हूँ, यह ज्ञानमात्र परभावसे निराला ज्ञानसे ठसाठस भरा हुआ आनन्दका घर यह मैं हूँ, आत्मद्रव्य हूँ—जब यह दृष्टिमें होगा तब आपको कोई कष्ट नहीं और इससे चिगे और बाहरमें सोचा कि यह मेरा घर, ये मेरे लोग, यह मेरा अमुक उनकी शक्ल-सूरत देख-देखकर सुहावना लग रहा तो क्या हो रहा? तत्काल भी दुःखी हो रहे हैं और ऐसा कर्मका बन्ध चल रहा कि जिसके उदयमें आगामी कालमें भी बड़ा कष्ट होगा। इससे भाई अपने ज्ञानको संभालें तो सब संभल गया। अपने आत्माकी भक्ति करें तो सारे कष्ट मिट गए। अपनेको पहिचान लें कि मैं कषाय-रूप नहीं हूँ, केवल एक ज्ञानज्योतिस्वरूप हूँ?

असिद्धत्वं भवेद्भावो नूनमौदयिको यतः ।

व्यस्ताद्वा स्यात्समस्ताद्वा जातः कर्माष्टकोदयात् ॥११४॥

असिद्धत्वभावकी औदयिकता—तत्त्वार्थसूत्रमें आप पढ़ते होंगे, औदयिक भाव इक्कीस होते हैं। सूत्र आया है—“गतिकषायलिङ्गमिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतत्वासिद्धलेश्याश्चतुश्चतुस्त्येकै-कैकैषड्भेदाः ॥ औदयिक भावोंके ये २१ भेद हैं। उन २१ भेदोंमें से यह असिद्धत्व नामक औदयिक भाव अब चल रहा है। सिद्ध न होना इसे कहते हैं असिद्धत्वभाव। यह भाव कब तक रहता है जब तक अरहंत भगवान हैं। १४वाँ गुणस्थान है तब तक भी असिद्ध हैं वे। जब मुक्त हो गए अष्ट कर्मोंसे तब सिद्धत्व उनमें प्रकट होता। तो यह असिद्धत्व नामक भाव औदयिक है, कर्मके उदयका निमित्त पाकर हुआ है। तो कौनसे कर्मके उदयसे हुई है तो भेद बनायेंगे तो अलग-अलग कर्मोंसे भी अलग-अलग गुणोंका असिद्धत्व कह सकते हैं, और सूक्ष्मके सूक्ष्म बात लेंगे तो अष्टकर्मोंके उदयसे असिद्धत्व भाव है। सिद्धत्वमें क्या होता है? सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रकी परमपूर्णता होना। यह सिद्धत्व अरहंतमें नहीं है,

क्योंकि उनके यो० है और १४वें गुणस्थानमें है कि नहीं ? हाँ नहीं है, क्योंकि अघातिया-कर्मका उदय अभी चल रहा है। उसकी और बातें तो चल रही हैं ना ? शरीर होना और और बातें। तो जब आठों कर्म नष्ट हो जाते हैं तो सिद्धत्वभाव प्रकट होता है। वैसे सम्यग्दर्शनका असिद्धत्व मोहनोपके उदयसे होता, सम्यग्ज्ञानका असिद्धत्व ज्ञानावरणके उदयसे होता। जुदा-जुदा लगावो तो भी औदयिक विदित होगा, मगर पूर्णतया जब तक सिद्धत्व नहीं है तब तक असिद्ध है।

सिद्धत्वके प्रोग्राममें श्रेयःसर्वस्व—अपना-अपना प्रोग्राम बना लो अबसे कि अपनेको करना क्या है ? क्या प्रोग्राम बनाना है ? मुझे सिद्ध बनना है। बस एक ही प्रोग्राम है, दूसरी बात चित्तमें नहीं, क्योंकि थोड़े दिनकी कल्पनारूप लौकिक बड़प्पनका क्या करना ? उससे कोई सिद्धि तो नहीं। इस संसारमें देव बन गए, राजा बन गए, करोड़पति हो गए, उससे कोई पार पड़ेगा क्या ? कोई प्रोग्राम न बनावें संसारका। कुछ नहीं बनना। यह हिम्मत उसके बनेगी जिसने आत्माके स्वरूपका अनुभव किया। नहीं तो जैसे—एक कोई सेठ था, वह रोज-रोज भगवानसे बड़ी प्रार्थना किया करता था—भगवान मुझे कुछ न चाहिए, सिर्फ मुक्ति चाहिए। सो एक देवने जाना कि यह तो भगवानका बड़ा भक्त है और उनसे कुछ नहीं चाहता, सिर्फ मोक्ष चाहता। रोज-रोज कई सालोंसे यही बात कहता है, सो वह देव उस सेठके पास एक अच्छा रूप बनाकर आया और कहा—सेठ जी, चलो हम तुम्हें मोक्ष ले जायेंगे, क्योंकि तुम रोज-रोज भगवानसे यही विनती किया करते। सेठने पूछा—कैसा है वह मोक्ष ? वहाँ क्या-क्या मिलेगा ? अरे वहाँ न तो यह देह रहेगा, न परिवार रहेगा, न मकान रहेगा, न धन-दौलत रहेगी, न चाय, पानी वगैरहके कुछ साधन रहेंगे, न अन्य कोई सांसारिक चीज रहेगी, वहाँ तो बस आत्मा ही आत्मा रह जायगा, ऐसा है मोक्ष। तो वह सेठ बोला—तब फिर नहीं चाहिए हमें ऐसा मोक्ष। हम तो ऐसा मोक्ष चाहते कि जहाँ इन सांसारिक सुखोंसे भी बढ़-चढ़कर मुख हो।

मोक्षका प्रोग्राम बनते ही सन्मार्गकी अभिवृद्धता—लगनसे जिसको मनमें आ जाय कि मुझको तो संसारके समस्त संकट बंधनोंसे मुक्ति चाहिए, तो उसके लिए काम बनेगा सारा। सिद्ध होना, यह प्रोग्राममें है, और कोई प्रोग्राम नहीं। बीचमें कोई झगड़ा-फंसाद आये तो उसकी उपेक्षा कर दो। दूसरा कोई विराधक प्रकरण हो तो उसे अलग भगा दो। क्या है, हजार-पाँच सौ गये तो गए। झगड़ तो मिटा। कोई प्रसंग आया, किसीसे झगड़ा, कुछ हुआ तो अपनी शान्ति और अपनी निर्मलता, इनका महत्व मानें रखो। बाकी दुनियावी संगमका महत्त्व चित्तमें न रखो। तो अपनेमें यह प्रीति बनाओ कि मुझको तो सिद्धपद ही अभीष्ट है, संसादका कोई भी पद अभीष्ट नहीं। बड़प्पन तो इनमें है कि लोग

मनावें कि आप एम. पी. हो जावो, अमुक हो जावो और आप मना करें मुझे जरूरत नहीं। लोग हाथ जोड़कर विनती करें और तब बनें तो यह है एक बड़प्पनकी चीज। और मुझे बनना है एम. पी., मुझे वोट दो, देखो लोग तो वोट दो को कहते हैं चोट दो। व में जरासी चोंच ही तो लगाना है। तो संसारकी बातें चाह-चाहकर उनसे महत्त्व पानेकी आशा व्यर्थ है। उनसे उपेक्षा करना और धुन लगाना अपने अंतःस्वरूपकी कि मुझे बस यहीं अंतः रमना है।

सिद्धत्वं कृत्स्नकर्मभ्यः पुंसोऽवस्थान्तरं पृथक् ।

ज्ञानदर्शनसम्यक्त्ववीर्याद्यष्टगुणात्मकम् ॥११४३॥

सिद्धत्वका स्वरूप—सिद्धपना किसे कहते हैं? समस्त कर्मोंसे जुदा होकर इस जीव की जो एक अलौकिक अवस्था होती है उसका नाम है सिद्धत्व। केवल आत्मा ही आत्मा रह गया। इसके साथ विभाव नहीं, कर्म नहीं, शरीर नहीं, फिर और-और चीजोंकी बात क्या? केवल ज्ञानज्योति ही रह गई, यह है सिद्धपना और यही है आत्माका उत्कृष्ट विकास तथा आखिरी मंजिल, जिसके बाद फिर कुछ यात्रा नहीं। प्रगतिका अन्तिम रूप ऐसा होता है ना। यदि अपने विविक्त स्वरूपकी व्यक्ति चाहिये तो इस वक्त भी तो खुद विचार करो कि मैं सबसे निराला मात्र ज्ञानज्योति हूं। यह भावना बनावें। एक बात तो पकड़ लो कोई, जो आपके मनमें अच्छी लगे। हमको तो यह अच्छी लगती कि अपनेको ऐसा निहारें, ऐसा प्रयत्न करें कि मैं सबसे निराला, शरीरसे भी निराला, ख्यालातोसे भी दूर एक परमपावन ज्ञानज्योति रूप हूं—ऐसी भावना बनायें और ऐसा अपने लो ढालें, इसमें बड़प्पन है, और-और बातोंमें बड़प्पन नहीं।

दुर्गतिसे बचनेके लिये धर्ममें प्रीति करनेका कर्तव्य—जो जैसा करेगा सो वैसा फल पावेगा, और जो उल्टा ही चलेगा सो दुःखी होगा। एक कोई किसान खेत जोत रहा था तो जोतते हुएमें बैलके पैरके नीचे आये हुए एक साँपने किसानको डस लिया, उसके विष चढ़ गया, हवास उड़ गया, बेहोशी छा गई। उसको यह ध्यानमें बना रहा कि इस बैलने मेरे पैर पर अपना पैर रख दिया, अब उस किसानने बेहोशीमें उस बैलको पीटना शुरू किया। बड़ी देर तक पीटता रहा। यह दृश्य देखकर कई लोग पास आये—बोले, भाई क्यों इस बैलको इतना पीट रहे? ...अरे इसने मेरे पैरपर अपना पैर रख दिया। तब एक चतुर व्यक्तिने धीरे से समझाया—अरे बच्चू, यदि यह मर गया तो क्या होगा? कैसे जोतोगे, कैसे अनाज पैदा करोगे, कैसे परिवारका पालन-पोषण करोगे, कैसे क्या होगा, तुम्हारी सारी जिन्दगी खराब हो जायगी। ...किसानकी समझमें आ गया, उसकी बुद्धि ठिकाने लग गई, पीटना बंद कर दिया। तो ऐसे ही अपने आत्माको समझ लो बच्चू कहकर कि देख आत्मन्, देख बच्चू, तू इतना उदण्ड बन रहा, विषयकामायाओंमें लग रहा, इन परका चीजोंको ही सब कुछ मान रहा

माथा ११४४

और उस विकल्पमें ऊधम मचा रहा। देख, इसका फल है दुर्गति। सो यदि अपना भविष्य अच्छा बनाना चाहते हो तो धर्मसे प्रीति बढ़ाओ, कषायोंकी रति छोड़ो।

सिद्धत्वकी पात्रता—जो पुरुष इसी समय सबसे निराला केवल अपने ज्ञानज्योतिस्वरूपको निहार सकता है वही मोक्ष पा सकता है। मोक्षमें हम क्या बनेंगे, उस चीजका भान हम यहां कर लें तो उसकी साधनासे मुक्ति मिलेगी। तो वह मोक्ष अवस्था, सिद्ध अवस्था समस्त कर्मोंसे निराली है, अलौकिक है और वहां आत्माके सभी अनुजीवी गुण परिपूर्ण हैं तथा प्रतिजीवी गुण भी प्रकट हो गये हैं। ज्ञान पूरा, जिससे लोक अलोकको निरन्तर जानते रहते हैं। दर्शन पूरा याने इतने बड़े ज्ञानसे जो जान रहे हैं, ऐसे इस समय आत्माका प्रतिभास कर सकें, सम्यक्त्व निर्दोष और अनन्त आनन्द। सिद्ध प्रभुके शरीर नहीं रहा, सब ज्ञानज्योति रह गई। सिद्धक्षेत्र मात्र ढाई द्वीपके विस्तार बराबर है ४५ लाख योजन है, और हैं वहां अनन्त सिद्ध, एक ज्योतिमें अनेक ज्योति समा गई। इसे लोग कहते हैं ज्योतिमें समा जाना, सो मोक्ष है, पर भेद क्या पड़ गया अन्य लोगोंके कहनेमें और स्वयमें? वे तो एक अलग ज्योति मानते और उस ज्योतिमें यह जीव समा जाय मोक्ष हो गया। अरे यह खुद ज्योति है और कर्मसे मुक्त होनेपर वहीं ज्योति पहुंच जाती जहां अनन्तज्योति पहलेसे मौजूद है। यों ज्योतिमें ज्योतिका समा जाना यह अन्य अन्यकी नहीं, आत्माका ज्ञानस्वभाव स्वयं गुण है। शरीर न होनेसे यह अवगाहन गुण प्रकट हुआ है, यहां आयुर्कर्म है ही नहीं। एक सिद्धके क्षेत्रमें अनन्त सिद्ध समा गये। सूक्ष्मत्व गुण अब सर्वथा प्रकट है। ये अनन्तशक्ति वाले हैं उनको कोई कुछ बाधा नहीं, वहां न कोई उच्च नीचकी तुलना है, ऐसे न गुणमय यह सिद्धपद है। यह है सिद्धत्वका स्वरूप। और अब बतजाते हैं कि ऐसा सिद्धत्व जहां नहीं है वहां है असिद्धत्व।

नेदं सिद्धत्वमत्रेति स्यादसिद्धत्वमर्थतः।

यावत्संसारसर्वस्वं महानर्थास्पदं परम् ॥११४४॥

असिद्धत्व दशाकी अनर्थास्पदता—सिद्धत्व बता दिया ना, ऐसा सिद्धपना जहां नहीं है उसे कहते हैं असिद्धत्व। सो अनादिकालसे यह असिद्धपना ही इस जीवपर रहा, जो महा अनर्थोंका स्थान है। जैसे कोई बावला हो तो वह कभी हँसता, कभी रोता। तो मोहके बावले भी ऐसा ही कर रहे हैं। कुछ दिन हँसते हैं, मौज मानते हैं, कुछ दिन बाद रोते हैं, फिर कुछ दिन हँसने लगते हैं। मायने कल्पनायें कर लीं कि मुझे मौज है, हँसने लगे, और यह हँसी कब तक रहेगी? या तो शरीरका रोग हुआ, इष्टका विरोग हो गया, कोई गड़बड़ी हो गई, दुःख आ गया। तो मोहके बावले ये प्राणी कभी सुख मानते, कभी दुःख। सो महान अनर्थ का स्थान है संसार। य सब विभाव परिणाम, ऐसी असिद्ध अवस्था अपने आपकी चल रही है,

इसमें कुछ सार नहीं। यह औदयिक है। कर्मोंके उदयका निमित्त पाकर ये दशायें होती हैं। इनसे अपना भला नहीं। अपनी भलाई तो इसमें है कि खुदमें डूब जावो, मग्न हो जावो। कुछ अन्यका ध्यान न रहे, ज्ञानमुधारसका ही पान चले। “प्रियतम ज्ञानमुधारस पीजो।” ऐसा गुणगान करो अपने आत्माका। प्रभुका गुणगान भी आत्मज्ञान ही तो है। उसका ही गान—“रसना क्यों न ज्ञानरस पीती” हे जिह्वा तू ज्ञानरसका स्वाद क्यों नहीं लेती? अरे अभी तक अनेक प्रकारके रसास्वादन किये, पर रीतीकी रीती रही, तू अब उसके स्वादके लिए क्यों भटकती? यह जिह्वा एकेन्द्रियके तो अनन्तकाल तक मिली नहीं। उसकी तो बान ही क्या? दोइन्द्रियसे लेकर पशुओं तककी मिली, ये बेचारे कीड़े-मकोड़े क्या बोलें? पशु-पक्षी भी क्या बोलें? बाँय बाँय, भैं भैं, मैं मैं, टें टें करते रहते हैं। कुछ फायदा मिलता है क्या उनकी रसनासे? एक मनुष्यभवमें मौका मिला है, अच्छी जीभ मिली है तो प्रभुके गुणगान कर लो, आत्माके गुणगान कर लो। दूसरोंसे बुरे वचन न बोलें, कपटभरे वचन न बोलें। इनका दुरुपयोग न करें, ज्ञानरसका पान करें। मन मिला है श्रेष्ठ तो ज्ञानरसका पान करें, सोचें, चिन्तन करें बस अपने स्वरूपका। यह बात मिलना बहुत दुर्लभ है। तीन लोककी सम्पदाका कुछ भी मूल्य नहीं, कुछ भी नहीं। वह तो कीचड़ है, थोड़ा लिपटे तो, बहुत लिपटे तो। आत्मज्ञान, सम्यग्दर्शन यह जिसे मिला उसने ही अपना सार पद पाया। “दुःखमें सब सुमिरन करें, सुखमें करें न कोय। जो सुखमें सुमिरन करें, तो दुःख काहेको होय ॥” जब दुःख आता है तो जल्दी समझमें आती उपदेशकी बात। कुछ नहीं रखा है संसारमें। और जब मौज चल रहा है हर प्रकारका तो वहाँ समझमें आना कठिन बैठता है। सुन लिया, कैसे नहीं सार? सब कुछ नजर आ रहा। यही सार है। अरे यहां सार नहीं है कुछ भी। एक अपनी उस परमज्योतिकी, ज्ञानज्योतिकी सम्हाल लें, उसमें अनुभव करें कि मैं यह हूं तो सारमिलन हो जायगा।

सत्य स्वरूपके विपरीत भावमें अनर्थ—भैया, जब भूठी बातमें मैं का अनुभव करते और उसे भी एक सच सी बात मान बैठते तो सचको सच अनुभव करनेसे कौनसी कठिनाई होती है? कोई एक ब्राह्मण कहींसे खरीदकर बड़ी अच्छी बकरी लिए जा रहा था। उसकी चार ठगोंने देखा तो उनके मनमें आया कि यह बकरी तो बहुत अच्छी है, इसे किसी तरह इससे ले लेना चाहिए। ठीक है। उपाय भी बन गया। चारों ठगोंने आपसमें सलाह किया और आगे कोई मील-मीलभरकी दूरीमें जाकर खड़े हो गए। जब एक ठगके पास वह ब्राह्मण पहुंचा तो ठगने कहा—भाई यह कुत्ता कहाँसे लाये? तो उसने कुछ उत्तर न दिया। सोचा कि यह तो हँसनेके लिए यों ही कुत्ता कहता होगा। कुछ और आगे बढ़ा तो दूसरा ठग मिला। उसने कहा—भाई तुमको यह कुत्ता कहाँसे मिल गया, यह तो बड़ा अच्छा है। अब

उठा-उठाकर खाये । उसे तो न चढ़ना, न कुछ करना और तुरन्त खाना । देखो फल भी औरोंको बड़ी देरसे मिलेगा । ५वें को तनिक देरमें मिलेगा, चौथेको और देरमें, तीसरेको उससे अधिक देरमें, और दूसरेको पहले सब शाखायें काटे तब मिलेगा और पहलेको जब वह जड़को काटे, गिराये तब मिलेगा ।

लेश्यामें परिणामोंका तात्पर्य—अच्छा, अब लेश्याके परिणामोंको विचारो जिससे विदित हो कि कौन कितनी खराब लेश्या है, कृष्णलेश्या खोटी है । उसके ऐसे परिणाम थे कि इस पेड़को जड़से काट गिरावें, फिर पके-पके आम खावें । उससे कुछ कम कठोर परिणाम हैं शाखायें काटनेका परिणाम बनाने वालेके । उससे कम कठोर परिणाम हैं एक शाखा काटने का परिणाम बनाने वालेके । यों चौथे, ५वें और छठे मुसाफिरके परिणामोंमें उत्तरोत्तर सरलता आती गई, कठोरता कम होती गई । यों ये ६ प्रकारकी लेश्यायें हैं—कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल । कृष्णलेश्यामें तो बड़ा क्रूर परिणाम होता, बैर नहीं छोड़ता, बैर बांधता, दुःखी होता, बुरे वचन बोलता । उससे कम नीललेश्या है । मगर उसमें भी विषयोंमें प्रवृत्ति करने आदिकके बहुत ऐब होते हैं । कापोत लेश्यामें यह अपनी प्रशंसा सुनकर बड़ा कुप्पा होता । प्रशंसा करके तो किसीसे कितना ही दान करा लो चढ़ाचढ़ीमें । देखा होगा कि पंचकल्याणक वगैराके कामोंमें बोली बोलनेकी प्रथा चल रही है । वहाँ बोलीकी चढ़ा-चढ़ीमें कितने ही दाम बुलवा लो । मगर अपनी युक्तिसे सोचकर कि चलो यहाँ चार पैसेका दान दे दें, ऐसा सोचकर गुप्त किसने दिया ? और उस बोलीकी चढ़ाचढ़ीमें कहो कितने ही कर दें । तो ऐसी लेश्या होती है कापोत लेश्या । अपनी प्रशंसा सुहाये, निन्दा न सुहाये, ये सब बातें कापोत लेश्यामें हैं । पीत लेश्यामें कुछ धर्मकी ओर परिणाम चलते हैं, मंदकषाय होती है । पद्मलेश्यामें तो बहुत उदार परिणाम होते हैं जिसमें तृष्णाका रंग नहीं होता और शुक्ललेश्या में सर्व समभाव होते हैं । ये ६ प्रकारकी लेश्यायें हैं जो कि उस-उस प्रकारके तीव्र मंद अनु-भाग वाले कर्मके उदय होनेसे होती हैं । कर्ममें जरा हल्की शक्तिके कर्मका उदय हो तो अच्छी लेश्या होती । योग और कषायसे इन लेश्याओंकी उत्पत्ति होती है इस कारण औदयिक भाव हैं । लेश्याके अंश १८ तो गतिबंधके हेतु हैं, मध्यम ८ अंश आयुबंधके कारण है इत्यादि विस्तार करणानुयोगसे जानना । आज यह पञ्चाध्यायी ग्रन्थ पूर्ण हो रहा है । आषाढ़ कृष्ण चतुर्दशीको अवसर मिला इसके पूर्ण होनेका । इस औदयिककी शिक्षासे हम क्या ग्रहण करें कि जो भी विपत्ति, कषाय, ममता, तृष्णा आदि हो रहे हैं वे मेरे स्वरूपकी चीज नहीं, कर्मोदयसे हो रहे हैं । सो वे कहीं जावो, मैं तो अपने स्वरूपमें रहूंगा, ऐसी उमंग लायें और अपने स्वरूपमें रहें ।

कुछ थोड़ा शक हुआ सोचा कि क्या यह कुत्ता तो नहीं है। वह और आगे बढ़ा तो तीसरा ठग मिला। उसने कहा—अजी क्यों कुत्ता लिए फिरते हो? अब तो उसे बड़ी भारी शंका हो गई कि हो न हो यह कुत्ता ही न हो, क्योंकि सभी लोग इसे कुत्ता कहते। कुछ और दूर बढ़ा तो चौथा ठग मिला, उसने कहा—वाह-वाह, पंडित जी को देख लो, यह तो कुत्ता लिए फिर रहे। अब उस ब्राह्मणके मनमें यह बात अच्छी तरह बस गई कि यह तो कुत्ता ही है, क्योंकि सभी लोगोंने यही बात कही। आखिर वह उसे वहीं छोड़कर चला गया। बस उन ठगोंने ले लिया उस बकरीको। वे तो चाहते ही थे। अभी यहीं देख लो—कोई नया आदमी आपके यहां आ जाय और आपमें से कोई उससे कह दे कि पंडित जी आप इतने कमजोर क्यों हो गए, तबियत ठीक नहीं रहती क्या? दूसरा कोई कह दे—अरे पंडित जी का चेहरा तो बहुत गिर गया है, मालूम होता है कि इनको कोई मर्ज है। तीसरा कोई इसी तरहसे कुछ कह दे तो वह तो न बीमार हो तो भी बीमार हो जायगा। आखिर एक दृष्टिको ही तो बात है। उसने अपनेको उस रूप अनुभव किया, इसलिए बीमार हो गया। ऐसे ही झूठी नाना कल्पना करके जीवने स्वयं अपनी दुर्दशा की है, यही तो असिद्ध दशा है। तो यहां जो असिद्ध दशा है, वह रत्नत्रयरहित अवस्था है वह अनर्थका स्थान है।

लेश्याः षड्वे विख्याता भावा औदयिकाः स्मृताः।

यस्माद्योगकषायाभ्यां द्वाभ्यामेवोदयोद्भवः ॥११४५॥

औदयिक भावोंमें लेश्याका वर्णन—अब औदयिक भावोंमें अन्तिम भेद है लेश्या। ये ६ प्रकारकी लेश्यायें बहुत विख्यात हैं, ये सब औदयिक हैं क्योंकि ये योग और कषायके उदय से ही होती हैं। कषायोंसे अनुरजित योगप्रवृत्तिको लेश्या कहते हैं और लेश्याका स्वरूप जानते हैं लोग। दृष्टान्त दिया है एक वृक्षका चित्र खींचकर। उसमें बताया है कि कोई ६ मुसाफिर किसी दूसरे गांवको जा रहे थे। उन्हें रास्तेमें लगी तेज भूख। एक बहुत बड़ा आमका वृक्ष पके हुए फलोंसे लदा हुआ दीखा। उनमें से एक मुसाफिरके मनमें आया कि इस आमके पेड़को कुल्हाड़ी द्वारा जड़से ही काट दें, यह गिर जायगा, फिर मनमाने फल खायेंगे। दूसरेने सोचा—अरे जड़से पेड़को गिरानेसे क्या फायदा, ऊपरकी शाखायें काट दें फिर नीचे मनमाने फल खायें। तीसरेने सोचा—अरे शाखायें भी क्या काटना, मात्र एक शाखा तोड़ लें, फिर खावें। चौथेने सोचा—अरे एक शाखाको भी क्या तोड़ना, जिनमें आम लगे हैं वे छोटी पतली टहनियां तोड़ लेंगे, फिर मनमाने फल खायेंगे। ५वें ने सोचा—उन छोटी-छोटी टहनियोंको भी तोड़ने से क्या फायदा, ऊपर चढ़कर आम तोड़ लेंगे, फिर आरामसे बैठकर खायेंगे। छठेने सोचा कि ऊपर चढ़कर आम तोड़नेकी जरूरत क्या, ये बहुतसे आम नीचे जमीनपर पड़े हैं उनको ही खा लेंगे। यों सोचकर सभी मुसाफिर अपना-अपना काम करनेमें जुट गए। तो यह परिणामोंकी बात बतायी है। पहले यह बताओ कि सबसे जल्दी आम कौन खायेगा? वह छठा, जो नीचेसे

ब्रह्मचर्य-विंशतिका

ब्रह्मचर्यं परं दानम्, ब्रह्मचर्यं परं तपः ।

ब्रह्मचर्यं परं ज्ञानम्, ब्रह्मचर्यं परं महः ॥१॥

ब्रह्मचर्यं परं यानम्, ब्रह्मचर्यं परं हितम् ।

ब्रह्मचर्यं परं ध्यानम्, ब्रह्मचर्यं परं सुखम् ॥२॥

ब्रह्मचर्यं परं तेजः, ब्रह्मचर्यं परं बलम् ।

ब्रह्मचर्यं परं श्रेयः, ब्रह्मचर्यं परं फलम् ॥३॥

ब्रह्मचर्यं परं सत्यम्, ब्रह्मचर्यं परो यमः ।

ब्रह्मचर्यं परं तत्त्वम्, ब्रह्मचर्यं परो वृषः ॥४॥

ब्रह्मचर्यं परा क्रान्तिः, ब्रह्मचर्यं परं व्रतम् ।

ब्रह्मचर्यं परा कीर्तिः, ब्रह्मचर्यं परं ऋतम् ॥५॥

ब्रह्मचर्यं परा भक्तिः, ब्रह्मचर्यं परो गुरुः ।

ब्रह्मचर्यं परा शक्तिः, ब्रह्मचर्यं परो गुणः ॥६॥

ब्रह्मचर्यं परं ज्योतिः, ब्रह्मचर्यं परा छविः ।

ब्रह्मचर्यं परं वृत्तम्, ब्रह्मचर्यं परं हविः ॥७॥

ब्रह्मचर्यं परं ब्रह्म, ब्रह्मचर्यं परं श्रुतम् ।

ब्रह्मचर्यं परं धाम, ब्रह्मचर्यं परं श्रितम् ॥८॥

ब्रह्मचर्यं परं रत्नम्, ब्रह्मचर्यं परो लयः ।

ब्रह्मचर्यं परं भद्रम्, ब्रह्मचर्यं परो जयः ॥९॥

ब्रह्मचर्यं परा शान्तिः, ब्रह्मचर्यं परा निधिः ।

ब्रह्मचर्यं परा क्षान्तिः, ब्रह्मचर्यं परा विधिः ॥१०॥

ब्रह्मचर्यं परं मन्त्रम्, ब्रह्मचर्यं परो जयः ।

ब्रह्मचर्यं परं तन्त्रम्, ब्रह्मचर्यं परं वपुः ॥११॥

ब्रह्मचर्यं परा सिद्धिः, ब्रह्मचर्यं परा गतिः ।

ब्रह्मचर्यं परा ऋद्धिः, ब्रह्मचर्यं परा नतिः ॥१२॥

ब्रह्मचर्यं परो योगः, ब्रह्मचर्यं परो दमः ।

ब्रह्मचर्यं परो भोगः, ब्रह्मचर्यं परः शमः ॥१३॥

ब्रह्मचर्यं परं शीलम्, ब्रह्मचर्यं परं क्रतुः ।

ब्रह्मचर्यं परं सत्त्वम्, ब्रह्मचर्यं परं सुहृत् ॥१४॥

ब्रह्मचर्यं परं स्वास्थ्यम्, ब्रह्मचर्यं परं पदम् ।

ब्रह्मचर्यं परं क्षेमम्, ब्रह्मचर्यं परं वरम् ॥१५॥

ब्रह्मचर्यं परं यज्ञम्, ब्रह्मचर्यं परं शिवम् ।

ब्रह्मचर्यं परं दुर्गम्, ब्रह्मचर्यं परं धनम् ॥१६॥

ब्रह्मचर्यं परं सारम्, ब्रह्मचर्यं परा शुचिः ।

ब्रह्मचर्यं परं साम्यम्, ब्रह्मचर्यं परा रुचिः ॥१७॥

ब्रह्मचर्यं परं कृत्यम्, ब्रह्मचर्यं परो रसः ।

ब्रह्मचर्यं परं साध्यम्, ब्रह्मचर्यं परं वचः ॥१८॥

ब्रह्मचर्यं परं स्थानम्, ब्रह्मचर्यं परा धृतिः ।

ब्रह्मचर्यं परं मानम्, ब्रह्मचर्यं परा रतिः ॥१९॥

ब्रह्मचर्यं परं वीर्यम्, ब्रह्मचर्यं परं रहः ।

ब्रह्मचर्यं परं वित्तम्, ब्रह्मचर्यं परं यशः ॥२०॥

आर्या

आचरति ब्रह्मचर्यं मनसा कायेन यो नरः सततम् ।

भजते युगं स्वास्थ्यं सहजानन्दात्मकं पदं नियमात् ॥२१॥

॥ इति श्री ब्रह्मचर्यविंशतिका ॥